१०५ आर्यिका विद्यामति माता जी का सामान्य परिचय

लालगढ़ मारवाड़ में एक समृद्ध नगर है। यहां खंडेलवाल जैनों के अनेक घर हैं यहां ही सेठ नेमिचंद जी बाकलीवाल के एक पुत्री का जन्म विक्रम सं० १९९२ फाल्गुणवदी ११ मंगल वार को हुआ नाम शान्ति बाई रखा गया। बालकपन में ही आपमें यथा नाम तथा गुण थे। आपको शिक्षा हिंदी भाषाकी दी गई जिससे धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण के साथ लौकिक कार्य करती गार्हस्थ जीवन सुविधापूर्वक व्यतीत कर सकें।

आपकी उम्र जब १३ साल की हुई तब माता पिता ने विवाह डेह (राजस्थान) निवासी कुंवरजी मूलचंद जी सेठी को सर्व प्रकार योग्य देखकर उनके साथ कर दिया कु० मूलचंद जी का जन्म वि० सं० १९८८ फागुण वदी ११ शुक्रवार को हुआ था इस तरह १३ साल की कन्या और १८ वर्ष के वर का विवाह विक्रम सं० २००५ में वैशाख की कृष्ण चतुर्थी के दिन कर दिया गया।

परन्तु दैव को बाई शांति का गृहस्थ जीवन में समय बिताना मंजूर न था। अकस्मात् ही कुंवर मूल चंद जी कलकत्ता में गुम हो गये। वह दिन वैशाख सुदी ६ शनिवार विक्रम संवत् २००८ था।

दोनों पक्ष के माता पिता आदि कुटुंबियों ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु मूलचन्दजी का कहीं पर भी पता न लगा। इस तरह विवाह के केवल तीन साल बाद ही पति वियोग का पहाड़ आप पर टूट पड़ा। इसे आपने बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ सहते हुए धर्मध्यान में समय बिताना उचित समझा। तदनुसार आपने अपने धार्मिक ज्ञान बढ़ाने की तरफ मन लगाया।

जब पुण्य का उदय आता है तब दौर्भाग्य भी सौभाग्य में बदल जाता है। आपके पुण्योदय ने आर्यिका माता इन्दुमतीजी तथा सुपार्श्व मति जी आर्यिका का सुयोग मिला दिया।

आपके सदुपदेश से शान्ति बाई का मन चारित्र वृद्धि करने की तरफ उन्मुख हुआ और इनके पास ज्ञान बढ़ाने के लिये संस्कृत व्याकरण काव्य न्याय धर्म शास्त्र के ग्रन्थ पढ़ना प्रारम्भ कर दिया करीब १ एक साल ही आर्यिका माताओं के सहवास में रही होंगी कि-स्त्री पर्याय के उच्च चारित्र आर्यिका के व्रत ग्रहण करने की इच्छा आपके जागृत हुई।

जब अच्छा होना होता है तब निमित्त भी वैसे ही मिलने लगते हैं। आचार्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज के संघका चतुर्मास सुजानगढ़ में इसी समय हुआ। अब संघस्थित महाव्रती मुनिराजों और बाल ब्रह्मचारिणी अल्पवयस्क आर्यिकाओंको साक्षात् देखकर इनका मन आर्यिका बनकर मनुष्य स्त्री पर्याय सफल करने के लिये दृढ़ हो गया।

जब इनने अपने विचार आर्यिका बनने के व्यक्त किये तो श्वसुर पक्ष तथा पितृपक्ष ने इनकी छोटी उम्र, कोमल शरीर देखकर विरोध करना प्रारम्भ किया, दीक्षा देने वाले आचार्य महाराज के पास भी प्रार्थना की कि-अभी इन्हें आर्यिका की दीक्षा न दें।

परन्तु शांति बाई का निश्चय दृढ़ था, किसी भी प्रकार वे गृहस्थी में रहकर जन्म गंवाना न चाहती थीं इसलिये समस्त कुटुम्बियों सम्बंधियों को अपना विरोध वापिस लेना पड़ा। दीक्षा ग्रहण के पहिले जो रीति रस्म विधि विधान होते हैं उनमें सबही नाते रिस्तेदारों तथा नगरनिवासियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया

आपकी दीक्षा का शुभदिन कार्तिक सुदी १२ मंगल वार सं० २०१५ नियत किया गया। इसी शुभ दिन में संघ के दो क्षुल्लक भी महाव्रती मुनि बने।

शांति बाई जिस समय आचार्य महाराज के समक्ष दीक्षा देनेकी प्रार्थना करने खड़ी हुई और जो संसार का स्वरूप वर्णन किया वह बड़ा ही महत्त्वशाली था। इसके बाद आचार्य महाराज ने संघ के साधु साध्वियों, उपस्थित जनों तथा शांति बाई के माता पिता और श्वसुर पक्षके लोगों से अनुमति प्राप्त कर आर्यिका बनने की प्रथम परीक्षा केश लोच करने की आज्ञा दी।

अब शांति बाई ने चारित्र धारण करने में अपना उत्साह दिखलाते हुये अपने कोमल हाथोंसे चिक्कण श्याम लंबे अपने मस्तक के केश उखाड़ने प्रारम्भ किये उस समयकी गंभीर शांत मुख मुद्रा देखते ही बनती थी। उपस्थित जैन अजैन १५-१६ हजार जनता जय जयकार बोलते तृप्त न होती थी। इसके बाद अन्य संस्कार किये गये और नाम विद्यामति रखा गया।

आर्यिका का चारित्र निर्दोष निर्विघ्न पलता रहे इसलिये अनेक वर्षोंकी तपस्विनी आर्यिका इन्दुमति माता जी के ऊपर इनकी संरक्षकता का भार सौंपा गया और तबसे इनकी छत्र छाया में शांतिबाई पूज्य विद्यामति बन कर आत्मकल्याण कर रही हैं और आर्यिका सुपार्श्वमति जी से पढ़कर विदुषी बनने में दत्तचित्त हैं।

अंतराय विजय

दीक्षा के दिन उपवास करने का नियम है इसलिये उसदिन मंगलवार को तो उपवास था ही परन्तु पारणा के दिन अन्तराय आजाने से आहार न हो सका, इस तरह लगातार ६ दिन तक अन्तराय बराबर आते रहे और आप धैर्य शांति के साथ उस अन्तराय को पालती रहीं। लोगों के पूछने पर आपका उत्तर होता था कि—समाधि के लिये ही तो दीक्षा ग्रहण की है, अन्तराय कर्म को आहार में बाधा देनी है तो दे, मैं अपने व्रतनियम से विचलित न होऊंगी।

आखिर सातवें दिन आपका आहार निरन्तराय हुआ तब सब लोगों की चिन्ता दूर हुई।

इस तरह आप दृढतापूर्वक आर्यिका के व्रत पालने की परीक्षा में सफल हुई।

ज्ञान दान और धन्यवाद

शांतिबाई के पिता सेठ नेमिचंदजी बाकलीवाल धार्मिक प्रवृत्ति के उदारचित्त संपन्न गृहस्थ हैं। नेमिचन्द माणिकचन्द एण्ड कं० नामसे आप का व्यापार शिवसागर (आसाम) में है। आपने अपनी पुत्री शांतिबाईकी आर्यिकादीक्षा के समय १०००) एक हजार रुपया का दान देनेकी घोषणा की थी परन्तु उसके बाद आपने उसे बढ़ाकर १५००) पंद्रहसौ रुपया करदिया इसके बाद आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराजके सदुपदेशसे समयसारकलश (परमाध्यात्मतरंगिणी) को संस्कृत और हिंदी टीका सहित प्रकाशित करने का कुल व्यय (१५ सौ से अधिक व्यय हो तो भी) देना स्वीकार किया (यह कुल व्यय उनीस सौ तीस १९३०रु० हैं)

आपकी इसी उदारतासे 'श्रेयोमार्ग' मासिक पत्रके ग्राहकों को यह ग्रन्थ उपहार रूपमें दिया जारहा है अतः धन्यवाद है।

ज्ञानावरणी कर्मका क्षय सम्यग्ज्ञानके दानसे होता है। जिनवाणी से उत्तम अन्य कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है इसलिये आपका अनुकरण प्रत्येक दानीको करना चाहिये।

—ब्रह्मचारी श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ



आचार्य श्रीशान्तिसागरजैनग्रन्थमाला ।

६

श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचित

परमाध्यात्मतरंगिणी ।

(समयसार कलश)

[भट्टारक श्री शुभचन्द्र कृत संस्कृत और पं० जयचन्द्रजी कृत हिंदीटीकासहित]

जिसको

गांधी हरिभाई देवकरण एंड संस शोलापुर द्वारा संरक्षित

श्रीशान्तिसागर (भारतीय) जैनसिद्धातप्रकाशिनी संस्थाके महामंत्री

गृहविरत ब्रह्मचारी श्रीलाल जैन काव्यतीर्थने

सुजानगढ [लालगढ] निवासी सेठ नेमिचन्दजी वाकलीवाल द्वारा

अपनी पुत्री शांति बाईकी

आर्यिका दीक्षा के समय ज्ञानावरणीय कर्मक्षयार्थ

प्रदत्त द्रव्यसे प्रकाशित किया ।

सावन वीर नि० सं० २४८९ जुलाई १९६३ वि० सं० २०२०

मुद्रक–ब्रह्मचारी सेठ हीरालालजी पाटणी निवाई वालोंके मंत्रित्वमें

श्रीशान्तिसागरजैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था के पवित्र प्रेस श्रीमहावीरजी (राजस्थान) में छपा

१०५ आर्यिका विद्यामति माता जी का सामान्य परिचय

लालगढ़ मारवाड मे एक समृद्ध नगर है। यहा खडेलवाल जैनों के अनेक घर हैं यहां ही सेठ नेमिचंद जी वाकलीवाल के एक पुत्री का जन्म विक्रम स० १६६२ फाल्गुणवदी ११ मंगल वार को हुआ नाम शान्ति वाई रखा गया। वालकपन मे ही आपमें यथा नाम तथा गुण थे। आपको शिक्षा हिंदी भाषाकी दी गई जिससे धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण के साथ लौकिक कार्य करती गार्हस्थ जीवन सुविधापूर्वक व्यतीत कर सकें।

आपकी उम्र जब १३ साल की हुई तब माता पिता ने विवाह डेह (राजस्थान) निवासी कुंवरजी मूलचंद जी सेठी को सर्व प्रकार योग्य देखकर उनके साथ कर दिया कु० मूलचंद जी का जन्म वि० सं० १६८८ फागुण वदी ११ शुक्रवार को हुआ था इस तरह १३ साल की कन्या और १८ बर्ष के वर का विवाह विक्रम सं० २००५ के वैसाख की कृष्ण चतुर्थी के दिन कर दिया गया।

परन्तु दैव को वाई शांति का गृहस्थ जीवन में समय बिताना मंजूर न था। अकस्मात् ही कुंवर मूल चंद जी कलकत्ता में गुम हो गये। वह दिन वैशाख सुदी ६ शनिवार विक्रम सवत् २००८ था।

दोनों पक्ष के माता पिता आदि कुटुंबियों ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु मूलचन्दजी का कहीं पर भी पता न लगा। इस तरह विवाह के केवल तीन साल वाद ही पति वियोग का पहाड आप पर टूट पडा। इसे आपने वडी शांति और धैर्य के साथ सहते हुए धर्मध्यान मे समय विताना उचित समझा। तदनुसार आपने अपने धार्मिक ज्ञान बढाने की तरफ मन लगाया।

जब पुण्य का उदय आता है तब दौर्भाग्य भी सौभाग्य मे बदल जाता है। आपके पुण्योदय ने आर्यिका माता इन्दुमतीजी तथा सुपार्श्व मति जी आर्यिका का सुयोग मिला दिया।

आपके सदुपदेश से शांति वाई का मन चारित्र वृद्धि करने की तरफ उन्मुख हुआ और इनके पास ज्ञान बढाने के लिये संस्कृत व्याकरण काव्य न्याय धर्म शास्त्र के ग्रन्थ पढना प्रारम्भ कर दिया करीब १ एक साल ही आर्यिका माताओं के सहवास में रही होगी कि-स्त्री पर्याय के उच्च चारित्र आर्यिका के व्रत ग्रहण करने की इच्छा आपके जागृत हुई।

जब अच्छा होना होता है तब निमित्त भी वैसे ही मिलने लगते हैं। आचार्य श्री १०८ शिवसागर जी महाराज के संघका चतुर्मास सुजानगढ मे इसी समय हुआ। अब संघस्थित महाव्रती मुनिराजों और बाल ब्रह्मचारिणी अल्पवयस्क आर्यिकाओंको साक्षात् देखकर इनका मन आर्यिका बनकर मनुष्य स्त्री पर्याय सफल करने के लिये दृढ हो गया।

जब इनने अपने विचार आर्यिका बनने के व्यक्त किये तो श्वसुर पक्ष तथा पितृपक्ष ने इनकी छोटी उम्र, कोमल शरीर देखकर विरोध करना प्रारम्भ किया, दीक्षा देने वाले आचार्य महाराज के पास भी प्रार्थना की कि-अभी इन्हें आर्यिका की दीक्षा न दें।

परन्तु शांति वाई का निश्चय दृढ था, किसी भी प्रकार वे गृहस्थी में रहकर जन्म गवाना न चाहती थीं इसलिये समस्त कुटुम्बियों सम्बंधियों को अपना विरोध वापिस लेना पड़ा। दीक्षा ग्रहण के पहिले जो रीति रश्म विधि विधान होते हैं उनमें सबही नाते रिस्तेदारों तथा नगरनिवासियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया

आपकी दीक्षा का शुभदिन कार्तिक सुदी १३ मंगल वार सं० २०१७ नियत किया गया। इसी शुभ दिन में संघ के दो क्षुल्लक भी महाव्रती मुनि बने।

शांति बाई जिस समय आचार्य महाराज के समक्ष दीक्षा देनेकी प्रार्थना करने खडी हुई और जो संसार का स्वरूप वर्णन किया वह बडा ही महत्त्वशाली था। इसके बाद आचार्य महाराज ने संघ के साधु साध्वियों, उपस्थित जनों तथा शांति बाई के माता पिता और श्वसुर पक्षके लोगों से अनुमति प्राप्त कर आर्यिका बनने की प्रथम परीक्षा केश लोच करने की आज्ञा दी।

अब शांति बाई ने चारित्र धारण करने में अपना उत्साह दिखलाते हुये अपने कोमल हाथोंसे चिक्कण श्याम लंबे अपने मस्तक के केश उखाडने प्रारम्भ किये उस समयकी गंभीर शांत मुख मुद्रा देखते ही बनती थी। उपस्थित जैन अजैन १५-१६ हजार जनता जय जयकार बोलते तृप्त न होती थी। इसके बाद अन्य संस्कार किये गये और नाम विद्यामति रखा गया।

आर्यिका का चारित्र निर्दोष निर्विघ्न पलता रहे इसलिये अनेक वर्षोंकी तपस्विनी आर्यिका इन्दुमति माता जी के ऊपर इनकी सरक्षकता का भार सौंपा गया और तबसे इनकी छत्र छाया में शांतिबाई पूज्य विद्यामति बन कर आत्मकल्याण कर रही हैं और आर्यिका सुपार्श्वमति जी से पढकर विदुषी बनने में दत्तचित्त हैं।

अंतराय विजय

दीक्षा के दिन उपवास करने का नियम है इसलिये उसदिन ।मंगलवार को तो उपवास था ही परन्तु पारणा के दिन अन्तराय आजाने से आहार न हो सका, इस तरह लगातार ६ दिन तक अन्तराय बराबर आते रहे और आप धैर्य शांति के साथ उस अन्तराय को पालती रहीं। लोगों के पूछने पर आपका उत्तर होता था कि—समाधि के लिये ही तो दीक्षा ग्रहण की है, अन्तराय कर्म को आहार में बाधा देनी है तो दे, मैं अपने व्रतनियम से विचलित न होऊंगी।

आखिर सातवें दिन आपका आहार निरन्तराय हुआ तब सब लोगों की चिन्ता दूर हुई।

इस तरह आप दृढतापूर्वक आर्यिका के व्रत पालने की परीक्षा में सफल हुईं।

ज्ञान दान और धन्यवाद

शांतिबाई के पिता सेठ नेमिचंदजी बाकलीवाल धार्मिक प्रवृत्ति के उदारचित्त संपन्न गृहस्थ हैं। नेमिचन्द माणिकचन्द एण्ड कां० नामसे आप का व्यापार शिवसागर (आसाम) में है। आपने अपनी पुत्री शांतिबाईकी आर्यिकादीक्षा के समय १०००) एक हजार रुपया का दान देनेकी घोषणा की थी परन्तु उसके बाद आपने उसे बढाकर १५००) पंद्रहसौ रुपया करदिया इसके बाद आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराजके सदुपदेशसे समयसारकलश (परमाध्यात्मतरंगिणी) को संस्कृत और हिंदी टीका सहित प्रकाशित करने का कुल व्यय (१५ सौ से अधिक व्यय हो तो भी) देना स्वीकार किया (यह कुल व्यय उनीस सौ तीस १९३०रु० हैं)

आपकी इसी उदारतासे 'श्रेयोमार्ग' मासिक पत्रके ग्राहकों को यह ग्रन्थ उपहार रूपमें दिया जारहा है अतः धन्यवाद है।

ज्ञानावरणी कर्मका क्षय सम्यग्ज्ञानके दानसे होता है। जिनवाणी से उत्तम अन्य कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है इसलिये आपका अनुकरण प्रत्येक दानीको करना चाहिये।

-ब्रह्मचारी श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

प्रस्तावना।

अध्यात्म रहस्यके परिपूर्ण वेत्ता स्वनाम धन्य भगवान कुन्दकुन्द जैन समाजके एक प्रसिद्ध आचार्य होगये हैं। इतना ही नही, वल्कि–

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

इस वचनानुसार गौतम स्वामीके वाद अपनेको मंगलस्वरूप कहलवानेका श्रेय भगवान कुन्दकुन्दको ही है। इनके बनाये हुए पंचास्तिकाय प्रवचनसार आदि आदि अनेक प्राकृत ग्रंथ हैं परन्तु उन सवमें इनके अनुभवका सर्वस्व समयसार प्राभृत ही है। इस ग्रन्थकी यद्यपि कई टीका हैं परन्तु जैसी अनुपम और गाथासूत्रोंका स्पष्ट तात्पर्य वतलानेवाली श्रीमान् अमृतचंद्राचार्य कृत आत्मख्याति टीका है वैसी अन्य नहीं। वल्कि न्यायस्वरूपके वेत्ता भगवान अकलंकके विपयमें जैसी यह किंवदंती है कि 'तदभिप्रायसाकल्यं तु स्याद्वादविद्यापतिर्विवेद' अर्थात् भगवान् अकलंक देवका पूर्ण अभिप्राय स्याद्वादविद्यापति आचार्यप्रवर विद्यानंद प्रभु ही जानते हैं उसीप्रकार भगवान कुन्दकुन्दके ग्रंथों के रहस्यके ज्ञाता आचार्यवर अमृतचंद्र सूरि ही थे यह कहना अत्युक्त नहिं हो सक्ता।

पाठक महोदय! जो अनुपम ग्रंथ आपके कर कमलोंमें विराजमान है वह उन्हीं अमृतचंद्रसूरिकी कृति है। उन्होंने जो आत्मख्याति टीका लिखी है उसीमें गाथा सूत्रोंके भावको इन श्लोकोंसे भी प्रकट किया है जो एक स्वतंत्र ग्रन्थस्वरूपमें परिणत हो गया है। यह ग्रन्थ नाटकसमयसारकलशके नामसे प्रसिद्ध है इसग्रन्थके इस नामके रखनेसे यह जान पडता है कि जिसप्रकार विशाल भी मंदिरकी विना कलशोंके शोभा नहिं होती उसीप्रकार समयसार वा आत्मख्याति टीकाकी शोभा भी इस ग्रन्थके विना नहिं हो सक्ती अर्थात् समयसार भी पढिये परन्तु जब तक इस ग्रन्थको–आत्मख्याति टीकामें दिये हुये इन श्लोकोंको नहिं पढा जाता तब तक पूर्णरूपसे आत्मा आत्मिक अनुपम आनन्दका अनुभव नहिं करसक्ता। इस ग्रन्थका संस्कृत टीकानुसार परमाध्यात्मतरंगिणी नाम भी है जोकि विषयानुकूल है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरिके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तत्त्वार्थसार आदि स्वतंत्र भी अनुपम ग्रन्थ हैं जो इनकी लोकोत्तर विद्वत्ताका भान कराते हैं। इन्होंने किसी ग्रन्थमें अपना परिचय नहिं दिया, न गुरु आदिका नाम लिखा इसलिये ये अमुकके शिष्य, अमुकके गुरु, अमुक देश वा पत्तनके निवासी

अमुक कालमें हुये इसबातका उल्लेख करनेके लिये हम सर्वथा असमर्थ हैं तथापि इनका काल दशमी शताब्दी अनुमानसे माना जाता है परन्तु उसमें भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं।

इस ग्रन्थकी संस्कृत टीका भी इसीके साथ प्रकाशित है जो कि मूलको भलेप्रकार लगाती है। इसके कर्ता भट्टारक शुभचन्द्र हैं जो १५ वीं शताब्दीमें हो गये हैं यद्यपि यह ग्रन्थ दो संस्कृतटीकाओंसे युक्त संस्कृत समयसारके साथ और भाषाटीका युक्त समयसारके साथ सब भाषाटीकाके निकल चुका है इसलिये इसके प्रकाशित करनेकी आवश्यकता न थी तथापि स्वतंत्र न प्रकाशितकर साथमें प्रकाशित होनेसे और विना संस्कृतटीकाके जैसा इस ग्रन्थका महत्त्व है वैसा लोगोंको जल्दी ज्ञात नहिं हो सक्ता इसलिये इसका जुदा प्रकाशित करना उचित समझा गया।

संस्कृत टीकाकी दूसरी प्रतिके बहुत प्रयत्न करनेपर भी न मिलनेसे लाचार हो एक ही प्रतिके आधारसे इसकी संस्कृत टीका प्रकाशित करनीं पडी इसलिये जहांपर स्खलना हो गई हो पाठक उसे शोधनेकी कृपा करैं। विना संस्कृत टीकाके लोगोंपर महत्त्व नहिं प्रकट हो सक्ता था दूसरे एकप्रकारसे भाषाटीका सहित यह ग्रन्थ भाषाटीकासहित समयसारमें निकल भी चुका था इसलिये संस्कृतटीकाकेलिये हमारा इतने दिनोंतक प्रयत्न करना उचित ही था इस ग्रंथकी कविताके सौंदर्यके बारेमें लिखना व्यर्थ है। पाठक इसका आस्वादनकर स्वयं अनुभव करलेंगे तथापि हम इतना जरूर लिख देते हैं कि जिसप्रकार वीर शृंगार आदिकी कवितामें मनुष्यका उसीकी ओर ध्यान खिंच जाता है, उसीप्रकार इस अध्यात्मरसकी भी कविताके पढते समय चित्त इसीमें लीन हो जाता है बडा मिठास मालूम पडता है, आरंभकर फिर जल्दी छोडनेको जी नहिं चाहता।

निवेदन—

हमें भाषा और संस्कृतटीकामें कहींपर अर्थमें विलक्षणता मालूम हुई थी इसलिये उसे विशेषमें लिखदिया है कहींपर भावमें भी कठिनता जान पडी थी वह भी विशेषमें खुलासा करदिया है यदि कहींपर त्रुटि किंवा भूल हुई हो तो पाठक क्षमा करैं।

कलकत्ता — निवेदक

ईस्वीसन् १९१७ — गजाधरलाल न्यायतीर्थ

परमाध्यात्मतरंगिणी के श्लोकों की अकारादि क्रम सूची

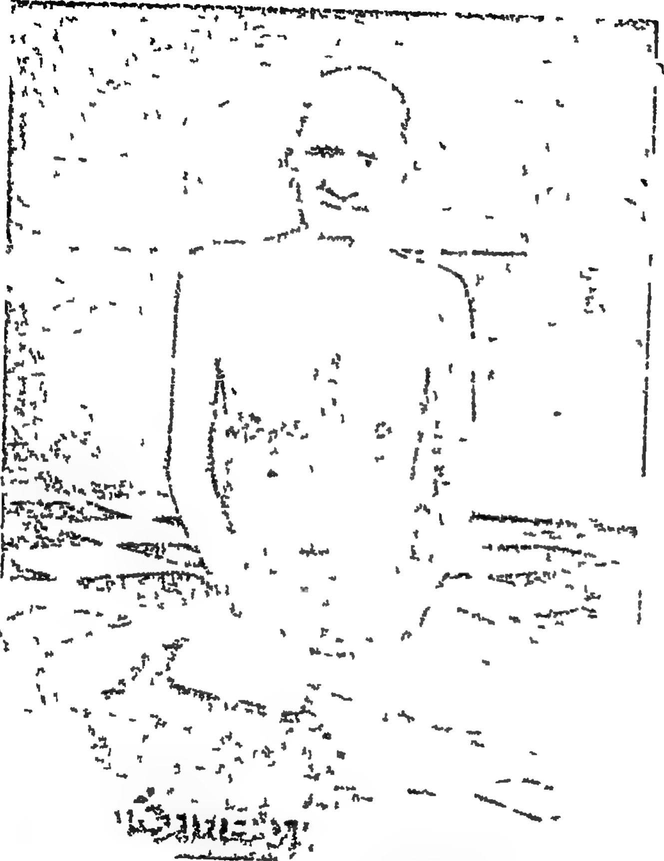
परमाध्यात्मतरंगिणी की विषय सूची

श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था का परिचय।

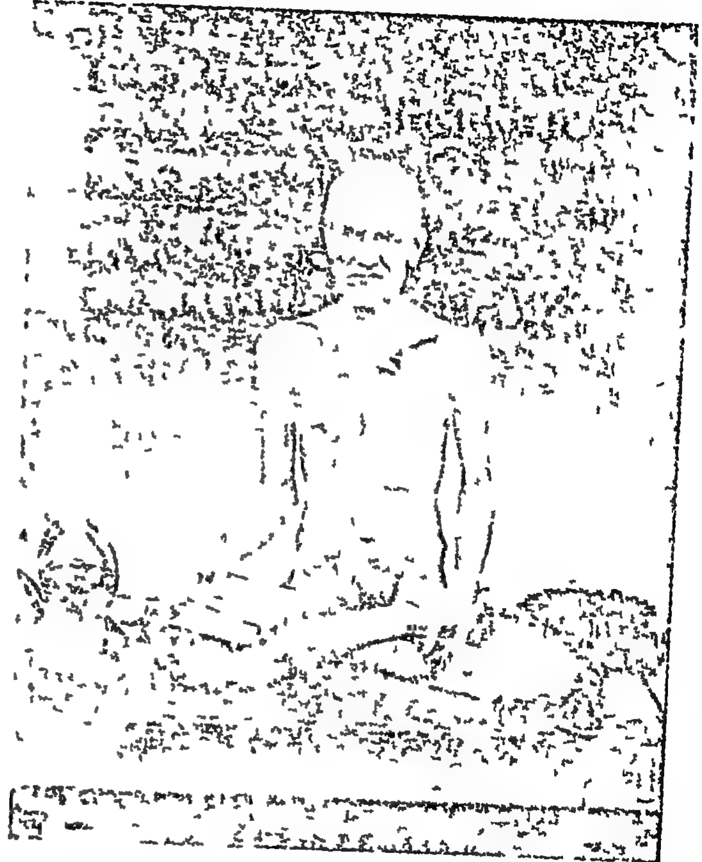
यह सस्था वाराणसो (काशी) मे स्वर्गीय पडित पन्नालाल जी सुजानगढ निवासी ने ईस्वी सन् १६१२ में (आजसे ५० पचास साल पहले) सर्व साधारण में दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार करने के लिये स्थापित की थी। उस समय इसका नाम' श्री जैनधर्मप्रचारिणी सभा था। इसके कुछ मास वाद ही उस्मानावाद (धाराशिव) वासी शेठ वकील नेमचन्दजी वालचन्दजी का तीर्थ यात्रा करने के लिये आगमन हुआ, वाकलीवालजी ने संस्कृत प्राकृत के प्राचीन दिगम्बर जैन शास्त्रोंको मुद्रित कर प्रकाश में लानेकी आवश्यकता उनको बतलाई तब वकील साहवने अपने पिता बालचन्द कस्तूरचन्दकी स्मृति चिरस्थायी करने के लिये दो हजार एक २००१) रु० की सहायता दो। अब सभाका नाम, भारतीयजैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कर दिया गया और सर्व प्रथम समयसारप्राभृत जैनेंद्र प्रक्रिया तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि संस्कृत प्राकृत भाषाके मूलग्रन्थ प्रकाशित किये गये।

इसके वाद सन् १६१५ मे संस्था कलकत्ता आगई और शोलापुर वासी शेठ गांधी हरी भाई देवकरण एण्ड सन्स्के 'मालिक शेठ वालचन्दजी हीराचन्दजी फूलचन्दजी ने अपनी पूज्य माताजीकी स्मृत्यर्थ १३००१) तेरह हजार एक रु० प्रदान किये। आपकी इस सहायता से हरिवंशपुराण (नवीन अनुवाद) अर्थप्रकाशिका महाग्रन्थ श्री गोम्मटसार जी दो सस्कृत टीका और हिंदीवचनिका सहित तथा तत्त्वार्थ राजवार्तिकालकार भाषा टीका सहित प्रकाशित किये गये।

इसके वाद संस्थाका स्थान कलकत्ता से सन् १६५६ में श्रीमहावीरजी (राजस्थान) परिवर्तित हुआ और नाम श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था होगया। अव इसका निजी भवन है और सतत जैन शास्त्रोंका अपने प्रेसमे प्रकाशन कर रही है।



स्व० श्री दिगम्बर जैनाचार्य
श्री वीरसारजी महाराज



स्व० आचार्यकल्प
श्री चन्द्रसागरजी महाराज

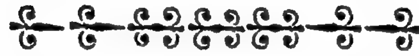


श्री वीतरागाय नमः

श्रीमद्-अमृतचंद्रसूरिविरचित

परमाध्यात्मतरंगिणी

(समयसारकलश)



शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्यांबुजचंद्रममृतमकलंकं । ज्ञानाभूपं वंदे सर्वविभावस्वभावसंमुक्तं ॥१॥
सुधाचंद्रमुनेर्वाक्यपद्यान्युद्धृत्य रम्याणि । विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च ।२।

अथ श्रीमदमृतचंद्रसूरि. श्रीकुंदकुंदाचार्योक्तसमयसारप्राभृत-व्याख्यान कुर्वाणः संस्तदंतरे चित्स्वरूपप्रकाशकानि-चिन्नाटकरगावनि—विनीर्णानि पद्यानि परमाध्यात्मतरगिण्यपरनामधेयानि रचयन् प्रथमतः परमात्मादिनमस्कृतिरूपमगलमाचष्टे—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

समयसाराय भावाय नमः सं० सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया अयंति-गच्छंति प्राप्नुवंति स्वगुणपर्यायानिति समयाः-पदार्थाः, तेषां मध्ये सार. सरति-गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः-परमात्मा, तस्मै । भूयते सत्स्वरूपेणेति भावः-पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय, नमः-त्रिशुद्धया नमस्कारोऽस्तु । किं लक्षणाय ? चकासते-देदीप्यमानाय । कया ? स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मन., अनुभूतिः-अनुभवन तया, स्वानुभवप्रत्यक्षेण चकासते पुनः किंभूताय ? चित्स्वभावाय-चित् ज्ञानदर्शनरूपा सैव स्वभावः स्वरूप यस्य तस्मै । पुन' किंलक्षणाय ? सर्वभावांतरच्छिदे-आत्मनो भावात् अन्ये भावाः-स्वभावा. पदार्था वा भावांतराः, सर्वे च ते भावांतराश्च, सर्वभावांतरा., तान् छिनत्ति स्वस्वभावात् पृथक्करोतीति सर्वभावांतरच्छित् तस्मै । सामान्यपक्षोय ।

जिनपक्षे—समयसाराय सं—सम्यक् यथोक्तरूपेण, अयंति जानंति स्याद्वादात्मक वस्तु निश्चिन्वंति, ते समयाः सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकपायपर्यंता जीवा' तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै नम. । स्वानुभूत्या-स्वस्यानुभूतिः विभूति' समवसरणादिलक्षणा तया चकासते-प्रकाशमानाय, चित्स्वभावाय-घातिकर्मक्षयात्साक्षात् चित्स्वभावाय, भावाय-भानि-नक्षत्राणि, उपलक्षणात् चतुर्निकायदेवतानि अवति-रक्षति-पातीति भावस्तस्मै । सर्वभावानां, अंतरं भेदं-'जीवाजीवादिकं भिन्नमित्यादिरूप विचार' छिनत्ति-परिछिनत्ति जानातीति सर्वभावांतरच्छित् तस्मै ।

सिद्धपक्षे–परमात्मवत्प्रक्रिया । सम–साम्यं याति प्राप्नुवंतीति समया योगिनस्तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी । स्वानुभूत्या सु सुष्ठु (ठा) जगत्त्रयासभाविनी, आ–अतिशयेनानुभूतिर्वृद्धिः–अगुरुलघ्वादिगुणानां षट्वृद्धि', तया । भूधातुर्वृद्ध्यर्थे वर्तते, तथा चोक्तं-

सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः । अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥ इति । चकासते । चित्स्वभावाय, पूर्ववत् । भावाय-भाःदीप्तिः-ज्ञानज्योति , तया वाति प्राप्नोति जगदिति भावः–सकलस्य जगतः ज्ञानांतर्गतत्वात्, वा गतिगंधनयोः, ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः, 'आतोऽनुपसर्गात्क' इति कप्रत्ययेन सिद्धं । सर्वेत्यादि–सर्वभावानामंतः–अभ्यंतरं तेषां अच्छिन्न–अविच्छेदोऽविनाशो यस्मात्स तथोक्तस्तस्मै, सिद्धपरमेष्ठिनः केषांचित् पदार्थाना विनाशाभवात् ।

आचार्यपक्षे–स–सम्यक्, अयनं–गमनं यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं येषां ते समया योगिनस्तेषु सारः–आचार्यः, तस्मै । स्वानुभूत्या षट्त्रिंशद् गुणलक्षणया * चकासते–प्रकाशमानाय । चित्स्वभावायभावाय–चित्सु चिद्रूपेषु, स्वस्य आत्मनः भावः परिणतिः स एव अयभावः शुभावहभावो यस्य स यथोक्तस्तस्मै । सर्वभावेत्यादि पूर्ववत् ।

उपाध्यायपक्षे–समयः–सिद्धांत–स्त्रियते, प्राप्यते येन स तथोक्तस्तस्मै स्वानुभूत्येति पूर्ववत् । चित्स्वभावायभावाय–चित्सु चेतनेषु पदार्थेषु, उपलक्षणादचेतनेऽपि अभावः स्यान्नास्तित्वं तेन सह आयः भणन कथनमिति यावत्–इङ् अध्ययनेऽस्य धातोर्भावे घञ् प्रत्ययविधानात्, भावस्य स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै पदार्थेष्वस्तित्वं नास्तित्वेनोपलक्षितमिति कथकायेत्यर्थः ।

साधुपक्षे–समयेषु कालावलिषु सारः साधुः शेषं पूर्ववत् । सयो–गति', सय गतावस्य धातो' प्रयोग', तेषु सारं–रत्नत्रयं, तेन सह वर्तत इति समयसार. साधुरित्यर्थो वा ।

रत्नत्रयपक्षे सं सम्यक्त्वं, अयो ज्ञानं, सरण सारः चरित्रं, द्वंद्वैकत्वं, तस्मै. शेषं पूर्ववद्यथासंभवं व्याख्येयं । एवमर्थाष्टकं व्याख्यातं अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तरभयान्नेक्षितं पद्यं । अथ सरस्वतीमभिष्टौति—

स्वर्गीय—पं० जयचन्द्रजीकृत हिंदीवचनिका ।

अर्थ—समय कहिये जीव नाम पदार्थ, तामैं सार जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा ताकै अर्थि मेरा नमः नमस्कार होऊ । कैसा है ? 'भावाय' कहिये शुद्धसत्तारूप वस्तु है । इस विशेषणकरि सर्वथा अभाववादी जो नास्तिक ताका परिहार है । बहुरि कैसा है ? 'चित्स्वभावाय' कहिये चेतनागुणरूप है स्वभाव जाका । इस विशेषणकरि गुणगुणीकै सर्वथा भेद माननेवाला जो नैयायिक, ताका निषेध है । बहुरि कैसा है ? 'स्वानुभूत्या चकासते' कहिये अपनी ही अनुभवरूप क्रिया, ताकरि प्रकाश करता है–आपकूं आपहीकरि जानेहै, प्रगट करे है । इस विशेषणकरि आत्माकूं तथा ज्ञानकूं सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जे जैमिनीय भट्ट प्रभाकर मतके मीमांसक तिनिका व्यवच्छेद है । तथा ज्ञान अन्यज्ञानकरि जान्या जाय है आप

१ पचंदीसंवरणो नवविहबंभचेरगुत्तिधरो । चउविह कसायमुक्को ए अट्ठारस गुणसंजुओ ॥ १ ॥ पंच–महव्वयजुत्तो पचविहायारपालणसमत्थो । पंच समिओतिगुत्तो छत्तीसगुणो अ हवइ सूरी ॥ २ ॥

आपकूं जानैं नाहीं ऐसैं मानते जे नैयायिक तिनिका प्रतिषेध है। बहुरि कैसा है ? 'सर्वभावान्तरच्छिदे' कहिये सब जीव अजीव जे आपतैं अन्य चराचर पदार्थ तिनिकूं सर्वक्षेत्रकालसंबंधी सर्वविशेषणनिकरि सहित एककाल जाननेवाला है। इस विशेषणकरि सर्वज्ञका अभाव माननेवाले जे मीमांसक आदि तिनिका निराकरण है॥ ऐसे विशेषणनिकरि अपना इष्ट देव सिद्ध करि नमस्कार किया है॥१॥

भावार्थ—इहां मंगलके अर्थि शुद्ध आत्माकूं नमस्कार किया है, सो कोई पूछै है—इष्टदेवका नाम ले नमस्कार क्यों नहीं किया ? ताका समाधान—जो यह अध्यात्मग्रन्थ है, तातैं जो इष्टदेव का सामान्यस्वरूप सर्वकर्मरहित सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्माही है। सो समयसार कहनेमें इष्टदेव आगया, एक ही नाम लेनेमैं अन्यवादी मतपक्षका विवाद करे हैं, तिनि सर्वका निराकरण विशेषणनितैं जनाया। अन्यवादी अपने इष्टदेवका नाम लेहैं, ताका तो अर्थ बाधासहित है। बहुरि स्याद्वादी जैनीनिकै सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा इष्ट है, ताके नाम कथंचित् सर्व ही सत्यार्थ संभवे है। इष्टदेवकूं परमात्मा भी कहिये, परमज्योति कहिये, परमेश्वर कहिये, शिव कहिये, निरंजन कहिये, निष्कलंक कहिये, अक्षय कहिये, अव्यय कहिये, शुद्ध कहिये, बुद्ध कहिये, अविनाशी कहिये, अनुपम कहिये, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान्, समयसार इत्यादि हजारां नामकरि कहिये। किछू विरोध नाहीं। सर्वथा एकांतवादीनिकै भिन्न नाममैं विरोध है, अर्थ यथार्थ समझना ऐसैं जानना॥ दोहा—प्रगटै निज अनुभव करैं, सत्ता चेतनरूप। सबग्याता लखिकै नमो, समयसार सिवभूप॥ १॥ आगै सरस्वतीकूं नमस्कार करे है—

विशेष—यद्यपि ग्रन्थकारने यहां किसी विशेष इष्टदेवका उल्लेख न कर सामान्यरूपसे समयसार-परमात्माका उल्लेख किया है तथापि अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयको भी इस श्लोकसे नमस्कार हो जाता है जैसे अर्हंत परमेष्ठीके पक्षमें—'सम' वास्तविक रीतिसे (अय) पदार्थोंको जाननेवाले जो सातिशय सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंतके जीव उनमें 'सार' मुख्य, समवसरणादि लक्ष्मीसे प्रकाशमान,घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे साक्षात् ज्ञान दर्शनरूप चेतनाके धारक, 'भाव' चारो प्रकारके देवोंके रक्षक और समस्त पदार्थोंके भेदाभेदको जाननेवाले अर्हंत परमेष्ठीको नमस्कार है। सिद्धपरमेष्ठी के पक्षमें,जो सिद्ध परमेष्ठी अगुरुलघु आदि निजगुणोंकी वृद्धिके धारक हैं। चैतन्य स्वभावसे भूषित हैं,जिनके ज्ञानमें तीनोंलोक प्रतिफलित हैं-झलकते हैं और जिनके किसी भी ज्ञान आदि पदार्थका कभी नाश नहिं होता ऐसे समताको धारण करनेवाले-समय-योगियोंमें मुख्य सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार है। आचार्यके पक्षमे-जो आचार्य पांचों इन्द्रियोंका दमन करना,

नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना, चारो कषायोंका जीतना आदि छत्तीस गुणोंके धारक है, सम्यग्ज्ञान अर्हंत सिद्ध आदि चेतन शुभ पदार्थोंमे अपनी परिणति लगानेवाले हैं और जीव अजीव आदि समस्त पदार्थोंका भेद समझते हैं ऐसे सम्यक्चारित्रको भलेप्रकार पालन करनेवाले योगियोंमें मुख्य श्रीआचार्य परमेष्ठीको नमस्कार है। उपाध्यायपरमेष्ठीके पक्षमें—जो उपाध्याय परमेष्ठी स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रकाशमान है, चेतन अचेतन दोनों पदार्थोंमें स्यादस्तित्व स्यान्नास्तित्व आदि सप्तभंगीका स्वरूप बतलानेवाले हैं और भिन्न भिन्न रूपसे जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञाता हैं ऐसे सिद्धांतको प्राप्त होनेवाले—सिद्धांतका अध्ययन करने करानेवाले उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार है। साधुके पक्षमें—जो साधु, स्वानुभवप्रत्यक्षसे प्रकाशमान, चैतन्यस्वभावके धारक, सत्स्वरूप और जीव अजीव आदि पदार्थोंका भेद जाननेवाले हैं ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयसे भूषित साधु परमेष्ठीको नमस्कार है। रत्नत्रयके पक्षमें-स्वस्वरूपसे प्रकाशमान चैतन्य और सत्स्वरूप, जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान श्रद्धान आदि करानेवाले सं-सम्यक्त्व, अय-सम्यग्ज्ञान, सार-सरण-सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयकेलिये नमस्कार है। इसप्रकार इस श्लोकके आठ अर्थ किये गये है ॥ १ ॥

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशतां ॥ २ ॥

सं० टी०—अनेकातमयी मूर्ति-अनेकातेन स्याद्वादेन निर्वृत्ता स्याद्वादात्मिका मूर्तिर्यस्याः सा अनेकांतमयी मूर्तिः-जिनवाणी, जिनवाण्या अनेकातात्मकत्वादनुक्तापि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते। नित्यं-सदैव, त्रिकाल प्रकाशता-नित्योद्योतं कुरुतां। किंविशिष्टा सा? प्रत्यगात्मनः—परमात्मनः—अथवा आत्मनः-चिद्रूपस्य, प्रत्यक् तत्त्वं पश्यती—भिन्नं तत्त्वं—स्वरूपं अवलोकयती—प्रकाशयतीत्यर्थः। किंविशिष्टस्य तस्य? अनतधर्मण—अनंता द्विकवारानतप्रमाणा अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानेकत्वादिरूपा धर्माः—स्वभावा यस्य स तथोक्तस्तस्य। धर्मशब्दोत्र स्वभाववाची, "धर्मा. पुण्यसमन्यायस्वभावाचारसोमपाः" इत्यनेकार्थः। अथ स्वचित्तविशुद्ध्यर्थं प्रार्थयति—

अर्थ—अनेक है अंत कहिये धर्म जामैं ऐसा जो ज्ञान तथा वचन तिसमयी मूर्ति है सो नित्य कहिये सदा ही प्रकाशतां कहिये प्रकाशरूप होऊ। कैसी है? अनंत हैं धर्म जामैं ऐसा अर प्रत्यक् कहिये परद्रव्यनितैं तथा परद्रव्यके गुणपर्यायनितैं भिन्न अर परद्रव्यके निमित्ततैं भये अपने विकारनितैं कथंचित् भिन्न एकाकार जो आत्मा ताका तत्त्व कहिये असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यनितैं विलक्षण निजस्वरूप ताहि पश्यंती कहिये अवलोकन करती है ॥

भावार्थ—इहां सरस्वतीकी मूर्तिकूं आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है, सो लौकिकमैं सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है, परन्तु यथार्थ नाहीं, तातैं ताका यथार्थ वर्णन किया है ॥ जो यह सम्यग्ज्ञान है सो सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है, इहां संपूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है, जामैं सर्व

पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासे हैं, सोही अनंतधर्मनिसहित आत्मतत्त्वकूं प्रत्यक्ष देखे है। बहुरि ताही का अनुसारी श्रुतज्ञान है सो परोक्ष देखे है, तातैं यह भी ताहीकी मूर्ति है। बहुरि द्रव्यश्रुत वचनरूप है, सो यह भी ताही की मूर्ति है, जातैं वचनद्वारकरि अनंतधर्मा आत्माकूं गह जनावे है। ऐसैं सर्वपदार्थनिके तत्त्वकूं जनावती ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है,याहीतें सरस्वतीका नाम वाणी,भारती,शारदा,वाग्देवी इत्यादि अनेक कहिये है। अनंतधर्मनिकूं स्यात्पदतैं एक धर्मीविषैं अविरोधरूप साधे है,तातैं सत्यार्थ है। अन्यवादी केई सरस्वती की मूर्ति अन्यथा थापे हैं, सो पदार्थकूं सत्यार्थ कहनहारी नाहीं॥ इहां कोई पूछै आत्माका अनंतधर्मा विशेषण किया, सो ते अनंतधर्म कौन कौन हैं? तहां कहिये-जो वस्तुमैं सत्पणा, वस्तुपणा, प्रमेयपणा, प्रदेशपणा,चेतनपणा,अचेतनपणा,मूर्तिकपणा अमूर्तिक पणा इत्यादिक तौ गुण हैं। बहुरि तिनि गुणनिका परिणमनरूप पर्याय तीनकालसंबंधी समयसमयवर्ती अनंत हैं॥ बहुरि एकपणा,अनेकपणा,नित्यपणा,अनित्यपणा भेदपणा,अभेदपणा,शुद्धपणा,अशुद्धपणा आदि अनेक धर्म हैं, ते सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं,अर विशेष वचनतैं अगोचर हैं, ते अनंत हैं ज्ञान गम्य हैं। ऐसैं आत्मा भी वस्तु है, तामैं भी अपने अनंतधर्म है। तिनिमैं चेतनपना असाधारण है, अन्य अचेतनद्रव्यमे नाहीं। अर सजातीय जीवद्रव्य अनंत हैं, तिनिमैं है तोऊ अपना अपना जुदा जुदा निजस्वरूपकरि कह्या है। जातैं द्रव्य द्रव्यनिके प्रदेश भेद है, तातैं काहूका काहूंमें मिलता नाहीं। सो यह चेतनपणा अपने अनंतधर्मनिमैं व्यापक है, तातैं याहीकूं आत्मा का तत्त्व कह्या है, ताकूं यह सरस्वतीकी मूर्ति देखे है, अर दिखावे हैं, तातैं याकूं आशीर्वादरूप वचन कह्या है जो, सदा प्रकाशरूप रहौ, यातैं सर्वप्राणीका कल्याण होय है ऐसैं जानना॥२॥

आगैं टीकाकार इस ग्रन्थका व्याख्यान करनेका फलकूं चाहता संता प्रतिज्ञा करे है-

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥

स० टी०—मम-मे,भवतु-अस्तु। का? परमविशुद्धिः-परमा उत्कृष्टा-कर्ममलकलकरहिता, सा चासौ विशुद्धिश्च-विशुद्धता, कुत.? अनुभूतेः-अनुभवात्, कया? समयसारव्याख्ययैव-समयेपु-पदार्थेषु सारः-परमात्मा, तस्य व्याख्या-विशेषेण वर्णन, एव-निश्चयेन, परमात्मव्यावर्णनात्, अनुभूतिः, ततो विशुद्धिर्भवतु। अथवा-समयसाराख्यमिदं शास्त्र तद्व्याख्यया कृत्वा अनुभूति. ततः शुद्धिश्च। कस्याः? शुद्धेत्यादि शुद्धं कर्मकलकरहितं, चिन्मात्र-ज्ञानमात्र तदेव मूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः, व्यवहारदशाया तु किंलक्षणा? अविरत-निरतर, अनुभेत्यादि-संसारिणा, अनुभवितुं योग्याः-अनुभाव्याः-विषयाः, तेषा व्याप्तिः प्राचुर्यं तया कल्मापिता-कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः, कुतः? अनुभावात्-प्रभावात्, कस्य? मोहनाम्नः शत्रोरित्याध्याहार्यं, किंलक्षणस्य तस्य? परेत्यादि-परेभ्यः पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः, उत्पन्ना परिणतिः परिणामः। अथवा परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारण यस्य स तथोक्तस्तस्य॥ ३॥ अथ जिनवचसः समयसारस्य प्राप्तिं द्रढयति—

याका अर्थ-श्रीमान अमृतचंद आचार्य कहे है, जो इस समयसार कहिये शुद्धात्मा तथा यह ग्रन्थ, ताकी व्याख्या कहिये कथनी तथा टीका, ताहीकरि मेरी अनुभूति कहिये अनुभवन-क्रियारूपपरिणति, ताकै परमविशुद्धि कहिये समस्त रागादिविभावपरिणतिरहित उत्कृष्ट निर्मलता होऊ। कैसी है यह मेरी परिणति? परपरिणतिकूं कारण जो मोहनामा कर्म, ताका अनुभावकहिये उदयरूपविपाक, तातैं अनुभाव्य कहिये रागादिक परिणाम तिनकी जो व्याप्ति ताकरि निरन्तर कल्माषित कहिये मैली है। बहुरि मैं कैसा हूं? द्रव्यदृष्टिकरि शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूं॥ भावार्थ-आचार्य कहै है-जो शुद्धद्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिकरि तो मैं शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूं। परन्तु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयके निमित्त करि मलिन है रागादिरूप होय रही है। सो इस शुद्ध आत्माकी कथनीरूप यह जो समयसार ग्रन्थ, ताकी टीका करनेका फल यह चाहूंहूं, जो मेरी परिणति रागादिकतैं रहित होयकरि शुद्ध होऊ, मेरै शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होऊ, अन्य किछु ख्याति, लाभ, पूजादिक नाहीं चाहुं हों। ऐसे आचार्यने टीका करनेकी प्रतिज्ञा गर्भित याका फलकी प्रार्थना करी है ॥ ३ ॥

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

सं० टी०—ते पुरुषाः, सपदि-तत्कालं, एव-निश्चयेन, ईक्षते-अवलोकयंति, साक्षात्कुर्वंतीत्यर्थः। किं तत्? परंज्योतिः-परं उत्कृष्टं-अतिक्रांतसूर्यादि, तच्च तज्ज्योतिश्च-ज्ञानतेजः-परंब्रह्मेत्यर्थः। किंलक्षणं तत्? समयसारं-सर्वपदार्थेषु सारं, पुनः किंभूतं? उच्चैः-अतिशयेन, अनवं-न नवं अकृत्रिमं पुराणमित्यर्थः, अनादिनिधनत्वात्। पुनः किंभूतं? अनयपक्षाक्षुण्णं-नयो नैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततो विपरीतः-एकांतरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशो येषां तेऽनयपक्षाः, एकांतवादिनः, तैरक्षुण्णं-अक्षुभितं अध्वस्तमित्यर्थः 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते' इति वचनात्। ते के? ये स्वयं-स्वत एव वांतमोहाः सन्तः-वांतो वमितो मोहो रागद्वेषरूपो यैस्तथोक्ताः, रमंते-क्रीडंति एकत्वं भजंत इत्यर्थः। क्व? जिनवचसि-जिनोक्तसिद्धांतसूत्रे, किंलक्षणे तस्मिन्? उभयेत्यादि-उभये नया द्रव्यपर्यायार्थिकाः-अस्तित्वनास्तित्वं, एकत्वानेकत्वं, नित्यत्वानित्यत्वमित्येवमादयः, ? तेषां विरोधः-परस्परं विरोधित्वं, यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः, यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्वस्य विरोधः इत्याद्येकांतवादिना विरोधः, तं ध्वंसते इत्येवंशीलं तस्मिन् तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां-'विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां' पुनः किंभूते? स्यात्पदांके-कथंचित्पदेन लक्षिते, जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात्। तथा चोक्तं सोमदेवसूरिणा-स्याच्छब्दमंतरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधिवसतीति'।

अर्थ-निश्चय व्यवहाररूप जे दोय नय तिनिके विषयके भेदतैं परस्पर विरोध है, तिस विरोधका दूर करनहारा स्यात्पदकरि चिन्हित जो जिनभगवानका वचन तिसविषैं जे पुरुष रमै है-प्रचुरप्रीतिसहित अभ्यास करै हैं ते स्वयं कहिये स्वयमेव विनाकारण आपै आप वम्या

है मोह कहिये मिथ्यात्वकर्मका उदय जिनिनैं ते पुरुष इस समयसार जो शुद्ध आत्मा अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान ताहि शीघ्र ही अवलोकन करे हैं। कैसा है समयसार ? अनव कहिये नवीन उपज्या नाहीं है, कर्मतैं आच्छादित था सो प्रगट व्यक्तिरूप भया है। बहुरि कैसा है ? अनय जो सर्वथा एकांतरूप कुनय ताकी पक्ष ताकरि अक्षुण्ण कहिये खंड्या न जाय है॥

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप है। सो जहां दोय नयकै विषय का विरोध है,जैसैं—सद्रूप होय सो असद्रूप न होय, एक होय सो अनेक न होय, नित्य होय सो अनित्य न होय, भेदरूप होय सो अभेदरूप न होय, शुद्ध होय सो अशुद्ध न होय इत्यादि नयनिके विषयनिविषैं विरोध है। तहां जिनवचन कथंचित् विवक्षातैं सत् असद्रूप, एक अनेकरूप, नित्य अनित्यरूप, भेद अभेदरूप शुद्ध अशुद्धरूप जैसे विद्यमान वस्तु है तैसे कहिकरि विरोध मेटे है, झूठी कल्पना नाही करे है। तातैं द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोय नयमैं प्रयोजनके वशतैं शुद्ध द्रव्यार्थिककूं मुख्यकरि निश्चय कहे हैं। अर अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिककूं गौणकरि व्यवहार कहे हैं। ऐसे जिनवचनविषैं जे पुरुष रमे है ते इस शुद्ध आत्माकूं यथार्थ पावे है। अन्य सर्वथा एकांती सांख्यादिक नाहीं पावे हैं। जातैं सर्वथा एकांतपक्षका वस्तु विषय नाहीं। एक धर्ममात्रहीकूं ग्रहणकरि वस्तुकी असत्यकल्पना करे है सो असत्यार्थही है, बाधासहितमिथ्यादृष्टि है ऐसे जानना ॥ ४ ॥ आगैं आचार्य शुद्धनयकूं प्रधानकरि निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहे हैं जातैं अशुद्धनय जो व्यवहारनय ताकी प्रधानतामैं जीवादितत्त्वनिका श्रद्धानकूं सम्यक्त्व कह्या है। तिनही जीवादिककूं भूतार्थ जो शुद्धनय तिसकरि जानैं सम्यक्त्व होय है ऐसे कहे है॥ तहां टीकाकार ताकी सूचनिकारूप तीन काव्य कहे हैं। तिनिमैं पहले काव्यमैं कहे हैं जो व्यवहारनयकूं कथंचित् प्रयोजनवान् कह्या तौऊ यह कछू वस्तुभूत नाहीं है—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

सं० टी०—प्राथमिकानां व्यवहारनयोपयोगित्वं प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति हंत इति वाक्यालंकारे, इह जगति, यद्यपि व्यवहरणनयः-व्यवहाराख्यो नयः, हस्तावलंबः-करावलंबनं, स्यात्-भवति, केषां निहितपदानां-निहितं आरोपितं, पदं-स्थानं सन्मार्गे यैस्ते तथोक्तास्तेषां, 'पदं-व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यनेकार्थः। कदा ? प्राक् पदव्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तितत्तत्संमुखत्वे सति पूर्वं-प्राथमिकावस्थायां, तदपि व्यवहारनयः प्राक् सुपयोगी यद्यपोऽस्ति तथापि एष व्यवहारनयः, न किंचित्कार्यंकारी। केषां ? पश्यतां-अवलोकयतां, कं परमर्थं शुद्धचिद्रूपलक्षणं पदार्थं, क्व ? अंतः अभ्यंतरे चेतसि, किंभूतं ? चिच्चमत्कारमात्रं-चित् दर्शनज्ञानलक्षणा, तस्याश्चमत्कारः आश्चर्योद्रेकः, स एव मात्रा-प्रमाणं, यस्य स तथोक्तस्तं। भूयः किंभूतं ? परविरहितं-परैः-पुद्गलादिद्रव्यैः, विरहितं-त्यक्तं, तथा चोक्तं-कुन्दकुंदाचार्यवरैः 'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' इति। अथ आत्मन एकत्वं वितनोति—

अर्थ—व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहिली पदवी जो शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति जेतैं न होय तेतैं तिसविषैं स्थाप्या है अपना पद जानैं ऐसे पुरुषनिकूं हस्तावलंबतुल्य कह्या है। सो "हंत" कहिये यह बडा खेद है। तथापि जे पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थ शुद्धनयका विषयभूत परद्रव्यभावनिसूं रहितकूं अन्तरंगविषैं अवलोकन करे हैं, ताका श्रद्धान करे है,तथा तिसस्वरूपलीन होय चारित्रभावकूं प्राप्त होय हैं तिनकैं यह व्यवहारनय किछूभी प्रयोजनवान् नाहीं है ॥

भावार्थ—शुद्धस्वरूपका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण भये पीछैं अशुद्धनय किछूभी प्रयोजनकारी नाहीं है ॥ ५ ॥ अब दूसरा काव्यमैं निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहे हैं—

विशेष—श्लोकमें जो 'निहितपदानां' यह पद है वहांपर पं० जयचंद्रजीने पद शब्दका पैर अर्थकर और प्राक्पदव्यां निहितपदानां, ऐसा अन्वयमें संघटिनकर 'शुद्धस्वरूपकी पहिली श्रेणीमे पैर रखनेवाले मनुष्योंको यद्यपि व्यवहार नय कार्यकारी है' यह अर्थ प्रगट किया है और संस्कृतटीकाकार भट्टारक शुभचंद्रजीने पदका अर्थ-स्थानकर और सन्मार्गका अध्याहार कर निहितपदानां प्राक्पदव्यां, इत्यादि अन्वय संगटनकर 'जिनके हृदयमें सन्मार्गकी न्यू जमचुकी है ऐसे मनुष्योंको शुद्धस्वरूपकी पहिली श्रेणीमें यद्यपि व्यवहार नय कार्यकारी है' यह अर्थ किया है परंतु भावांशमें उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं। यद्यपि संस्कृतटीकाकारके अर्थमें चमत्कारी है परन्तु उन्हे 'सन्मार्ग' शब्दका अध्याहार करना पडा है। वास्तवमें 'सन्मार्ग' का अध्याहार पं० जयचंद्रजीको भी अभिमत होना चाहिये क्योंकि सन्मार्ग शब्दसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका ग्रहण है और अंतके आधे श्लोकमें जिन्होंने चैतन्य चमत्कार का भलेप्रकार ज्ञान श्रद्धान करलिया है और उसके स्वरूप में लीन हो चारित्र भावको भी प्राप्तकर लिया है उनके लिये व्यवहार नय जरा भी कार्यकारी नहीं यह अर्थकर उन्होंने स्पष्टरूपसे यह आशय प्रगट करदिया है कि जबतक अखंड सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त न हो तबतक व्यवहार नय कार्यकारी है किंतु उनके प्राप्त होते ही उसकी कोई आवश्यकता नहीं। तथा-भट्टारक शुभचंद्रजीने हंत इति वाक्यालंकारे, ऐसा कहकर हंत अव्ययका प्रयोग वाक्यकी सुन्दरताके लिये बतलाया है परन्तु पं० जयचन्द्रजी ने हंत अव्ययका अर्थ खेद किया है। हम पंडित जयचन्द्रजी के अर्थसे सहमत हैं क्योंकि व्यवहार नयको हेय माना है इसलिये हंत शब्दसे ग्रंथकारने यहां खेद प्रगट किया है कि शुद्धस्वरूप की प्राप्तिके पहिले उसकी प्राप्तिकेलिये हमें जबरन व्यवहारनयका अवलंबन करना पडता है यदि हमारा वश चलता अर्थात् विना व्यवहारके अवलंबन किये ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाती तो हम व्यवहार नयकी ओर झांककर भी न देखते ॥ ५ ॥

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियदात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसततिमिमात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

सं० टी—इह-जगति नियमात्-निश्चयनयमाश्रित्य, एव-निश्चयेन, एतत्सम्यग्दर्शन शुद्धसम्यक्त्वं, एतत् किं ? यत् अस्य जगत्प्रसिद्धस्य, आत्मनः चिद्रूपस्य, दर्शन-अवलोकन, ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करण मित्यर्थ. । कथं द्रव्यांतरेभ्यः शुद्धचिद्रूपद्रव्यादन्यद्रव्याणि,द्रव्यांतराणि, पुद्गलादिद्रव्याणि तेभ्य पृथक्-भिन्न भवति, तथा किंविशिष्टस्यात्मनः ? शुद्धनयतो निश्चयनयात्, एकत्वे—अहमात्मा, आत्माहमित्येत-ल्लक्षणे एकत्वे,नियतस्य रति प्राप्तस्य, पुनः किं भूतस्य ? व्याप्तु' स्वगुणपर्यायव्यापकस्य, व्यवहारनयाद्वा लोकालोक व्यापकस्य, ज्ञानेन ज्ञानत्वात्सर्वस्य, तथाचोक्तमकलंकपादैः —

स्वदेहप्रमितिश्चात्मा ज्ञानमात्रोऽपि सम्मत । तत. सर्वगत सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा ॥ इति

पूर्णज्ञानघनस्य-पूर्णं परिपूर्णं , ज्ञानस्य-बोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्तस्य, च-पुन. अयं-प्रत्यक्षीभूत आत्मा-चिद्रूपः, तावानमात्रः सम्यग्दर्शनमात्र इत्यर्थः । तत्-तस्मात् कारणात्, अयं-आत्मा चिद्रूप., नः अस्माक, एक. अद्वितीयः, अस्तु भवतु । किं कृत्वा ? इमां-प्रसिद्धा, नवतत्त्वसहतिं-जीवादिनवतत्त्वाना समूहं, मुक्त्वा-त्यक्त्वा कर्मकलंकितजीवादितत्त्वानि विहाय एक आत्मा, नः शुद्धयेऽस्तु सदेति यावत् ॥६॥
अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति—

अर्थ—जो इस आत्माका अन्यद्रव्यनितैं न्यारा देखना श्रद्धान करना सोही यहू नियमतैं सम्यग्दर्शन है ॥ कैसा है आत्मा ? अपने गुणपर्यायनिविषैं व्यापनेवाला है । बहुरि कैसा है ? शुद्धनयतैं एकपणाविषैं निश्चित कीया है । बहुरि कैसा है ? पूर्णज्ञानघन है, बहुरि जेता यह सम्यग्दर्शन है तेताही आत्मा है ॥ तातैं आचार्य प्रार्थना करेहैं जो इस नवतत्त्वकी परिपाटीकूं छोडि यहू आत्माही हमारैं प्राप्त होहू ॥ भावार्थ—सर्व जे स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेद तिनिमैं व्यापनेवाला जो यहु आत्मा शुद्धनयकरि एकपणाविषैं निश्चित कीया,शुद्धनयतैं ज्ञायकमात्र एक आकार दिखाया,ताका सर्व अन्यद्रव्य अर अन्यद्रव्यनिके भाव तिनितैं जो न्यारा देखना श्रद्धान करना सो यह नियमतैं सम्यग्दर्शन है,व्यवहार नय आत्माका अनेक भेद रूप करि सम्यग्दर्शनकूं अनेक भेदरूप कहे हैं तहां व्यभिचार आवै, यातैं नियम न रहै । शुद्धनयकी हदपहुंचे व्यभिचार नाहीं है । तातैं नियमरूप है । कैसा है ? शुद्धनयका विषय-भूत आत्मा पूर्णज्ञानघन है सर्व लोकालोकका जाननहारा ज्ञानस्वरूप है, बहुरि याका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है सो किछु न्यारा पदार्थ नाहीं है आत्माहीका परिणाम है तातैं आत्मा ही है तातैं सम्यग्दर्शन है सोही आत्मा है, अन्य नाहीं है ॥ भावार्थ—इहां एता और जानना जो नय हैं ते श्रुतप्रमाणके अंश हैं तातैं यह शुद्धनय है सोऊ श्रुतप्रमाणहीका अंश है । अर श्रुतप्रमाण है सो

परोक्षप्रमाण है वस्तुकूं सर्वज्ञके आगमके वचनतैं जाणैं है। सो यह शुद्धनय है सो यह परोक्ष सर्वद्रव्यनितैं न्यारा असाधारण चैतन्यधर्मकूं सर्व आत्माकी पर्यायनिविषैं व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप सर्व लोकालोकका जाननहारा दिखावै। तिसकूं यह व्यवहारी छद्मस्थजीव आगमकूं प्रमाण करि पूर्ण आत्माका श्रद्धान करै सोही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जेतैं व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिकभेदरूप तत्त्वनिका केवल श्रद्धान रहै,ततैं निश्चयसम्यग्दर्शन नाहीं, यातैं आचार्य कहे हैं जो इस तत्त्वनिकी संतति परिपाटीकूं छोडिकरि यह शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा है सोही हमकूं प्राप्त होऊ। अन्य किछु न चाहे हैं॥ यह वीतराग अवस्थाकी प्रार्थना है, किछु नयपक्ष नाहीं, जो सर्वथा नयनिका पक्षपात होऊही करै तो मिथ्यात्व ही है। इहां कोई पूछै–यह अनुभवमैं चैतन्यमात्र आवै एता ही आत्माकूं मानि श्रद्धान करै सो सम्यग्दर्शन है कि नाहीं? ताका समाधान–जो चैतन्यमात्र तौ नास्तिकविना सर्वही मतके आत्माकूं मानै है, सो एताही श्रद्धानकूं सम्यक्त्व कहिये तौ सर्वहीकै सम्यक्त्व ठहरै तातैं सर्वज्ञकी वाणीमैं जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कह्या है तैसा श्रद्धान भये निश्चयसम्यक्त्व होय है ॥६॥

अब तीसरा काव्यमें कहे हैं जो सूत्रकार आचार्य ऐसैं कहै हैं जो याके आगे शुद्धनयके आधीन जो सर्वद्रव्यनितैं भिन्न आत्मज्योति है सो प्रगट होय है–

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

सं० टी—अतः यतो नवतत्त्वेष्वपि,अयमेकः आत्मान्तु नः,अतः कारणात, चकास्ति–द्योतते। तत्प्रसिद्धं प्रत्यग्ज्योतिः परंधाम, शुद्धनयायत्तं, निश्चयनयस्य, आयत्तं अधीनं, शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत। यत् परं ज्योति. एकत्वं अद्वितीयत्वं, न मुंचति नो जहाति,क्व सति? नवतत्त्वगतत्वेऽपि नवतत्त्वेषु गतत्वं प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि। अपि शब्दात्तेषु, अगतत्वेऽपि सिद्धात्मनो नवतत्त्वेष्वगतत्वात्, संसारात्मनः, नवतत्त्वाच नत्वान्नवगतत्वं ॥ ७ ॥ अथात्मैव दृश्य इति प्रेरयति–

अर्थ–इहातैं आगैं जो शुद्धनयके आधीन भिन्न आत्मज्योति है सो प्रगट होय है। जो नवतत्त्वमैं गत होय रह्या है, तोऊ आपना एकपणाकूं नाहीं छोडे है॥ भावार्थ–जो नवतत्त्वमैं आत्मा प्राप्त हुवा अनेकरूप दीखे है, सो याका भिन्नस्वरूप विचारिये तो अपना चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिकूं छोडे नाहीं है, सोही शुद्धनयकरि जानिये है सोही सम्यक्त्व है।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानं ॥८॥

सं० टी—अथ परंज्योतिषः प्रकाशकथनादनंतरं. इदं, आत्मज्योतिः–परमात्मज्योतिः दृश्यतां-अंतरङ्गदृष्ट्या अवलोक्यतां. इति-अमुना प्रकारेण, कोऽसौ प्रकारः? एकस्मिन् संसारात्मनि, जीवाजीवादिनवतत्त्व

सद्भाव इति। चिर-आससार-पूर्वं पश्चाच्च, नवतत्त्वच्छन्न नवतत्त्वै--जीवाजीवादिभिः, छन्न-आच्छादित, किमिव ? कनकमिव, यथा स्वर्णं, वर्णमालाकलापे-वर्णस्य सप्ताष्टादिरूपवर्णस्य, माला-पक्ति., तस्याः कलापः समूहस्तस्मिन्, निमग्नं-अत.पतित। ननु च तत्त्वाच्छादित परंज्योतिः, वर्णमालाच्छादित-स्वर्णं च कथमस्तीति ज्ञायते ? उन्नीयमानं-नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानं, निघषणच्छेदनादिभिर्ज्ञायमानं, सतत-निरतर कि विशेषेण-निश्चयनयेन, वि [वि] क्तं द्रव्यभावमलाद्भिन्न, स्वर्णं च निजकिट्टकालिकादिमलात् परमार्थतो भिन्नं, एकरूपं-सर्वत्र पर्यायेषु चिद्विवर्तत्वेनैकस्वरूप, लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यक्षरादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात्। स्वर्णं च पीतत्वादिस्वरूपेण सर्वत्र वर्णेषु, एकस्वरूप प्रतिपदं-एकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादिशक्तितः, उद्योतमान-प्रकाशमान, स्पर्शनेन्द्रियज्ञानात् द्वीन्द्रियादिषु रसनेन्द्रियादिज्ञानाना वृद्धिस्वभावत्वात्, कनकमपि-प्रतिपद-सप्ताष्टवर्णादिवर्णविस्तारस्थानेषु उद्योतमान, इति छायार्थ. कनकेऽपि ज्ञातव्य'। ८। अथ परंज्योतिषि प्रकाशिते सति नयादीना वैयर्थ्यं स्पष्टयति—

अर्थ—ऐसैं नवतत्त्वनिविषैं वहुतकालतैं छिप्या हुवा यह आत्मज्योति शुद्धनयकरि निकाशि प्रगट कीया है, जैसैं सुवर्णकी मालाके समूहमें सुवर्णका एकाकार छिप्याकूं निकाशै तेसैं। सो अब भव्यजीव याको निरंतर अन्यद्रव्यनितैं तथा तिनतैं भयो नैमित्तिकभावनितैं भिन्न एकरूप अवलोकन करो। यहू पदपदप्रति कहिये पर्यायपर्यायप्रति एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है॥ भावार्थ—यह आत्मा सर्व अवस्थामैं नानारूप दीखेथा सो शुद्धनय एक चैतन्यचमत्कारमात्र दिखाया है। सो अब सदा एकाकारही अनुभवन करो पर्यायबुद्धिका एकांत मति राखो यह श्रीगुरुनिका उपदेश है॥ अब टीकाकार फेरि कहे है, जो, जैसैं नवतत्त्वमें एक जीवहीका जानना भूतार्थ कह्या, तैसैं ही एकपणाकरि प्रकाशमान जो आत्मा ताका अधिगमनके उपाय ये प्रमाणनयनिक्षेप हैं तेभी निश्चयतै अभूतार्थ हैं॥ तिनिविषैं भी यहू एक आत्माही भूतार्थ है। जातैं ज्ञेयकै अर वचनके भेदतैं ते अनेक भेदरूप होय हैं॥ तहां प्रथमही प्रमाण दोय प्रकार है परोक्ष अर प्रत्यक्ष। तहां उपात्त कहिये इंद्रियनितें भिडिकरि प्रवर्तैं अर अनुपात्त कहिये विना-भिडे मनकरि प्रवर्तें ऐसें दोय परद्वारकरि प्रवर्त्तमान सो परोक्ष है। बहुरि केवल आत्माहीकरि प्रतिनिश्चितपणाकरि प्रवर्त्तमान होय सो प्रत्यक्ष है। भावार्थ—प्रमाण ज्ञान है, सो ज्ञान पांच-प्रकार है मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल। तिनिमैं मति, श्रुत तौ परोक्ष हैं। अर अवधि, मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। सो ये दोऊही प्रमाण है। ते प्रमाता प्रमाण प्रमेयके भेदकूं अनुभव करते संते तौ भूतार्थ हैं सत्यार्थ हैं। बहुरि गौण भये है समस्तभेद जामैं ऐसा जो एक जीवका स्वभाव ताका अनुभव करते संते अभूतार्थ है असत्यार्थ है॥ बहुरि नय हैं सो द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक है। तहां वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है। तामैं द्रव्यकूं मुख्यपणाकरि अनुभवन करावे ऐसा तौ द्रव्यार्थिक है। बहुरि पर्यायकूं मुख्यपणाकरि अनुभवन करावै सो पर्यायार्थिक है। सो ए दोऊही नय द्रव्यपर्यायकूं भेदरूप पर्यायकरि अनुभवन करते संते तो भूतार्थ हैं सत्यार्थ हैं॥ बहुरि द्रव्यपर्याय दोऊहीकूं नाहीं आलिंगन करता ऐसा शुद्ध

वस्तुमात्र जो जीवका स्वभाव चैतन्यमात्र ताकूं अनुभव करते संते भेद अभूतार्थ असत्यार्थ हैं ॥ बहुरि निक्षेप है सो नाम स्थापना द्रव्य भाव भेदकरि चारि प्रकार है। तहां जामें जो गुन तौ न होय अर तिसके नाम वस्तुकी संज्ञा करीये सो तौ नामनिक्षेप है। बहुरि अन्यवस्तुविषैं अन्यकी प्रतिमारूप स्थापना करना जो यह वह वस्तु है सो यह स्थापनानिक्षेप है। बहुरि वर्त्त-मानपर्यायतैं अन्य अतीत, अनागत पर्यायरूप वस्तु होय ताकूं वर्त्तमानवस्तुमें कहिये सो द्रव्यनिक्षेप है। वर्त्तमानपर्यायरूप वस्तुकूं ही वर्त्तमान कहियें सो भावनिक्षेप है सो ए चारोंही निक्षेप अपने अपने लक्षणभेदतैं न्यारे न्यारे विलक्षणरूपकरि अनुभवन करते संते भूतार्थ हैं सत्यार्थ हैं। बहुरि भिन्नलक्षणतैं रहित एक अपना चैतन्यलक्षणरूप जीवके स्वभावकूं अनुभवन करते संते चारोंही अभूतार्थ हैं असत्यार्थ हैं ॥ ऐसैं इनि प्रमाणनयनिक्षेपनिविषैं भूतार्थपणाकरि एक जीवही प्रकाशमान है ॥ भावार्थ–इहां इनि प्रमाणनयनिक्षेपनिका विस्ताररूप व्याख्यान इनिके प्रकरणके ग्रंथनिमें है, तहांतैं जानना। इनितैं वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक साधिये है। सो साधक अवस्थामें तौ ए सत्यार्थही हैं जातैं ए ज्ञानहीके विशेष है, इनिविना वस्तूकूं यथाकथं-चित् साधे तब विपर्यय होय है ॥ अवस्थाके व्यवहारके अभावकी तीन रीति हैं। एक तो यथार्थवस्तूकूं जानि ज्ञानश्रद्धानकी सिद्धिकरना सो ज्ञान श्रद्धान सिद्धि भये पीछें इनि प्रमाणा-दिकनैं श्रद्धानके अर्थि तो किछु प्रयोजन नाहीं ॥ बहुरि दूजी अवस्था विशेष ज्ञान अर राग द्वेष मोह कर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्रका होना है, याहीतैं केवलकी प्राप्ति है। सो यह भयें पीछें प्रमाणादिकका आलंबन नाहीं है ॥ तापीछें तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, सो तहां भी किछू आलंबन नाहीं है ॥ ऐसैं सिद्ध अवस्थामें प्रमाणनयनिक्षेपनिका अभावही है इस अर्थका कलशरूप काव्य कहे हैं–

विशेष –यद्यपि पं० जयचंद्रजीने इस श्लोकका अर्थ किया है भावार्थ भी विस्तृतरूपसे समझाया है परंतु श्लोकमें जो दृष्टांत है उसका बिलकुल स्पष्टीकरण नहीं किया, भट्टारक शुभ-चंद्रजीने श्लोककी टीका यद्यपि स्पष्ट लिखी है परंतु अधिक दृष्टि लगानेसे श्लोकका असली तात्पर्य समझमें आता है इसलिये हमारी समझसे इस श्लोकका सुगम और स्पष्ट अर्थ इस-प्रकार हैं–

यह जगत्प्रसिद्ध बात है कि सुवर्णको तपाकर शुद्ध किया जाता है और ज्यों ज्यों उसमें अग्निके ताव दिये जाते हैं त्यों त्यों उसके कीट कालिमा आदि मल दूर होते जाते हैं इसरीतिसे उसके असली स्वरूपके प्राप्त करनेकेलिये एकसे लेकर सोलह ताव दिये जाते हैं और वह हर एक तावमें कुछ २ कीट कालिमा आदिसे रहित होता हुआ उत्तरोत्तर प्रकाशमान होता चला जाता है जिससमय उसके सोलहों ताव समाप्त हो जाते है उससमय वह सोलहवानी

अर्थात् निखालस सोना कहा जाता है और सुवर्णकी परीक्षा करनेवाले मनुष्य उस सोलह-वारके तपाये हुये सोनेको कसौटीपर घिसकर उसके असलीस्वरूपको देखते हैं तो यद्यपि वह सुवर्ण एक शुद्धस्वरूप है तथापि कीट आदिके संबंधसे उसके तावों (उत्तरोत्तर अवस्थाओं) के भेदसे उसमें भेद होता जाता है वह अनेक स्वरूप जान पड़ने लगता है परंतु कीट आदिके नष्ट होजानेपर वह ज्योंका त्यों प्रकट होजाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी एक चैतन्यमात्र शुद्ध स्वरूप है और जैसा जैसा वह एकेंद्रियसे दो इंद्रिय,दो इंद्रियसेते इन्द्रिय,ते इंद्रियसे चौ इंद्रिय, चौइंद्रियसे पंचेंद्रिय,पंचेद्रियोंमें मनुष्य,मनुष्योंमें अणुव्रती श्रावक, ऐलक, क्षुल्लक क्षुल्लकसे मुनि, मुनियोंमें भी सातवेंसे लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती और केवली आदि होता जाता है त्यों त्यों वह कर्म मलसे रहित होता हुआ प्रत्येक पर्यायमें प्रकाशमान होता जाता है और अनेकाकार दिखता है परन्तु सिद्ध अवस्थामें वह अकेले शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूपका धारक ही रहता है इस-लिये विद्वानोंको चाहिये कि वे इस प्रकारके चैतन्यमात्रस्वभावके धारक शुद्ध सिद्ध स्वरूपका अनुभव करैं ॥ ८ ॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकपेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ९

स टी०—अस्मिन्-परात्मलक्षणे, धाम्नि ज्योतिषि, सर्वंकपे-लोकालोक, कषति-त्रासमान करोति जानातीति लक्षणया धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंकषः 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ' इति खश्प्रत्ययविधानात् । अनुभवं-स्वानुभवप्रत्यक्ष, उपयाते-प्राप्ते सति, नयश्री' नया द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाः नैगमादयः, तेषा श्रीः, न उदयति-न प्राप्नोति नयाना परमात्मन्यधिकाराऽयोगात् बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च, पुनरतस्मिन् प्रकाशिते, प्रमाणं-प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्व येन तत्प्रमाण-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं, तच्च द्वैध-प्रत्यक्षपरोक्ष-भेदात् । तत्र विशदं प्रत्यक्षं, तच्च द्वेधा साकल्यवैकल्यभेदात् । साकल्यं केवलज्ञान सामग्रीविशेषविश्लेषिता-खिलावरणत्वात् । वैकल्यं-अवधिमन पर्ययभेदाद् द्वेधा । इन्द्रिय प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादींद्रियभेदात् षोढा । तच्च प्रत्येक-अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा, तच्च बहुबहुविधादिद्वादशविषयभेदात, षट्त्रिंशदधिकत्रि शतभेदभिन्न । परोक्ष-स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदाद् बहुधा, एतद्विविधलक्षण प्रमाणमस्तं गतमेति प्रमाणाना तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्यांच्च । च पुन., निक्षेपचक्रं-निक्षेपस्तु नामस्थापनाद्रव्यभाव-भेदतश्चतुर्धा तत्रातद्गुणे वस्तुनि सञ्ज्ञाकरणं नाम, अन्यत्र सोयमिति व्यवस्थापन स्थापना, वर्तमानतत्प-र्यायादन्यद्द्रव्यं, तत्कालपर्यायाक्रात वस्तु भावोऽभिधीयते, तस्य चक्र समूह. क्वचिदपि कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्ये स्थाने, याति गच्छति, तद् वय न विद्म. न जानीम' । अतिशयालकारकथनमेतत् । प्राथमिकानां निक्षेपस्योपयोगित्वात् अत्रापरम् निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणं सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वलक्षण, च किमभिदध्मः किं कथयाम. ?, तत्र तेषामनुपयोगित्वात् । एव निश्चयेन द्वैतं द्वाभ्यां नयनेय प्रमाणप्रमेय निक्षेपनिक्षेप्यादिलक्षणाभ्या इतं प्राप्ता,द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं स्वार्थि-काऽणप्रत्ययविधानात् । न भाति न प्रतिभासते, तथा चोक्त—

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिता. । केवले च पुनस्तस्मिस्तदेकं प्रतिभासतां ॥

अथ स्वात्मस्वभावं प्रकाशयतं शुद्धनयं व्यनक्ति—

अर्थ—आचार्य शुद्धनयका अनुभवनकरि कहे हैं, जो, इस सर्वभेदनिका गौण करनहारा जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा ताके अनुभव आये संते नयनि की लक्ष्मी है सो उदयकूं नाहीं प्राप्त होय है। बहुरि प्रमाण है सो अस्तकूं प्राप्त होय है। बहुरि निक्षेपनिका समूह है सो कहूं जाता रहै है सो हम नाहीं जानें है। इससिवाय और कहा कहै द्वैतही नाही प्रतिभासे है।। भावार्थ—भेदकूं अत्यंत गौण करि कहा है जो प्रमाणनयादिकका भेदकी कहा चली है? शुद्ध अनुभव होते द्वैतही नाही भासे है,एकाकार चिन्मात्रही दीखे है इहां विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती कहै जो परमार्थ तौ अद्वैतहीका अनुभव भया सोही हमारा मत है, तुमने विशेष कहा कह्या? ताकूं कहिये जो तुमारा मतमें सर्वथा अद्वैत माने हैं, सो सर्वथा मानें तौ बाह्यवस्तुका अभाव होय है, सो ऐसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है। बहुरि हमारे नयविवक्षा है सो बाह्यवस्तुका लोप नाहीं करे है। शुद्ध अनुभवतें विकल्प मिटे है, तब परमानन्दकूं आत्मा प्राप्त होय है, तातैं अनुभव करावनेकूं ऐसा कह्या है। अर बाह्यवस्तुका लोप कीये तौ आत्माकाभी लोप आवै तब शून्यवादका प्रसंग आवे है, सो तुम कहो तैसे वस्तुस्वरूप सधै नाहीं, अर वस्तुस्वरूपकी यथार्थश्रद्धाविना जो शुद्ध अनुभव भी करे तौ मिथ्यारूप है, शून्य का प्रसंग आया तब आकाश के फूलका अनुभव है।। ९ ।। आगैं शुद्धनयका उदय होय है ताकी सूचनिकाका काव्य कहै हैं—

विशेष—पं० जयचन्द्रजीने सर्वंकषे पदका अर्थ सब पदार्थोंको गौण करनेवाला किया है और भट्टारक शुभचन्द्रका अर्थ,सब पदार्थोंको जाननेवाला यह है, यद्यपि ये दोनो ही अर्थ अनुकूल है तथापि खुलासा अर्थ परद्रव्य और उनके विकारोंसे रहित यह है। पं० जयचन्द्रजीने किमपरमभिदध्मः इस वाक्यका अर्थ इसके सिवाय और क्या कहै? और भ० शुभचन्द्रजीने प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण पदसे उल्लेखकर अपर शब्दसे निर्देश स्वामित्व आदि ग्रहण किये है और यह आशय प्रकट किया है कि शुद्धचिन्मात्र तत्त्वके अनुभव होनेपर जब बलवान से बलवान भी प्रत्यक्ष परोक्ष आदि प्रमाण लापता होजाते है तब न कुछ शक्तिके धारक निर्देश स्वामित्व आदि तो ठहर ही कैसे सकते हैं? इन दोनों अर्थोंमें भट्टारक शुभचन्द्रजीका अर्थ चमत्कार पूर्ण है ।। ९ ।।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।। १० ।।

स० टी०—अभ्युदेति उदयं गच्छति, कोसौ? शुद्धनयः शुद्धपरात्मग्राहकद्रव्यार्थिकः किं कुर्वन् प्रकाशयन् व्यक्तीकुर्वन्,कं? तं,आत्मस्वभावं शुद्धचिद्रूपस्वरूपं,कीदृशं तं? परभावभिन्नं परे च ते भावाश्च परभावा स्तेसाम्यपदार्थाः, अथवा परेषा अचेतनादीना भावा स्वभावा तैर्भिन्नं। भूयः, कीदृशं! आपूर्णं आ अतिश-

येन परिपूर्णं, ज्ञानाद्यनंतगुणपूर्णात्वात्स्य,पुन. किं भूत ? आद्यंतविमुक्तं अनादिनिधनमित्यर्थ. पुन' कीदृशं एकं अद्वैत, अखंडद्रव्यत्वात्, विलीनेत्यादि परद्रव्ये ममेदमिति मतिः संकल्प., अहं सुखी दुखीत्यादिमतिः विकल्प', संकल्पश्च विकल्पश्च संकल्पविकल्पौ, विलीन संकल्पविकल्पयोर्जाल समूहो यस्य तं । १० । अथात्मनोऽनुभवन भावयति—

अर्थ—शुद्धनय है सो आत्माके स्वभावकूं प्रगट करता संता उदय होय है। कैसा प्रगट करे है ? परद्रव्य तथा पर द्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्ततैं भये अपने विभाव ऐसे परभावनितैं भिन्न प्रगट करे हैं। बहुरि कैसा प्रगट करे है ! आपूर्ण कहिये समस्तपणाकरि पूर्णस्वभाव समस्त लोकालोकका जाननहारा ऐसा स्वभावकूं प्रगट करे हैं। जातैं ज्ञानमें भेद तो कर्म-संयोगतैं है,शुद्धनयमें कर्म गौण है। बहुरि कैसा प्रगट करे है ? आदि अन्तकरि रहित, जो कछू हूँ आदि लेकरि काहुँते भया नाहीं,तथा कबहूं काहुकरि जाका विनाश नाहीं ऐसा पारिणामिक भावकूं प्रगट करे है। बहुरि कैसा प्रगट करे है ? एक हैं सर्व भेदभावतैं द्वैत भावतैं रहित एकाकार है, बहुरि विलय भये हैं समस्त संकल्प अर विकल्प के समूह जामें संकल्प तौ द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यनिविषैं आपा कल्पै सो लेणे अर विकल्प जे ज्ञेयनिके भेदतैं ज्ञानमें भेद दिखै ते लेणे ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होय हैं। सो इस शुद्धनयकूं जानना

नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोमी स्फुटमुपरि तरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावं ।११।

स० टी०—भो जगत भोजगन्निवासिलोक ! आधारे आधेयस्योपचार.,लोकोक्तिरपीदृचास्ति मालवो देशः समागतोऽत्र,इत्युक्ते तत्रत्या भूमिर्नागता किंतु तत्रत्यो लोकः तथा जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः,अनुभवतु अनुभवगोचरीकरोतु, क ? तमेव स्वभाव, शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात्, यथोक्तस्वभाव, अथवा स्वभाव स्वपदार्थं स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थं ,सम्यक् यथोक्ततया,किंभूत ? समंतात् सामस्त्येन द्योतमान,लोकप्रकाशमान, किं कृत्वा अपगतमोहीभूय अपगतमोहोभूत्वा विनष्टमोहो भूत्वेत्यर्थ' यत्र आत्मनि, अमी, बद्धेत्यादि बद्ध. कर्मनोकर्मभ्यां सश्लेषरूपेण बंधेन बद्ध स्पृष्टः विस्रसोपचयादिपरमाणुभिः अन्यैश्च सयोगमात्रतया स्पृष्टः,बद्धश्च स्पृष्टश्च बद्धस्पृष्टौ तावेवादिर्येषामन्ययुतादीना ते च ते भावाश्च ते तथोक्ता , एत्य आगत्य प्राप्येत्यर्थः,प्रतिष्ठां स्थितिं माहात्म्यं वा, नहि विदधति नैव दधते, स्फुटं व्यक्तं यथा भवति तथा, जगदुपरि सर्वतःतरन्तोऽपि सर्वतः उत्कृष्टा भवंतोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि व्यवहारिभि. कथ्यमाना अपीत्यर्थः, उक्तं च- अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमविभ्रमोपेत य. पश्यत्यात्मान स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठ ॥ १ ॥ इति
अथ पूर्वापरभावविनाशकत्वेनात्मानमुद्बोधयति—

अर्थ—टीकाकार उपदेश करे हैं, जो जगतके प्राणीसमूह सो तिस सम्यक्स्वभावकूं अनुभवन करौ। जाविषैं ए बद्ध स्पृष्ट आदि भाव हैं ते प्रगटपणें इस स्वभावके उपरि तरते हैं, तौऊ प्रतिष्ठाकूं नाहीं प्राप्त होय हैं, जातैं द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है अर ए भाव अनित्य हैं अनेकरूप हैं ॥ पर्याय है सो द्रव्यस्वभावमें नाहीं प्रवेश करे है उपरि ही रहे है ॥ कैसा है

यह शुद्ध स्वभाव ? सर्व अवस्थामें प्रकाशमान है ।। कैसे होयकरि अनुभव करो ? अपगत-मोहीभूय कहिये दूरि भया है मोह जाका ऐसा होयकरि । जातै मोहकर्मके उदयजनित मिथ्यात्वरूप अज्ञान जेतै है तेतैं यह अनुभव यथार्थ नाहीं होय है । भावार्थ—शुद्ध नयका विषयस्वरूप आत्माका अनुभव करो यह उपदेश है । आगे इसही अर्थके कलशरूप काव्य फेरि कहे हैं, जो, ऐसा अनुभव कीयें आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान है—

भूतं भांतमभूतमेव रभसा निर्भिद्य वंधं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ॥
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं ।
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥

सं. टी.—किल—इति आगमोक्तौ,अहो इति आश्चर्ये । यदि कोऽपि सुधीः—धीमान्, अतः अभ्यंतरे,शुद्धचिद्रूपं कलयति अनुभवति,अवलोकयति-साक्षात्करोतीत्यर्थः । व्याहत्य निश्शेषमुन्मूल्य,कं ? मोहं अष्टाविंशतिप्रकृतिभेदभिन्नं मोहनीयं कर्म,कथं ? हठात् वलात्कारेण तपोध्यानादिभिः, पुनः किंकृत्य ? निर्भिद्य निश्शेषं भेदयित्वा,वधं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणं चतुर्धा कर्मवंध,रभसा शीघ्रं शुक्लध्यानावाप्त्यनतरं अंतर्मुहूर्तेन कीदृक्षं वध ? भूतं पूर्वं संसारावस्थायां समयप्रबद्धस्वरूपेण वद्धं निर्जरावशान्निर्जीर्य, भांतं वर्तमानं, योगादिभिरागमकर्मसमयप्रबद्धं, अ तः संवरवशान्निरुद्ध्य, अभूतं अनागतं अग्रे बध्यमानं निरुद्ध्य, तत्कारणगोगकषायानामभावात् ' कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति ' न्यायात्, एव निश्चयेन, तदिति, अध्याहार्यं अयं प्रत्यक्षीभूतः, आत्मा शुद्धचिद्रूपः, व्यक्तः, साक्षात् अनतचतुष्टयापन्नः, ध्रुवं निश्चितं, आस्ते तिष्ठति कीदृक्षः ? आत्मेत्यादि आत्मनश्चित्स्वरूपस्य, अनुभवः, तेन एकः अद्वितीयः, गम्यः ज्ञेयः, महिमा माहात्म्यं यस्य सः, नित्यं सदैव, परमावस्थाया कर्मेत्यादि कर्म एव कलंकपंकः, संसारस्य कालंक्यहेत्वात्, तेन विकलः रहितः । पुनः किंभूतः ? देवः दीव्यति क्रीडति एकलो(रत्नो)त्रीभावमनुगच्छति परमात्मपदं द्योतते वा देवः । स्वयं कर्माद्यनपेक्षत्वेन शाश्वतः नित्यः ।। १२ ।। अथात्मानुभूतिमेव समर्थयति—

अर्थ—जो कोई सुवुद्धि, सम्यग्दृष्टि, भूत कहिये पहले भया अर भांत कहिये वर्तमानका अर अभूत कहिये आगामी होयगा ऐसा तीन कालसंबंधी कर्मका बंधकूं अपने आत्मातैं तत्काल शीघ्र न्यारा करि, बहुरि तिस कर्मके उदयके निमित्ततैं भया जो मिथ्यात्वरूप अज्ञान ताकूं अपने बलपुरुषार्थतैं न्यारा करि, अंतरंगविषैं अभ्यास करै देखै तौ यह आत्मा अपने अनुभव ही करि जानने योग्य है प्रगट महिमा जाकी ऐसा व्यक्त अनुभव गोचर निश्चल शाश्वत नित्य कर्मकलंककर्दमतैं रहित ऐसा आप स्तुति करनेयोग्य देव तिष्ठे है । भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टि करि देखिये तौ सर्वकर्मनितैं रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंगविषैं आप विराजे है यह प्राणी पर्यायबुद्धि बहिरात्मा याकूं बाह्य हेरे है सो बडा अज्ञान है ।। आगैं शुद्धनयका विषयभूत आत्माकी अनुभूति है सोही ज्ञानकी अनुभूति है ऐसा आगली गाथाकी सूचनिकाके अर्थरूप काव्य कहे हैं—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् १३

स. टी —किल इति निश्चित, इति पूर्वोक्तप्रकारेण, या शुद्धनयात्मिका–शुद्धनय एव आत्मा–स्वरूपं यस्या सा, आत्मानुभूति –आत्मन. शुद्धचैतन्यस्य, अनुभूति उपलब्धिर्वा पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थ इयमेव–आत्मानुभूतिरेव, ज्ञानानुभूति'–ज्ञानस्य सम्यग्बोधस्य, अनुभूति'–अनुभव –उपलब्धिर्वा, इति–इत्थ बुद्ध्वा–मत्वा, एक.–अद्वितीय , अस्ति–वर्तते, समतात्–सामस्त्येन, किंभूत ? नित्य–निरतर, अवबोधघन केवलज्ञानपिंड., किंकृत्वेकोऽस्ति ? निवेश्य–आरोप्य, सुनिष्प्रकप अविचल यथा भवति तथा आत्मनि स्वस्वरूपे, आत्मान स्व–स्वभाव ॥ १३ ॥ अथ परमात्मस्वरूपप्रकाशन नः आशास्ति–

अर्थ–ऐसे जो पूर्वोक्त शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति कहिये अनुभव है सोही यह ज्ञान की अनुभूति है एसे प्रगट जाणिकरि, बहुरि आत्माविषै आत्माकूं निश्चल स्थापिकरि, अर सदा सर्वतरफ एक ज्ञानघन आत्मा है ऐसा देखना । भावार्थ–पहिले सम्यग्दर्शनकूं प्रधानकरि कहा था अब ज्ञानकूं प्रधानकरि कहे हैं–जो यह शुद्धनयका विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है सोही सम्यग्ज्ञान है ॥१३॥

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छ्लनिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं १४

सं० टी०—अस्तु–भवतु, किं तत ? परम मह –जगदुत्कृष्ट' ज्योति.– जगत्प्रकाशत्वात् , केषा ? नः–अस्माकं, किं भूतं ? अखडित–न खडित–अध्वस्त, केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादिभिस्तत्स्वरूपस्य खडयितुमशक्यत्वात्, " सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्व हेतुभिर्नैव हन्यते इति वचनात् , अनाकुल न केनापि व्याकुलीकृत तत्स्वरूपस्य केनापि पुद्गलादिसंयोगेनास्पृष्टत्वात् , जलेन बिशनीपत्रवत् , भूयः किंभूत न विद्यते, अ तो विनाशो यस्य तत् , तद्गुणाविर्भावेन विनाशरहितत्वात् , अ त: अभ्यतरे बहि: बाह्ये ज्वलत्–देदीप्यमान बहिरंत. स्वरूपप्रकाशकत्वात् सहज—स्वाभाविकं, केनापीश्वरादिनाऽकृत्रिमत्वात् सदा–निरंतर, उद्विलासं–उत्–ऊर्ध्वं तनुवातवलये विलास.–सुखानुभवन अथवा उदयमानो विलासो यस्य तत् , चिदुच्छ्लन–निर्भर–चितश्चैतन्यस्य, उच्छ्लन तेन निर्भर प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात् यत–परंज्योति –सकलकाल–पूर्वापरवर्तमानकालं एकरस शुद्धपरमात्मरस आलबते–अवलंबयति लवणरसवत्–यथैव हि व्यंजनलुब्धानामबुद्धाना लोकानां विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातस्य सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानं लवण स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां तथैव ज्ञेयलुब्धानामबुद्धानां विचित्रप्रमेयाकारकरंबितसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमान ज्ञान स्वदते न पुनस्तदन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्या ज्ञानिना–केवललवणात्मिकाना तु तदेकं स्वदते । भूय' किं भूतमिति पद सर्वत्र विशेषणे योज्य उल्लसदित्यादि–उल्लसन्–उल्लास गच्छन् स चासौ लवणखिल्यश्च लवणखडं तस्य लीला तद्वदायत–विस्तृत । यथा–अलुब्धबुद्धाना केवल. सैंधवखिल्य. परद्रव्यसंपर्करा–हित्येनैवानुभूयमान. सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि सकलपरद्रव्यवैकल्येन केवल एव कल्पमानः सर्वतोप्यद्वितीयविज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते ॥ १४ ॥ अथ तस्यैवोपासन सधत्ते–



अर्थ—आचार्य कहे हैं, जो, तत् कहिये सो परम उत्कृष्ट मह कहिये तेज प्रकाशरूप हमारे होऊ, जो सदाकाल चैतन्यका उछलन कहिये परिणमन ताकरि भरया, जैसे लूणकी डली एक क्षाररसकी लीलाकूं आलंबन करे है, तैसे एक ज्ञानरसस्वरूपकूं आलंबन करे है। बहुरि सो तेज कैसा है ? अखंडित है, जामैं ज्ञेयनिके आकाररूप नाहीं खंडते है। बहुरि कैसा है ? अनाकुल है, जामैं कर्मके निमित्ततै भये रागादिक तिनिकरि भई जो आकुलता सो नाहीं है। बहुरि कैसा है ? अंतर्बहिरनंतं ज्वलत् कहिये अंतरहित अविनाशी जैसे होय तैसे अंतरंग तौ चैतन्यभावकरि दैदीप्यमान अनुभवमें आवे है अर बाह्य वचनकायकी क्रियाकरि प्रगट दैदीप्यमान हो है, जान्या जाय है। बहुरि सहज कहिये स्वभावकरि भया है, काहूने रचा नाहीं है। बहुरि सदा उद्विलासं कहिये निरंतर उदयरूप है विलास जाका एकरूप प्रतिभासमान हैं। भावार्थ—आचार्यने प्रार्थना करी है,जो,यह स्वरूप ज्योतिर्ज्ञानानन्दमय एकाकार हमारे सदा प्राप्त रहो,ऐसा जानना।१४।

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां॥ १५ ॥

सं० टी०—एष आत्मा-चिद्रूपः, नित्यं-सदा, समुपास्यतां-सेव्यता-ध्यायतामित्यर्थः, कैः ? सिद्धि-स्वात्मोपलब्धिं, 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरिति' वचनात् अभीप्सुभिः प्राप्तमिच्छुभिः, किंभूतः ? ज्ञानघनः-बोधपिंडः, एकः योऽद्वितीयः साध्यसाधकभावेन साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन,स एव आत्मा ध्येयरूपतया साध्यः, स एव ध्यायकरूपतया साधकः। न त्वन्यः साध्यः न त्वन्यश्च साधकः, तेन स्वरूपेण द्विधा-द्विप्रकारः ॥ १५ ॥ अथात्मनस्त्रित्वमेकत्वमाह—

अर्थ—यहू पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप नित्य आत्मा है, सो सिद्धि जो स्वरूप की प्राप्ति ताके इच्छक पुरुषनिकरि साध्यसाधकभावके भेदकरि दोय प्रकारकरि एकही सेवनेयोग्य है सो सेवो भावार्थ—आत्मा तौ ज्ञानस्वरूप एकही है परन्तु याका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है ऐसे भावभेदकरि दोय प्रकारकरि एक ही सेवना ॥ १५ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः॥१६॥

सं० टी०—आत्मा परमात्मा, समं-युगपत्, मेचकः-विचित्रस्वभाव, कुतः ? दर्शनज्ञानचारित्रैः कृत्वा त्रित्वात्-त्रिस्वभावत्वात्। अपि च, अमेचक-विचित्रस्वभावरहितः, कुतः ? स्वयं-स्वतः-एकत्वतः-एकस्वभावत्वात्,। ननु यः एकस्वभावः सोऽनेकः कथं स्यात् एकानेकयोः परस्परं विरोधात् ? इति चेन्न प्रमाणतः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणतः, एकानेकस्वभावत्वसाधनात्। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेन, आत्मैक एव, वस्त्वंतराभावात्। देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरणं, तत्स्वभावानतिक्रमात् तत्स्वभाव एव, न वस्त्वंतरं, तथात्मन्यपि तत्त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात् आत्मा एव, न वस्त्वंतरं, मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वा-नेकत्वं ॥ १६ ॥ अथ मेचकामेचकत्वमात्मनः पद्यद्वयेन विवृणुते—

अर्थ—यहु आत्मा प्रमाणदृष्टिकरि देखिये तब एककाल मेचक कहिये अनेक अवस्थारूप भी है अर अमेचक कहिये एक अवस्थारूप भी है। जातैं याकै दर्शनज्ञानचारित्रकरि तौ तीनपणा है बहुरि आपकरि आपकै एकपणा है। भावार्थ — प्रमाण दृष्टिमैं त्रिकालात्मक वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप देखिये है, तातैं आत्मा भी युगपत् एकानेकस्वरूप देखना ।१६। आगैं नयविवक्षा कहेहैं
विशेष— आत्माके मेचकत्वअमेचकत्वमें देवदत्तके दर्शन आदि वा चित्रज्ञान भी दृष्टांत समझ लेना चाहिये अर्थात् जिसप्रकार देवदत्तके दर्शन ज्ञान चारित्र पदार्थ भिन्न २ प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें वे देवदत्तके स्वभाव होनेसे दूसरे पदार्थ नहीं उसीप्रकार आत्माके दर्शन आदि जुदे जुदे मालुम पडते हैं और उनसे वह तीन स्वरूप जान पडता है परन्तु ये उसके स्वभाव ही हैं भिन्न पदार्थ नहीं इसलिये वह एकही स्वरूप है। तथा हरा पीला काला आदि रंगोंका समूह चित्र (चितकबरा) कहा जाता है तो जिस प्रकार वहां जुदे जुदे रंगोंकी अपेक्षा की जाय तो अनेक स्वरूपता और समूहकी अपेक्षा की जाय तो एक रूपता सिद्ध होती है उसीप्रकार दर्शन आदिकी भिन्न २ विवक्षासे आत्मा अनेकरूप सिद्ध होता है और वे आत्मासे जुदे पदार्थ नहीं उसीके स्वभाव हैं ऐसा निश्चलरूपसे विचारनेपर आत्मा एकरूप ही निश्चित होता है ॥१६॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

सं० टी०—आत्मा, एकोऽपि—चैतन्यकस्वभावेनाद्वितीय., व्यवहारेण—व्यवहारदृशाया, मेचकः—नाना-स्वभावः, त्रिस्वभावत्वात्—त्रय.—दर्शनादिलक्षणा, स्वभावा यस्य तस्य भावस्तत्त्व तस्मात् त्रिस्वभावत्वा। किं कृत्वा ? त्रिभिः—त्रिसंख्याकै, दर्शनज्ञानचारित्रै.—आत्मश्रद्धानावबोधानुचरण. ॥ १७ ॥

अर्थ—व्यवहारदृष्टिकरि देखिये तब आत्मा एक है तौऊ तीन स्वभावपणाकरि मेचक कहिये अनेकाकाररूप है। जातैं दर्शन ज्ञान चारित्र इनि तीन भावनिकरि परिणमे है ॥ भावार्थ—शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि आत्मा एक है इस नयकूं प्रधानकरि कहिये तब पर्यायार्थिक नय गौण भया, सो एक कूं तीनरूप परिणमता कहना सोही व्यवहार भया, असत्यार्थ भी भया ऐसे व्यवहारनयकरि दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामकरि मेचक कहा है ॥१७॥ अब परमार्थनयकरि कहे हैं—

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

सं० टी०—तु—पुन., आत्मा एककः—एक इति संज्ञा यस्य स, संज्ञा या कप्रत्ययविधानात्। अथवा एक एव, एककः, परमार्थेन—द्रव्यादेशतया, अमेचक.—अखंडैकस्वभाव.। केन ? व्यक्तेत्यादि—व्यक्त—स्पष्ट, तच्च तज्ज्ञातृत्वं—बोधकत्वं तदेव ज्योतिस्तत्त्वेन कृत्वा। कुत. ? सर्वेत्यादि—सर्वे च ते भावांतराश्च अन्यपदार्था तान् ध्वंसयति विनाशयति ततो विविक्तो भवतीत्येवं शील. स्वभावो यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ १८ ॥ अथात्मनः साध्य प्रतिफलतं—

अर्थ—परमार्थ जो शुद्धनिश्चयनय ताकरि देखिये तब प्रगट ज्ञायकज्योतिमात्रकरि आत्मा एकस्वरूप है। जातैं याका शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि सर्वही अन्यद्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्ततें भये विभाव, तिनिका दूरि करनेरूप स्वभाव है, यातैं अमेचक है, शुद्ध एकाकार है। भावार्थ—भेददृष्टिकूं गौण करि अभेददृष्टिकरि देखीये तब आत्मा एकाकार ही है, सो ही अमेचक है॥ १८॥ आगैं प्रमाणनयकरि मेचक अमेचक कह्या सो इस चिंताकूं मेटि, जैसैं साध्यकी सिद्धि होय तैसैं करना यह कहे हैं—

विशेष—स्पष्ट भाव इस श्लोकका यह है कि अखंड ज्ञानका धारक, समस्त कर्मोंसे रहित, एक, शुद्ध ही यह आत्मा परभाव और परभावोंके विकारोंसे रहित होनेके कारण शुद्धनिश्चयनयसे अमेचक कहा जाता है॥ १८॥

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥ १९

सं टी—आत्मन.–चिद्रूपस्य,मेचकामेचकत्वयो –एकत्वानेकत्वयो–शुद्धत्वाशुद्धत्वयोर्वा, चिन्तयैव–चिन्तनेनैव, विचारणेनेत्यर्थ ,अलं पूर्यतां,तद्विचारणे न किमपीत्यर्थः। तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः? दर्शनज्ञानचारित्रैः–आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः साध्यो मोक्षो भव्यात्मना मुक्तेरेव साध्यत्वात् तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यं अन्यथा तत्–श्रद्धानादिनिंतरेण साध्यसिद्धिर्न च–नैव रसांगवत्–यथा उपास्यमानो रसागस्तद्गुणश्रद्धानतत्सेवनानुच णविधानतो रोगी वर्तावच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकं॥ १९॥ अथात्मनस्त्रित्वैकत्वाभ्यामभिन्नत्वेन सर्वमुपपनीपद्यते—

अर्थ—यह आत्मा मेचक है भेदरूप अनेकाकार है, तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है। ऐसी चिंताकरि तो पूरी पडो, साध्य आत्माकी तौ सिद्धि है सो दर्शन ज्ञान चारित्र इनि तीनि भावनिकरि ही है, अन्यप्रकार नाहीं है यह नियम है। भावार्थ—आत्माकी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकरि सिद्धि भया ऐसा शुद्धस्वभाव साध्य है, सो पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनयहीकरि साधिये है, तातैं ऐसैं कह्या है, जो भेदाभेदकी कथनी करि कहा, जैसैं साध्यकी सिद्धि होय तैसैं तैसैं करना, व्यवहारी जन पर्याय ही में समझे हैं। तातैं दर्शनज्ञानचारित्र तीन परिणाम हैं सोही आत्मा है। ऐसैं भेद प्रधानकरि अभेदकी सिद्धि करनी कही॥ १९॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छं।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः २०

सं—टी—अनुभवामः-अनुभवविषयीकुर्म.. किं तत्? इद–मवेद्यमानं सुखादिभिः, आत्मज्योतिः–परं महः. कियंत कालं? सततं–निरतरं, किंभूतं तत्? कथमपि–केनचित्प्रकारेण–रत्नत्रयात्मलक्षणेन; समुपात्तत्रित्वमपि स सम्यक्, उपात्त गृहीतं, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रित्वं त्रयात्मकत्वं येन तत्. ईदृक्तमपि एकताया. चैतन्यैकस्वभावत्वा- सकाशात्, अपतितं–अभिन्नं, आत्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात्. पुनः किं भूतं?

उद्गच्छत्-ऊर्ध्वगमनस्वभावं, उद् ऊर्ध्वं-अग्रेऽग्रे गच्छति जानातीति, उद्गच्छत् विशुद्धकर्मक्षयादनतर, ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात् विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्याच्च। पुन. किं भूत ? अच्छं निर्मल कर्मकर्द..र-हितत्वात्, अनंतेत्यादि-अनतं-विनाशरहित, चैतन्य-चेतनस्वभाव, तदेव चिन्हं लक्षन यस्य, तत्। कुत एतत् अनुभवामः ? यस्मात्-यत कारणात् अन्यथा आत्मानुभवमतरेण, साध्यसिद्धि-साध्यस्य-चिद्रूप-लक्षणस्य, सिद्धि-प्राप्तिः, न खलु न खलु (न खलु) निश्चयेन नैव भवतीत्यर्थ.। वीप्सार्थोयमतिशयेन निषेधकः। अधिकवचन च किंचिदभीष्ट ज्ञापयत्याचार्यस्तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्यसिद्धिर्ना-न्यथा, आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्ति', तदनुभवनमतरेण कदाचित्कचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथानुपपत्ति ॥ २० ॥ अथ तल्लाभलभग स्तौति—

अर्थ—आचाय कहें हैं, जो यह आत्मज्योति है, ताहि हम निरन्तर अनुभवे है कैसा है ? अनंत अविनश्वर जो चैतन्य सो है चिन्ह जाका, काहेते अनुभवे हैं ? जातैं याके अनुभवविना अन्य-प्रकार साध्य आत्माकी सिद्धि नाहीं है। ऐसा नियम है। कैसा है यह आत्मज्योति ? कथंचित्प्रकार अंगीकार किया है तीनपणा जानैं, तौऊ एकपणातैं च्युत न भया है। बहुरि कैसा है ? निर्मल जैसे होय तैसे उदयकूं प्राप्त होता है। भावार्थ—आचार्य कहे हैं कोई प्रकार पर्यायदृष्टिकरि जाकैं तीनपणा प्राप्त है, तौऊ शुद्धद्रव्यदृष्टिकरि जो एकपणातैं नाहीं च्युत भया है, ऐसा आत्मज्योति अनंत चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयकूं प्राप्त होता, ताहि हम निरंतर अनु-भवे हैं। ऐसे कहनेतैं ऐसा भी आशय जानिये, जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है, ते ऐसे ही अनुभव करौ, जैसे हम अनुभवे हैं ऐसे जानना। आगे कोऊ तर्क करे है, जो आत्मा तो ज्ञानतैं तादात्म्यस्वरूप है, जुदा नाहीं, तातैं ज्ञानको नित्य सेवै ही है। ज्ञानका उपासने योग्यपणाकरि याकूं काहेतै शिक्षा दीजिये है ? तहां आचार्य कहे है, जो-यह ऐसे नाहीं है, तातै आत्मा ज्ञानकरि तादा-त्म्यरूप है, तौऊ एक क्षणमात्र भी ज्ञानकूं नाहीं सेवै है। जातैं स्वयंबुद्धत्व-कहिये आपहीकरि जाननेतैं तथा बोधितबुद्धत्व कहिये परके जनावनेकरि याकै ज्ञानकी उत्पत्ति होय है। कै तौ काललब्धि आवै तव आप ही जाणि ले, कोई उपदेश देनेवाला मिलै तब जाणै, जैसे सूता पुरुष कै तो आप ही जागे, कै कोई जगावै तब जगेगा। ऐसे इहां फेरि पूछं हैं, जो ऐसे हैं तो, जाननेका कारण पहली आत्मा अज्ञानी ही है। जातैं सदा ही याकै अप्रतिबुद्धपणा है। आचार्य कहे हैं, यह ऐसे ही है, अज्ञानी ही है ॥२०॥ बहुरि फेरि पूछै हैं, जो यह आत्मा केतै एककाल अप्रतिबुद्ध है सो कहो ? तहां आचार्य कहे हैं—

विशेष—पं० जयचन्द्रजीने उद्गच्छदच्छं इन पदोंका अर्थ उत्तरोत्तर निर्मल होता हुआ उदयको प्राप्त होता है ऐसा किया है और भ० शुभचन्द्रजीने उद्गच्छत्-इसका अर्थ 'ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला या उत्तरोत्तर विशेष ज्ञानवान होता चला जाता है क्योंकि जिस समय समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है उस समय स्वभावसे ही यह ऊर्ध्वगमन करता है अथवा विशुद्धि विशेषसे उत्तरोत्तर ज्ञानमें अधिकता होती जाती है' यह अर्थ किया है-एवं अच्छका अर्थ कर्म-

मलसे रहित बतलाया है। तथा ग्रन्थकारने 'न खलु न खलु' पदोंका दो बार उच्चारण किया है उनसे भट्टारक शुभचन्द्रजीने-अधिकका फल अधिक होता है इस न्यायके अनुसार साध्य-सिद्धि और आत्मानुभवमें तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति-अन्वय व्यतिरेक भी बतलाया है अर्थात् आत्माके अनुभवसे ही मोक्ष प्राप्त होता है बिना उसके अनुभवके मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २० ॥

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनंतभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव २१

स टीका—कथमपि-कृच्छ्रेण-लभन्ते-प्राप्नुवन्ति, ये-भव्याः, कां ? अनुभूतिं-आत्मानुभवनं-आत्ममाहात्म्यं वा, कथं ? अचलितं निश्चलं यथा भवति तथा, कथं लभन्ते ?-कथमपि महता कष्टेन, भवाब्धौ स्वरूपप्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात्। कुतः प्राप्तिः ? स्वतो वा-स्वयमेव, अभ्यंतरात्कर्मोपशमक्षयोपशमादिकारणात्, जातिस्मरण-देवागमदर्शन-जिनबिम्बदर्शन-शरीरादिविघटनदर्शनाद्वा, अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिंतनं तत आत्मस्वरूपप्राप्तेः 'णमो सयंबुद्धाणं' इत्यागमवचनात्। वा-अथवा, अन्यतः-गुरूपदेशात्। किं भूतां तां ? भेदेत्यादि-आत्मशरीरयोर्भेदः-भिन्नत्वं, तस्य विज्ञानं-विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धिः, तदेव मूलकारणं यस्याः सा तां त एव-ये अनुभूतिभावुकास्त एव भव्या नान्ये। स्युः-भवन्ति. सततं-निरन्तरं, अविकाराः-मानसभावादिविकृतिरूपविकाररहिताः, 'विकारो मानसो भावः' इत्यमरः। के ? प्रतीत्यादि-प्रतिफलनं प्रतिबिम्बः आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थः, तेन निमग्ना-अन्तर्लीना, प्रतिभासत्वधर्मेणात्मनोऽनंतत्वं, न तु तदुत्पत्ति-तादात्म्य तदध्यवसायत्वेन, ते च ते भावाश्च, तेषां स्वभावाः-ज्ञानानुभवगुणपर्यायादिलक्षणास्तैः मुकुरवत्-यथा मूर्तस्य मुकुरस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव वह्निज्वालायाः प्रतिभाता ज्वाला, औष्ण्यं च तथा नीरू-पस्यात्मनः स्वपराकारावच्छेदित्वं ज्ञातृत्वं पुद्गलात्मा कर्मनोकर्मेन्द्रियादयो च ॥ २१ ॥ अथ मोहादि नश्यति—

अर्थ—ये पुरुष आपहीतें तथा परके उपदेशतें कोई प्रकारकरि भेदविज्ञान है मूल उत्पत्ति कारण जाका ऐसी अविचल निश्चल अपने आत्माविषै अनुभूतिकूं पावे है, तेही पुरुष आरसे की ज्यों आपमें प्रतिबिंबित भये जे अनंतभावनिके स्वभाव तिनिकरि निरंतर विकाररहित होय हैं, ज्ञानमें ज्ञेयनिके आकार प्रतिभासे तिनिकरि रागादिविकारकूं नाहीं प्राप्त होय हैं ॥२१॥

विशेष—इस श्लोकका खुलासा भाव यह है कि जिस प्रकार स्वच्छ दर्पणमें अग्निका प्रतिबिंब पडता है परन्तु अग्निकी ज्वाला और उष्णता अग्निमें ही रहती है उनसे दर्पण विकृत नहिं बनता उसीप्रकार जिस मनुष्यके, भेदविज्ञान है कारण जिसमें ऐसी अनुभूति प्राप्त होगई है उस मनुष्यके अन्तरंगमें यद्यपि इष्ट अनिष्ट पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं परन्तु उनसे उसकी आत्मामें रागद्वेष आदि विकार नहिं होते ॥ २१ ॥

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।

इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं २२ ॥

सं० टी०—इदानीं-आत्मस्वरूपप्रकाशनध्यानकाले, जगत् विष्टप, मोह-ममेद, अहं अस्य, आसीन्मम पूर्वमिद, अहमेतस्याम, भविष्यति पुनर्ममैतत् एतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूप मोहं त्यजतु-जहातु, किंभूत ? आजन्मलीढ-आससारात्प्रवृत्त । ज्ञान भेदविज्ञानं, रमयतु-आस्वादयतु-ज्ञानादिपर्यायीकरोत्वित्यर्थ । किंभूत तत् ? रसिकानां-शुद्धचिद्रूपरसास्वादकाना, रोचन रुचिकरं, उद्यत्-उदय गच्छत । इह-जगति, क्वापि काले-कस्मिंश्चित्समये, क्षयोपशमविशुद्धचादिलब्धिपंचक सामग्रीसद्भावसमये, किल इति-निश्चित-एकः आत्मा-जीव, अनात्मना-परद्रव्येण-शरीरादिना, साक-सह, तादात्म्यवृत्ति एकत्ववृत्ति, न कलयति-नागीकरोति-तन्मयो न भवतीत्यर्थः कथमपि-केनचित प्रकारेणापि ॥ २२ ॥ अथ मोहत्याजनार्थं देहत्यागन स्थापयति—

अर्थ—जगत् कहिये लोक है सो अनादिसंसारतैं लेकरि आस्वाद्या अनुभया जो मोह ताहि अब तो छोडो । बहुरि रसिकजनको रुचनेवाला उदय होता जो ज्ञान, ताहि आस्वादो । जातैं इस लोकविषैं आत्मा है सो अनात्मा जो परद्रव्य ताकरि सहित काहूही कालविषैं प्रगटपणे तादात्म्यवृत्ति कहिये एकपणा ताहि काहू ही प्रकार करि नाहीं प्राप्त होय है, जातैं, आत्मा एक है, सो अनात्मा जो दूजा अन्यद्रव्य, ताकरि एकतारूप नाहीं होय है । भावार्थ—आत्मा परद्रव्यतै काहु प्रकार कोई कालविषैं एकताका भावकूं नाहीं प्राप्त होय है । तातैं आचार्यने ऐसी प्रेरणा करी है, जो, अनादितै लग्या जो परद्रव्यतैं मोह ताका भेद ज्ञान बताया है सो याका एकपणारूप मोहकूं अबही छोडो, अर ज्ञानकूं आस्वादो, मोह है सो वृथा है, झूठा है, दुःखका कारण है । आगे अप्रतिबुद्धके प्रतिबोधनेके अर्थी व्यवसाय कहिये व्यापार उपाय कहे हैं

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं २३

सं० टी०—अयीति-कोमलालापेऽव्यय, तत्त्वकौतूहली-तत्त्व-परात्मलक्षण, तस्यावलोकने कौतूहली, सन्-भवन् हे मित्रेत्यध्याहार्यं कथमपि केनचित प्रकारेण मायादिप्रकारेण, मृत्वा-च्युत्वा, साक्षान्मरणे तदनंतर तत्क्षणे साक्षात्तत्त्वावलोकनाभावात् । मुहूर्तं-द्विनालिकापर्यंत, मूर्तेः-शरीरस्य, पार्श्ववर्ती-नैकट्यवर्ती, भव, तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थं । अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानंतर, स्व-परमात्मान, अनुभव-अनुभवगोचरीकुरु-स्वध्यानविषय कुर्वित्यर्थ । किं कृत्वा ? समालोक्य-दृष्ट्वा पृथग् भिन्न, विलसत-स्वस्वरूपे विलास कुर्वंत आत्मव्यतिरिक्ताचेतनादिशरीरावस्थाज्ञानादिपरिणतावस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरीभवत्वित्यर्थ, येन पृथक् स्वानुभवनेन, मूर्त्या-शरीरेण साक, सह एकत्वमोहं 'ममेदं शरीर, शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षण मोह, त्यजसि जहासि झगिति तत्काल विलबमतरेणेत्यर्थ. । ननु शरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्य चिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात , अन्यथा महामुनीना तीर्थंकरशरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्तिः, इति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिन योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्यः, इति पद्यमुत्तालयते—

अर्थ—अयि ऐसा कोमल आमन्त्रण संबोधन अर्थमैं अव्यय है, ताकरि कहे हैं—भाई ! तू कथमपि कहिये कोई ही प्रकारकरि बडा कष्टकरि तथा मरिहुकरि तत्त्वनिका कौतूहली हुवा संता, इस शरीरादि मूर्तद्रव्यका एक मुहूर्त दोय घडी पाडोसी होऊ, अर आत्माका अनुभव करि। जाकरि अपने आत्माकूं विलासरूप सर्वपरद्रव्यतै न्यारा देखिकरि इस शरीरादिमूर्तिक पुद्गलद्रव्यकरि सहित एकपणाका मोहकूं शीघ्रही छोडेगा। भावार्थ—जो यह आत्मा दोय घडी पुद्गलद्रव्यतै भिन्न अपना शुद्धस्वरूपकूं अनुभवै तामैं लीन होय,परिषह आये चिगै नाहीं, तौ घातिकर्मका नाशकरि केवलज्ञान उपजाय मोक्षकूं प्राप्त होय। आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है तो मिथ्यात्वका नाशकरि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना तौ सुगम है। तातैं श्रीगुरुनिने यह ही प्रधानकरि उपदेश कीया है।

विशेष—कथमपि मृत्वा यहांपर पं० जयचन्द्रजीने कथमपि अर्थात् किसीप्रकारसे-वडे कष्टसे वा मृत्वा अर्थात् मर कर भी यह अर्थ किया है और भट्टारक शुभचन्द्रजीने कथमपि अर्थात् किसी प्रकार से माया छल कपट आदिसे मृत्वा अर्थात् च्युत्वा-रहित होकर यह अर्थ किया है। मृत्वाके च्युत्वा अर्थ करनेमें यह युक्ति भी दी है कि साक्षात् मरणके होजाने पर उसके बाद तत्त्व का अवलोकन होना असंभव है इसलिये यहां च्युत्वा अर्थ ही युक्तियुक्त है। इन दोनों अर्थोंमें पं० जयचन्द्रजीका अर्थ जरा खटकता है क्योंकि उन्होंने कथमपि और मृत्वा पदको आपसमे न मिलाकर अर्थ किया है जो प्रकृतमें असमंजस सरीखा जान पडता है परन्तु उसका असली भाव 'संसारमें मरणके समान अन्य कोई कष्ट नहीं' यह मानकर ग्रन्थकारने मूर्तिक शरीर आदि पदार्थोंके विचार करने में और आत्माके अनुभव करनेमें अन्य कष्टकी तो क्या बात ? 'यदि किसी प्रकारसे मरण भी हो जाय तथापि' यह है॥ २३॥

कांत्यैव स्नपयंति ये दश दिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णांति रूपेण च ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

स० टी०—ते-प्रसिद्धाः, नाभेयादयस्तीर्थेश्वराः-श्रुतज्ञानलक्षणतीर्थनायकाः वंद्याः, नमस्करणीयाः, ये-भगवंतः, कान्त्यैव-द्युत्या एव-केवलं दश दिशः-ककुभः, स्नपयंति प्रक्षालयंति, स्वकांत्यैव समस्ता दिशः प्रकटयतीत्यर्थः। ये-जिनाः धाम्ना-घातिकर्मक्षयोत्पन्नकोटिसूर्याधिक शरीरतेजसा, उद्दाममहस्विनां-अमर्यादीभूततेजस्विनां, स्वर्ण-रत्न-मुक्ताफलनक्षत्र-विमान-सूर्य-चन्द्र-दीपाग्न्यादीनां, धाम-तेजः, निरुंधंति-निवारयंति, स्वल्पीकुर्वंतीत्यर्थः। तथा चोक्तं—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानं ।
भामण्डलमिव भावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति ॥ १ ॥ इति ।

ये रूपेण कृत्वा जनमन.–त्रिलोकनिवासिप्राणिचित्तं, मुष्णंति हरंति, तच्चित्तार्पणं कुर्वंतीत्यर्थः । किंभूतास्ते ? सुखं उभयो. शर्म यथा भवति तथा, श्रवणयो–कर्णयो., साक्षात्–प्रत्यक्षं, अमृत-वर्मसुधा संसारदुःखापहारित्वात् क्षरत.—स्रवंत', केन ? दिव्येन–अन्यजनातिशायिना, ध्वनिना–तीर्थंकरपुण्यकर्मातिशयविजृंभमाणध्वनिना. पुन. किंभूता. ? अष्टेत्यादि–अष्टाभिरधिकानि सहस्राणि नानि च तानि लक्षणानि वज्र कुशेशय तोरण छत्राकारादीनि तेषा धरा' धारका', ते तथोक्ताः नवशतव्यंजनोपलक्षिताष्टशतलक्षणलक्षितत्वात तथा च सूरयः आचार्या., नया ॥ २४ ॥ अथ कथ कात्येत्यादिशरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवन न युज्यते, इत्युक्ते प्रत्युत्तरयति पद्यद्वयेन—

अर्थ–ते तीर्थंकर आचार्य वंदिवे योग्य है कैसे हैं ते ? अपनी देहकी कांतिकरि तो दशदिशानिकूं स्नपन करे हैं, धोवे है, निर्मल करे है। वहुरि अपने तेजकरि तेजतैं उत्कृष्ट जो सूर्यादिक तेजस्वी तिनिका तेजकूं रोके हैं। वहुरि ते रूपकरि लोकनिके मनकूं हरे हैं। वहुरि दिव्यध्वनिवाणीकरि काननिविषे साक्षात् सुख अमृत वर्षावे हैं। वहुरि एक हजार आठ लक्षणनिको धारे हैं। इत्यादिक तीर्थंकर आचार्यनिकी स्तुति है सो सर्वही मिथ्या ठहरे है। तातैं हमारे तौ यह ही एकांतकरि निश्चयप्रतिपत्ति है, जो आत्मा है सो ही शरीर है पुद्गल द्रव्य है, ऐसा अप्रतिबुद्धने कह्या। तहां आचार्य कहे हैं, जो ऐसा नहीं है–तू नयविभागका जाननें वाला नाहीं है ॥२४॥

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं ।
पिवतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥ २५ ॥

सं० टी०—इद प्रसिद्ध', नगरं पत्तनं, पिवतीव पानं करोति गलतीत्यर्थ', इव उपमाया, किं ? पातालं अधोभवनं, केन ? परिखावलयेन, अतिमात्रं निम्नत्वात, किंभूतं ? प्राकारेत्यादिः प्राकारेण शालेन, कवलित कवलीकृतं, व्याप्तमित्यर्थ., अम्बर नभ, येन तत्' अत्युच्चैस्तरत्वात् । उपेत्यादि–उपवनाना वाटिकाना, राजिः पङ्क्तिस्तया निगीर्णं व्याप्त, भूमितलं पृथ्वीतल, येन तत् । इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारादिस्वरूपाभावात् वर्णनं नो भवति । तथैव—

अर्थ–यह नगर है सो कैसा है ? प्राकार कहिये कोट, ताकरि तो ग्रस्या है आकाश जाने ऐसा है। भावार्थ–कोट ऊंचा वहुत है। वहुरि उपवन कहिये वाग, तिनिकी राजी कहिये पंक्ति, तिनिकरि निगल्या है भूमितल जाने ऐसा है, भावार्थ–सर्वतरफ वागनितैं पृथ्वी छायरही है। वहुरि कैसा है ? कोटके चौगिरद खाईका वलयकरि मानूं पातालकूं पीवै ही है। ऐसे नगरका वर्णन करते संते, राजा याकै आधार है तौऊ कोट वाग खाई आदि सहित राजा नाही हैं। तातैं राजाका वर्णन याकरि नाहीं होय है। तैसेही तीर्थंकरका स्तवन, शरीरका स्तवन कीये नाही होय है, ताका भी काव्य है।

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेंद्ररूपं परं जयति ॥२६॥

सं टी०—जिनेंद्ररूपं-सर्वज्ञरूपं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किं भूत ? नित्यं यावच्छरीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थः, अवीत्यादि अविकारेण-नेत्रहस्तादिविकृत्यभावेन, सुस्थितानि सर्वशरीरांगानि सर्वावयवा यस्य तत्, पुन' किंभूत ? अपूर्वेत्यादि-अपूर्वं अन्यजीवासंभवि, सहजं अकृत्रिमं, स्वाभाविकमित्यर्थः, लावण्यं लवणिमा यस्य तत्, समुद्रमिव अक्षोभं न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभं । इति शरीरस्तूयमाने तीर्थंकर-केवलि पुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वांगादिगुणाभावात स्तवनं न स्यात् ॥ २६ ॥ यद्येवं तीर्थंकराचार्य स्तुतिः समस्ताप्यप्रशस्ता स्यात् ततः शरीरात्मनोरैकांतिकी प्रतिपत्तिः ? नैवं नयविभागाभावात् । तं नयमुल्लेखयति—

अर्थ—जिनेंद्रका रूप है सो उत्कृष्ट जैसा होय तैसैं जयवंत वर्तै है—कैसा है ? नित्य ही अविकार अर भलैंप्रकार सुखरूप तिष्ठ्या है सर्वांग जामैं, वहुरि कैसा है ? अपूर्व स्वाभाविक है अर जन्महीतैं लेकरि उपजा है लावण्य जामें । भावार्थ—सर्वकूं प्रिय लागे है, वहुरि कैसा है ? समुद्रकी ज्यों क्षोभरहित है, चलाचल नाहीं है । ऐसैं शरीरका स्तवन करते भी तीर्थंकर केवलीपुरुषके शरीरका अधिष्ठातापणा है, तौऊ सुस्थित सर्वांगपणा अर लावण्यपणा आत्मा का गुण नाही । तातैं तीर्थंकर केवलीपुरुष के इनि गुणनिका अभावतैं याका स्तवन न होय । अब जैसे तीर्थंकर केवलीकी निश्चयस्तुति होय तैसे कहे है-तहां प्रथम ही ज्ञेयज्ञायकके संकर-दोष आवे ताका परिहार करि स्तुति कहे हैं । अब इहां इस निश्चयव्यवहाररूप स्तुतिके अर्थके कलशरूप काव्य कहे हैं—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुःस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थंकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

सं० टी०—कायात्मनोः देहदेहिनो', एकत्वं कथंचिदेकता, व्यवहारतः, व्यवहारनयमाश्रित्य, लोकव्यवहारं वा ' आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कंधबंधो देहः, कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा, पुनः निश्चयात् निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात् । त्विरयधिकपदं विशेषज्ञापकं, निश्चयाद्धि देहदेहिनोः अनुपयोगोपयोगरूपयो', कनककलधौतयोः पीतपांडुत्वस्वभावयोरिव, अत्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेर्नानात्वं, एवं किल नयविभाग इति अतः कारणात् वपुषः शरीरस्य स्तुत्या स्तवनेन, शरीरगुणवर्णनेन, नुः आत्मनः, स्तोत्रं स्तवनं, अस्ति भवति, कुतः व्यवहारत व्यवहारनयात् तत् स्तोत्रं निश्चयात्—परमार्थतः,न हि । ननु आत्मस्तोत्रं कथं ? निश्चयतः—परमार्थतः चितः—चिद्रूपस्यात्मनः,स्तोत्रं स्तवनं गुणवर्णनमित्यर्थः भवति—अस्ति, कथं ? चित्स्तुत्यैव चिद्रूपस्यामूर्तोखंडज्ञानदर्शनाद्यनंतगुणस्तवनेन, एवं निश्चयस्तुतिरेव,आत्मस्तुतिः,एवं सति सा—निश्चयस्तुतिः स्तुतिर्भवेत । अतः आत्मशरीरयोर्भि—

न्नत्वसमर्थनात्, एकत्वं अभिन्नता न भवतीत्यर्थः कयो ? आत्मागयोः चिद्रूपदेहयो, कुतः ? तीर्थेत्यादि तीर्थकरस्य नाभेयादिजिनस्य, स्तव. अष्टप्रातिहार्यादिगुणवर्णन, तीर्थकरशरीरगुणवर्णनमेव परमार्थ—स्तवनमिति प्रत्युत्तरबलाधानात् एकत्वं न कदाचन ॥ २७ ॥ अथैकत्वनिरासमुपसंहरति—

अर्थ--कायकै अर आत्माकै व्यवहारनयकरि एकपणा है। बहुरि निश्चयनयकरि एकपणा नाहीं है। याहीतें शरीरके स्तवनतें आत्मा पुरुषका स्तवन व्यवहारनयकरि भया कहिये, अर निश्चयतें न कहिये, अर निश्चयतें तौ चैतन्यके स्तवनतें ही चैतन्यका स्तवन होय है। सो चैतन्यका स्तवन इहां जितेंद्रिय, जितमोह, क्षीणमोह ऐसैं कह्या तैसे होय है। तातै यह सिद्ध भया-जो अज्ञानीनैं तीर्थंकरके स्तवनका प्रश्न कीया था ताका यह नयविभागकरि उत्तर दिया, ताके बलतैं आत्माकै अर शरीरकै एकपणां निश्चयतैं नाहीं है॥ २७ ॥ फेरि याही अर्थके जाननेंकरि भेदज्ञानकी सिद्धि होय है ऐसे अर्थरूप काव्य कहे है–

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव २८

सं० टी०—अद्य-इदानीं, एव-निश्चयेन, कस्य-पुरुषस्य, बोधः भेदविज्ञान, बोध-बुध्यते-जानातीति बोधः-आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचारः, त न अवतरति-न प्रादुर्भवति ? अपि तु प्रादुर्भवत्येव। किंभूतः सः ? स्वेत्यादि —स्वस्य-आत्मनः, रस. ज्ञानशक्तिविशेषः, तस्य रभसः-वेगः, तेन कृष्टः-आकृष्टः, विशदीकृत इत्यर्थः। भूयः किंभूतः ? प्रस्फुटन्-प्रकर्षेण निर्मलीभवन्-प्रकटीभवन्वा, एक एव नान्यः, बोधं विना आत्मान प्रत्यवतरयितु न कश्चित्क्रमः, इत्यर्थः। क सत्या-आत्मेत्यादिः-आत्मा च कायश्च आत्माकायौ तयोरेकता-ऐक्य, तस्यां, उच्छादितायां-निराकृतायां सत्यां, कथा ? नयेत्यादि नयस्य—निश्चयव्यवहारलक्षणस्य विभजन-विभागः, तस्य युक्तिः-दर्शनोपन्यासः, तया, कैः ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिचितं, परिचयीकृतं तत्त्व-शुद्धचिद्रूपलक्षण यैस्ते, इति परिचिततत्त्वास्तैः ॥ २८ ॥ अथ यावत्पर्यंत परभावाभावस्तावत्स्वानुभव इति सतन्यते—

अर्थ–ऐसैं परिचयरूप कीया है वस्तूका यथार्थस्वरूप जिनिनैं ऐसै मुनीनें आत्मा अर शरीरके एकपणाकूं नयके विभागकी युक्तिकरि अत्यंत उच्छादन कीया निपेध्या है। याकै होतैं तत्काल ज्ञान है सो यथार्थपणाकूं कौन पुरुषके अवतार न धरै, अवश्य अवतार धरैही धरै॥ कैसा होयकरि ? अपना निजरसका वेगकरि खेंच्या हूवा प्रगट होता एक स्वरूप होयकरि॥

भावार्थ–निश्चयव्यवहारनयके विभाग करि आत्माका अर परका अत्यंत भेद दिखाया, सो याकूं जानिकरि, ऐसा कौन पुरुष है जाकै भेदज्ञान न होय, होय ही होय जातैं ज्ञान है सो अपना स्वरस करि आप अपना रूप जानै, तब अवश्य आप न्यारा ही अपने आत्माकूं जनावै है॥ इहां कोई दीर्घसंसारी ही होय तो ताका कछू कहना है नाही॥ ऐसे अप्रतिबुद्धने कह्या था, जो "हमारे तो यह निश्चय है, जो देह है सो ही आत्मा है' ताका निराकरण किया। आगैं कहे हैं, जो, ऐसैं यहू अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव अनादिके मोहके संतानकरि निरूपण कीया जो आत्माका

अर शरीरका एकपणा, ताका संस्कारपणाकरि अत्यंत अप्रबुद्ध था, सो अब प्रगट उदय भया है तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति जाकै "जैसे कोई पुरुषके नेत्रमैं विकार था, तब वर्णादिक अन्यथा दीखे थे, अर जब विकार मिटै, तब जैसाका तैसा दीख्या तैसैं प्रगट उघड्या है पटलस्थानीय आवरणकर्म जाका, ऐसा भया संता प्रतिबुद्ध भया, तब साक्षात् देखनेवाला आपकूं आपहीं करि अर ज्ञान श्रद्धान कर अर तिसकूं आचरण करनेका इच्छक भया संता पूछै है,जो, इस आत्मारामके अन्यद्रव्यनिका प्रत्याख्यान कहिये त्यागना, सो कहा होय ? ऐसैं पूछते संते आचार्य कहे है जो ऐसैं कहना—

विशेष—बोधं इस द्वितीयांत पदका यथार्थपना अथकर पं० जयचंदजीने कस्य बोधः बोधं न अवतरति-इस वाक्यका अर्थ 'ज्ञान है सो यथार्थपणाकूं कौन पुरुषके अवतार न धरै अवश्य अवतार धरै ही धरै' यह किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने 'बोधं' इसका आत्मा अर्थ कर 'किसकी आत्मामें सम्यग्ज्ञान अवतार नहिं लेता'उस वाक्यका यह अर्थ किया है। हमे भट्टारक शुभचंद्रजी का 'बोधं' का आत्मा अर्थ प्रकृतोपयोगी और विशेष महत्त्वका जान पडता है ॥ २८ ॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

सं० टी०—यावत्—यावत्पर्यंतं, अनवं—सत्यं यथा भवति तथा, अत्यंतवेगात्—अतिशीघ्रं, अपरेत्यादिः अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः—अन्यपदार्थाः, तेषां त्यागः—त्यजनं, तदुल्लेखाय यो दृष्टांतः, तत्र दृष्टिः, यथाहि कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमंबरमादाय सभ्रांत्यात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्, अन्येन तद्वस्त्रस्वामिना तद्ञ्चलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मक्षु प्रतिबुद्ध्यस्व, अर्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामिकमिति असकृद्वचः शृण्वन्, अखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य परकीयमिति निश्चित्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुंचति तथा ज्ञातापि परभावान् सभ्रांत्या स्वप्रतिपत्त्यात्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावे विवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खल्वयमात्मा,इत्यसकृत् श्रुतिं श्रौतीं शृण्वन् अखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुंचति परभावानिति दृष्टांतदृष्टिः, वृत्तिं परभावप्रवृत्तिं प्रति न अवतरति—अवतरणं न करोति तावत्पर्यंत इयमनुभूतिः—आत्मानुभवज्ञानं, स्वयं—स्वतः, आविर्बभूव—प्रकटीबभूव, झटिति—शीघ्रं । किंभूता ? विमुक्ता त्यक्ता, कैः ? अन्यदीयैः,परकीयैः सकलभावैः सकलचेतनाचेतनपदार्थैः, ॥ २९ ॥ अथ स्वरसं रसामीति रचयति—

अर्थ—यह परभावके त्यागके दृष्टांतकी दृष्टि है सो " पुरानी न पडे ऐसैं जैसैं होय तैसैं " अत्यंत वेगतैं जेतैं प्रवृत्तिकूं नाहीं प्राप्त होय ता पहलैंही तत्काल सकल अन्यभावनिकरि रहित आपही यह अनुभूति तौ प्रगट होती भई । भावार्थ—यह परभावका त्यागका दृष्टांत कह्या, तापरि दृष्टि पडै ते पहलैं समस्त अन्यभावनितैं रहित अपना स्वरूपका अनुभवन तौ तत्काल होय गया, जातैं यह प्रसिद्ध है—जो, वस्तूकूं परकी जानें पीछैं ममत्व रहै नाहीं ॥ आगैं या

अनुभूति तैं परभावका भेदज्ञान कौन प्रकार भया ऐसी आशंकाकरि प्रथम तौ भावक मोह कर्मका उदयरूप भाव ताका भेद विज्ञानका प्रकार कहैं हैं—

विशेष—अन्यभावका दृष्टांत यह है— कोई पुरुष धोबीसे अन्यका वस्त्र लाकर और भ्रमसे उसे अपना मान ओढकर सो रहा था और उसे जरा भी इसबातका ज्ञान न था कि यह किसी दूसरेका है, इतने ही मे जिसका वह वस्त्र था वह पुरुष आया और वस्त्रका पल्लड खींचकर और सोते हुये पुरुषको जगाकर इसप्रकार कहने लगा—जल्दी उठो इसवस्त्रको मुझे दो यह वस्त्र मेरा है, बदल गया है। तो जिसप्रकार वह सोता हुआ मनुष्य उसके बार बार उठो उठो ये वचन सुनकर और समस्त चिह्नोंसे भले प्रकार परीक्षापूर्वक जानकर कि यह वस्त्र दूसरेका है तत्काल छोड देता है उसीप्रकार यह आत्मा भी परपदार्थोंको अपना मानकर अज्ञानी हैं मोहकी नींदमे सो रहा है जब श्रीगुरु मोहभावका विवेक कराकर इसे परपदार्थोंसे रहित एकाकी बताते है और यह उपदेश देते है कि जल्दी प्रतिबुद्ध हो, यह आत्मा परभावोंसे रहित एक है तब वह 'आत्मा एक है' 'आत्मा एक है' ये शब्द बार बार सुनकर और परीक्षापूर्वक परपदार्थोंको निश्चय कर पूर्ण ज्ञानवान हो पर पदार्थोको छोड देता है ॥ २९ ॥

सर्वतः स्वरसनिर्भरभाव चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

स० टी०—इह—जगति, अहं—आत्मा, स्वयं—आत्मना, स्वं—आत्मानं चेतये—अनुभवामि, उपलभे जानामीत्यर्थः। किंभूतमात्मानं ? सर्वतः—सामस्त्येन, स्वेत्यादि —स्वस्य—आत्मनः, रसः—रुचिः—अनुभवनमिति यावत्, तेन निर्भरो भावः स्वभावो यस्य त, मम—आत्मनः कश्चन—कोऽपि, शरीरादौ मोहः—ममत्वं नास्ति नास्ति—पुनः पुनर्न विद्यते, अस्मि—भवाम्यहं, कीदृक्षः ? शुद्धेत्यादि शुद्धा निर्मला कर्मकलंकराहित्यात् सा चासौ चित् चेतना तस्याः घनो—निविड स चासौ, महोदधिः महासमुद्रश्च, घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात् ॥ ३० ॥ अथात्मपरद्रव्ययोर्विवेकं तंतन्यते—

अर्थ—मैं इसलोकमें आपहीकरि अपने एक आत्मस्वरूपकूं अनुभवूं हूं। कैसा है मेरा स्वरूप सर्वतः कहिये सर्वांगकरि अपने निजरस जो चैतन्यका परिणमन, ताकरि पूर्ण भया ऐसा है भाव जामैं, याहीतैं यह मोह है सो मेरा किछू भी लागता नाहीं है। याके अर मेरे किछू भी नाता नाहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्यका 'घन' कहिये समूहरूप तेजः पुंजका निधि हूं। भावक-भावका भेदकरि ऐसे अनुभवन करे ॥ ३० ॥

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

सं० टी०—अयं-उपयोगः-ज्ञानदर्शनोपयोगः, स्वयं-स्वरूपेण आत्मा-चिद्रूप एव प्रवृत्त-प्रवृत्तिं प्राप्त, क्व सति ? इतिपूर्वोक्तप्रकारेण, सर्वैः-समस्तैः, अन्यभावैः-धर्माधर्मादिलक्षणैः परपदार्थैः, सह-साकं, विवेके-पृथग्भावे जाते सति, किंभूतः आत्मा ? विभ्रद्-दधद्, क ? एक-अद्वितीयं, आत्मानं-स्वस्वरूप, भूयः किंभूतः ? कृतपरिणतिः-कृता परिणतिः-परिणमनं-एकता, यस्य सः, कैः सह ? दर्शनज्ञानवृत्तैः तच्छ्रद्धानबोधचरित्रैः, आत्मनस्तन्मयत्वात्, कीदृक्षैस्तैः ? प्रकटितपरमार्थैः-परमः उत्कृष्टः, सर्वप्रकाशकत्वात् स चासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्, प्रकटितः-प्रकाशं नीतः परमार्थो येन स तथोक्तः, भूयः किंभूतः ? रामः-रमणीयः,-मनोज्ञः, जगच्छ्रेष्ठत्वात् ॥ ३१ ॥ अथ ज्ञानसमुद्रे मज्जनादिना जगदुद्युज्यते—

अर्थ—ऐसैं पूर्वोक्तप्रकार भावकभाव अर ज्ञेयभावनितैं भेदज्ञान होतैं, सर्वही जे अन्यभाव तिनितैं भिन्नता भई, तब यह उपयोग है सो, आपही अपने एक आत्माहीकूं धारता संता प्रगट भया है परमार्थ जिनिका, ऐसैं जे दर्शनज्ञानचारित्र तिनिकरि करी है परणति जानें, एसा हुवा संता, अपना आत्माराम जो आत्मारूपी बाग क्रीडावन, ताहिविषैं प्रवर्तै है, अन्य जागा न जायगा न जाय है। भावार्थ—सर्वपरद्रव्य तथा तिनितैं भये जे भाव तिनितैं भेद जान्या तब उपयोगकूं रमनेकूं आत्मा ही रह्या, अन्य ठिकाना रह्या नाहीं। ऐसे दर्शनज्ञानचारित्रतैं एकरूप भया आत्माहीविषैं रमे हैं ऐसा जानना ॥ आगैं ऐसे दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणाया जो आत्मा ताके स्वरूपका संचेतन कैसा होय है ऐसा कहता संता आचार्य इसकथनकूं संकोचै है समेटै है—

विशेष—मूलमें 'प्रकटितपरमार्थैः' यह पद 'दर्शनज्ञानवृत्तैः' का विशेषण है, संस्कृत टीकाकारने भी ऐसा ही किया है परन्तु जिससमय वे इस पदका समासपूर्वक अर्थ करने लगे हैं उससमय उन्होंने उसे प्रथमांतपद मान 'आत्मा' का विशेषण कर दिया है। नहिं जानपडता ऐसा क्यों हुआ ? अथवा उन्हें प्रथमांत पद ही मिला था तो 'आत्मा' का ही विशेषण करना योग्य था फिर 'दर्शनज्ञानवृत्तैः' का विशेषण क्यो किया ? यदि दोनों पाठ मिले थे तो उन्हें पद्यांतर लिखकर स्पष्ट लिखदेना चाहिये था फिर ऐसा क्यों नहिं किया क्योंकि "प्रकटितपरमार्थैः' इस पदको तृतीयांत वा प्रथमांत दोनोंके माननेमें दोष नहिं आसकता। इसलिये हमारी समझमें लेखक महाशय ही यहां एक दो पंक्ति भूल गये हैं। क्योंकि इतनी छोटी अशुद्धि भट्टारक शुभचंद्रजी सरीखे विद्वानसे होना असंभव मालूम पडती है पं० जयचंद्रजीने तो 'प्रकटितपरमार्थैः को 'दर्शनज्ञानवृत्तैः' काही विशेषण किया है। दूसरे भट्टा० शुभचंद्रजीने 'आत्माराम एव' यहांपर आत्मा पदको जुदाकर और राम को प्रथमांत मान उसका रमणीय अर्थ कर दिया है और पं० जयचंद्रजीने 'आत्मारामे' ऐसा सप्तम्यंत पद मानकर आत्मारूपी क्रीडावनमें यह अर्थ किया है यद्यपि यहां पदोंकी ओर ध्यान देनेसे पं० जयचंद्रजीका अर्थ उत्तम प्रतीत होता है और भट्टारक शुभचंद्रजीका अर्थ खटकतासा है परंतु भट्टारक शुभचं-

द्रजीका अर्थ बडा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने ' उपयोगः, राम आत्मा एव प्रवृत्तः ' अर्थात् उपयोग अतिशय सुन्दर आत्मस्वरूपही हो गया इसप्रकार निश्चयनयका अवलंबन किया है जोकि प्रकरणमें सर्वथा कार्यकारी है। और पं० जयचंद्रजीने ' उपयोगः, आत्मारामे ' अर्थात् उपयोग आत्मारूपी क्रीडावनमें प्रवृत्त हुआ इसप्रकार व्यवहार नयका आश्रय किया है क्योंकि उपयोग और आत्माकी इन्होने यहां भेदविवक्षा मानी है ॥ ३१ ॥

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ३२

स०—टी०—उन्मग्नः–उच्छलितः,प्रकटीभूत इति यावत्,कोसौ ? एषः–अवबोधसिंधुः–अवबोधो ज्ञान। स एव सिंधुः, अनंतगुणाधारत्वात्। किंकृत्वा ? आप्लाव्य–प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः,का ? विभ्रमेत्यादिः–विभ्रमो ममेदमिति मोहः, मद्यवद्भ्रमकारकत्वात्, स एव तिरस्करिणी–यवनिका ता कटकादिभित्तिःस्पर्शत्वेन, उभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यत्वात् जलेन सस्यविनाश्यत्वात्, कथ ? भरेण–अतिशयेन, मज्जतु–मज्जन कुर्वंतु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य, के ? अमी समस्ताः–सर्वे लोकाः–भव्यजनाः, कथं ? निर्भरं–अत्यर्थं, सममेव–युगपदेव, क्व ? शांतरसे–शांत.–उपश० त्वं, स एव रसः–पानीयं, शाम्यस्य पापप्रक्षालनशीलत्वात्, आलोकं त्रिलोकशिखरपर्यंतं, उच्छलति–ऊर्ध्वगमनं कुर्वति सति–आलोक व्याप्ते सति, इत्यर्थः। अन्यवारिधिजलस्योच्छलनशीलत्वात् ॥ ३२ ॥

अर्थ–यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है सो विभ्रमरूप आडी चादर थी ताकूं समूलतैं डवोयकरि दूरि करि, आप सर्वांग प्रगट भया है। सो, अब समस्त लोक हैं ते याके शांतरसविषैं एकैकाल ही अतिशयकरि मग्न होऊ। कैसा है शांतरस ? समस्तलोकतांई उछल्या है ॥ भावार्थ–जैसे समुद्रके आडा किछू आवै तब जल दीखै नाहीं, अर जब आड दूरी होय, तब प्रकट होय लोककूं प्रेरणा योग्य होय, जो या जलविषैं सर्व लोक स्नान करौ। तैसैं यह आत्मा विभ्रमकरि आच्छादित था, तब याका रूप न दीखे था, अब विभ्रम दूरि भया तब यथार्थस्वरूप प्रगट भया अब याके वीतराग विज्ञानरूप शान्तरसविषैं एककाल सर्व लोक मग्न होऊ। ऐसैं आचार्य प्रेरणा करी है अथवा ऐसा भी अर्थ है–जो आत्माका अज्ञान दूरि होय तब केवलज्ञान प्रगट होय है, तब समस्त लोकमें तिष्ठते पदार्थ एकैकाल ज्ञानविषैं आय झलके हैं ताको सर्व लोक देखो। ऐसें इस समयप्राभृतग्रंथविषै पहला जीवाजीवाधिकारविषैं टीकाकार पूर्वरंगस्थल कह्या।

इहां टीकाकारका आशय ऐसा, जो इस ग्रंथकूं अलंकारकरि नाटकरूप वर्णन कीया है, सो नाटकविषैं पहलैं रंगभूमि अखाडा रचिये है। तहां देखनेवाला नायक तथा सभा होय है, अर नृत्य करनेवाले होय हैं ते अनेक स्वांग धरै हैं। तथा शृंगारादिक आठ रसका रूप दिखावे हैं। तहां शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत ए आठ रस हैं ते

लौकिकरस हैं। नाटकमें इनिहीका अधिकार है। नवमा शांतरस है सो अलौकिक है। सो नृत्यमें ताका अधिकार नाहीं है। इनि रसनिके स्थायीभाव, सात्विकभाव, अनुभाविकभाव, व्यभिचारिभाव तथा इनिकी दृष्टि आदिका वर्णन रसग्रंथनिमें है सो तो तहांते जान्या जाय, अर सामान्यपणें रसका यह स्वरूप है-जो, ज्ञानमें जो ज्ञेय आया, तिसतैं ज्ञान तदाकार भया, तातैं पुरुषका भाव लीन होजाय, अन्य ज्ञेयकी इच्छा न रहै सो रस है सो आठ रसका रूप नृत्यमें नृत्य करनेवाले दिखावे हैं। अर इनिका कवीश्वर वर्णन करैं जब अन्यरसकूं अन्यरसके समान करि भी वर्णन करैं तब अन्यरसका अन्यरस अंगभूत होनेतैं, तथा रसनिके भाव अन्यभाव अंग होनेतैं, रसवत् आदि अलंकारकरि नृत्यका रूप करि वर्णन किया है ॥

तहां प्रथम ही रंगभूमिस्थल कीया, तहां देखनेवाला तो सम्यग्दृष्टि पुरुष है, तथा अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुष हैं तिनकी सभा है, तिनकूं दिखावे है। अर नृत्य करनेवाले जीव अजीव पदार्थ है। अर दोऊका एकपणा तथा कर्तृकर्मपणा आदि तिनिके स्वांग हैं। तिनिमें परस्पर अनेकरूप होय है। ते आठ रसरूप होय परिणमे है, सो तो इनि सर्व स्वांगनिकूं कर्मकृत जाणि शांतरसहीमैं मग्न है, अर मिथ्यादृष्टि जीवाजीवका भेद न जाणे हैं। यातैं इनि स्वांगनिहींकूं सांचे जाणि इनिविषैं लीन होय हैं। तिनिकूं सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखाय तिनिका भ्रम मेटि शांतरसमें तिनिकूं लीन करि सम्यग्दृष्टि करे है। ताकी सूचनारूप रंगभूमिके अंतमें आचार्यने "मज्जंतु निर्भर०" इत्यादि यह काव्य रचा है। सो आगैं जीव अजीवका स्वांग वर्णन करसी ताकी सूचनारूप यह काव्य है ऐसा आशय सूचे है। सो इहांताई तो रंगभूमिका वर्णन भया ॥

नृत्य कुतूहलतत्त्वको मरियवि देखो धाय।
निजानंदरसमें छको आन सबै छिटकाय ॥

इति समयसारवृत्ति' अस्याः परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयाया व्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः ।
इसप्रकार पं० जयचन्द्रजीकृत परमाध्यात्मतरंगिणीकी भाषा वचनिकामें पूर्वरंगस्थल समाप्त हुआ ॥१॥



अथ ज्ञानविलासमाख्याति ।

आगैं जीवद्रव्य अर अजीवद्रव्य ए दोऊ एक होय करि रंगभूमिमें प्रवेश करे हैं। तहां आदिविषैं मंगलका आशय लेकर आचार्य ज्ञानकी महिमा करे हैं। जो सर्ववस्तुका जाननहारा यह ज्ञान है सो जीव अजीवके सर्वस्वांगनिको नीके पहिचाने है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट होय है, इस अर्थरूप काव्य कहे है—

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्य (य) यत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

सं. टी.—ज्ञानं-शुद्धात्मबोधः, विलसति-विलास कुरुते, तदित्याध्याहारः, यत् ज्ञान विशुद्धं-निर्मल, कुतः? आसंसारेत्यादि.-आससार-पचससारमभिव्याप्येत्याससारं निबद्धानि—बंधन प्राप्तानि, तानि च तानि बधनानि च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणानि, तेषां विधि'-विधान तस्य ध्वस.-विनाशः, तस्मात्, पुन' किंभूतं? स्फुटत्-प्रादुर्भवत्, किंकृत्य? प्रत्याय्य प्रतीतिगोचरान्कृत्वा, कान्? पार्षदान्-सभापतीन्, कया? जीवेत्यादि-जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तयोर्विवेकः-पृथक्करण, स एव पुष्कला विस्तीर्णा, दृक्-दृष्टिस्तया, किंभूतं? आत्माराम-आत्मा-चिद्रूपः, स एव आरामः-क्रीडावन-निवासस्थानं, यस्य तत्, पुनः किंभूतं? अनंतधाम-अनंतं-अतातीत धाम-तेजः, यस्य तत्, नित्योदितं-नित्य-निरन्तरं, उदितं उदय-प्राप्त, केन अध्यक्षेण सकलकेवलालोकप्रत्यक्षेण, महसा-तेजसा, लोकातिक्रांतप्रकाशेन, धीरोदात्तं-धीरं निष्कपं धैर्यादिगुणयुक्तत्वात् तच्च तदुदात्तं च-उत्कटं, धीरोदात्तं, अनाकुलं-आकुलतारहित, मन'-भव्यचित्तं, ह्लादयत्-हर्षोद्रेक कुर्वत् ॥ ३३ ॥ अथ परविवेकेनोत्साहयति—

अर्थ—ज्ञान है सो मनकूं आनंदरूप करता संता प्रगट होय हैं। कैसा है? 'पार्षद' कहिये जीवाजीवके स्वांगकूं देखनेवाले महंत पुरुष तिनिकूं, जीव अजीवका भेद देखनेवाली जो वडी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि, ताकरि भिन्नद्रव्यकी प्रतीति उपजावता संता है। बहुरि अनादिसंसारतैं दृढ बंध्या है बंधन जाका ऐसा जो ज्ञानावरण आदि कर्म, ताके नाशतैं विशुद्ध भया है, स्फुट भया है। जैसैं फूलकी कली फूलैं तैसैं विकाशरूप है। बहुरि कैसा है? आत्मा ही है आराम कहिये रमनेका क्रीडावन जाकै, अनंतज्ञानका आकार आनि झलके है, तौऊ आप अपने स्वरूपहीमें रमे है बहुरि अनंत है धाम कहिये प्रताप जाका। बहुरि प्रत्यक्ष तेजकरि नित्य उदयरूप है। बहुरि कैसा है? धीर है, उदात्त कहिये उत्कट है, याहीतैं अनाकुल है, सर्व वांछातैं रहित निराकुल है। यहां धीर उदात्त अनाकुल विशेषण है, सो ए शांतरूप नृत्यके आभूषण जानने, ऐसा ज्ञान विलास करे है॥ भावार्थ—यह ज्ञानकी महिमा करी, सो जीव अजीव एक होय रंगभूमिमें प्रवेश करे हैं तिनिकूं यह ज्ञान ही भिन्न जाने है। जैसैं कोई नृत्यमें स्वांग आवै ताकूं यथार्थ जाने ताकूं स्वांग करनेवाला नमस्कार करि, अपना रूप जैसाका तैसा करिले, तैसैं इहां भी जानना, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषनिकै होय है मिथ्यादृष्टि भेद जाने नाही॥ ३३॥

अव इहां पुद्गलतैं भिन्न जो आत्माकी उपलब्धि, ताप्रति विप्रतिपन्न कहिये अन्यथा ग्रहण

करनेवाला पुद्‌गलहीकूं आत्मा जानता जो, पुरुष, ताकूं साम कहिये ताके हितरूप मिलापकी वार्ता कहिकरि, समभावहीतैं उपदेश कहना सोही काव्यमें कहे हैं—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंसः पुद्‌गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः

सं० टी०—ननु शब्दोत्र आमंत्रणे, विरम–विरक्तो भव संसारदुखादेः, परादवचोव्यापाराच्च, अपरेण-परकीयेन, अकार्यकोलाहलेन–कार्यादन्योऽकार्यः,

तदभावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे। ईषदर्थे च सादृश्यात्तद्विरुद्धतदन्ययोः ॥

इति नञ्शब्दस्य तदन्यवाचित्वात्, अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च स, तेन–तथाहि–नैसर्गिकरागद्वेषकर्मकल्माषितं, अध्यवसानमेव जीवः, तथाविधाध्यवसानादगारस्येव कात्स्र्न्यात्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित् ॥ १ ॥ अनाद्यनतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडन् कर्मैव जीव;, कर्मणातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित् ॥ २ ॥ तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥ ३ ॥ नवपुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥ ४ ॥ विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥५॥ सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रगुणाभ्यां भिद्यमान कर्मानुभव एव जीवः सुखदुखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥ ६ ॥ मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्र्न्यतः, कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥ ७ । अर्थक्रियासमर्थः कर्मसयाग एव जीवः, कर्मसंयोगात् खट्वाया इव काष्ठसयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्य ानत्वादिति केचित् ।८। एवमेव प्रकारेण कोलाहलेन किं ? न किमपि, तर्हि किं कर्तव्यं ? एक षण्मासं षण्मासपर्यंतं, पश्य–अवलोकय, किंभूय सन् ? स्वयमपि स्वत एव-परनिपेक्षो भूत्वा, निभृतः सन् निश्चलः सन्-समस्तव्यापारतन्वादिचिंतां विहाय, क ? हृदयसरसि हृदयं चित्तमेव, सरः–सरोवरं, तस्मिन्, पुंसः आत्मनः, तदा अनुपलब्धिः अप्राप्तिः, किं भाति,–प्रतिभासते, च पुनः, पक्षांतरे–उपलब्धिः–प्राप्तिः, किं भाति, निश्चल स्वात्मस्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यंतरे आत्मनः, अनुपलब्धिः उपलब्धिर्वा भवति इत्यर्थः, किंभूतस्य पुंसः ? पुद्गलात्–परमाण्वादिद्रव्यात् भिन्नधाम्नः भिन्नं अतिरिक्तं, धाम–तेजो यस्य तत् ॥ ३४ ॥ अथ सकलद्रव्यव्यतिरिक्तमात्मद्रव्य विचकास्ति—

अर्थ—हे भव्य, तेरे अन्य जे बिनाकार्य निकम्मा कोलाहलकरि कहा साध्य है ? तिस कोलाहलतैं तूं विरक्त होऊ अर एक चैतन्यमात्र वस्तुकूं आप निश्चल लीन होय देखि। ऐसें छह महिना अभ्यास करि। ऐसैं कीये, अपना हृदयसरोवविषैं पुद्‌गलतैं भिन्न है तेज प्रताप प्रकाश जाका ऐसा जो पुरुष आत्मा, ताकी कहा प्राप्ति न होय है ? ऐसा नियम है, जो प्राप्ति होय ही होय॥ भावार्थ—जो अपने स्वरूपका अभ्यास करैं, तो, ताकी प्राप्ति होय ही होय। जो परवस्तु होय, तौ, ताकी तौ प्राप्ति न होय। अपना स्वरूप तौ विद्यमान है, भूलि रह्या है सो चेतकरि देखे तौ पासही है। इहां छह महिना अभ्यास कह्या सो ऐसा न जानना जो एतेहीमें होय, याका होना तौ मुहूर्तमात्रमेंही है। परन्तु शिष्यकूं बहुत कठिण भासैं तौ

ताका निषेध है, जो बहुतकाल समझने लागेगा, तौ छः महिना सिवाय न लागेगा। तातैं अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल छोडि यामें लागैं शीघ्र रूपकी प्राप्ति होयगी ऐसा उपदेश है ॥

विशेष—' अकार्यकोलाहलेन किं ' अर्थात् व्यर्थके कोलाहलमें क्या रक्खा है यहांपर संस्कृत टीकाकारने कोलाहल शब्दका इसप्रकार स्पष्टीकरण किया है—कोई मानते हैं कि—स्वाभाविक राग द्वेष कर्मोंसे मलिन अध्यवसान ही आत्मा है क्योंकि अंगारके समान जाज्वल्यमान इस अध्यवसान (ज्ञान) से अतिरिक्त कोई जीव पदार्थ अनुभवमें नहिं आता। १। किन्हींका मत है—अनादि अनंत जो पूर्वापर अवयव (परमाणु पुंज) उनमें सदा संसरण रूप क्रियाका करनेवाला कर्म ही जीव पदार्थ है क्योंकि सिवाय कर्मके अन्य कोई भी जीव पदार्थ उपलब्ध नहिं होता ॥ २ ॥ किन्हींका सिद्धांत है कि जिसके तीव्र अनुभव और मंद अनुभव भेद हैं और जो परिणाममें दुःखदायी है ऐसे रागरससे परिपूर्ण अध्यवसानसंतान ही जीव है किन्तु इससे भिन्न संसारमें कोई जीव पदार्थ नहीं क्योंकि यदि होता तो उपलब्ध होता ॥ ३ ॥ अनेक ऐसा मानते हैं—कभी नवीन कभी पुराना होनेवाला नोकर्म (शरीर) ही जीव है क्योंकि शरीरसे भिन्न कोई जीव पदार्थ नहिं प्रतीत होता ॥ ४ ॥ बहुतोंका मत है कि—समस्त लोकको पुण्य-पापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मविपाक (अनुभव) ही जीव है क्योंकि शुभ अशुभ भावसे अतिरिक्त कोई भी जीव पदार्थ नहीं ॥ ५ ॥ कोई २ यह मानते हैं कि—जिसके तीव्र और मंद-गुण सात और असात रूपसे व्याप्त हैं अर्थात् सात असात स्वरूप हैं एवं इन गुणोंके भेदसे जिसका भेद है ऐसा कर्मोंका अनुभव ही जीव पदार्थ है क्योंकि सुख दुःखसे भिन्न कोई भी जीव पदार्थ अनुभवमें नहिं आता ॥ ६ ॥ अनेकोंका यह मत है कि—परस्परमें एकमएक आत्मा और कर्म दोनों ही जीव हैं क्योंकि कर्मसे अतिरिक्त कोई भी पदार्थ अनुभवमें नहिं आता ॥७॥ तथा कोई २ यह मानते हैं कि अर्थक्रियासमर्थ कर्मसंयोग ही जीव है क्योंकि—जिसप्रकार काष्ठके संयोगसे खाट कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं—काष्ठका समूह ही खाट है उसी प्रकार कर्मका संयोग ही आत्मा है कर्मसंयोगको छोडकर अन्य कोई भी आत्मा पदार्थ दृष्टिगोचर नहिं होता ॥ ८ ॥ इसप्रकारके आत्मस्वरूप विषयक व्यर्थ कोलाहलकी क्या आवश्यकता है कुछ समय अपने हृदयमें उसके स्वरूपका विचार करो जैसा आत्मा है वैसा तुम्हें अपने आप उपलब्ध हो ही जायगा और तब तुम भलेप्रकार उसके स्वरूपको जान जावोगे ॥ ३४ ॥

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतं ३५

सं. टी.—कलयतु ध्यायतु, पश्यतु जानातु वा कलिवलिकामधेनुरिति वचनात्, कः आत्मा चिद्रूपः, कं ? इमं प्रत्यक्षीभूतं स्वानुभवादिभिः आत्मानं स्वस्वरूपं, क्व ? आत्मनि स्वस्वरूपे, किंभूतं ? साक्षात्

प्रत्यक्षं, विश्वस्य जगतः, उपरि चरंत अग्रिमभागे परिस्फुरंतं लोकातिशायिमाहात्म्यं, लोकालोकपरिच्छेदकं वा चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात्, परं उत्कृष्टं अनन्तं अन्तातीतं किं कृत्वा ? स्वं आत्मानं अवगाह्य अनुभूय किंभूतं स्वं ? चिच्छक्तिमात्रं ज्ञानशक्तिमात्रं स्फुटतरं अभिव्यक्तं च पुनः किंकृत्य ? विहाय त्यक्त्वा सकलमपि समस्तमपि परद्रव्यं तत्रैकदेशेनेत्यपिशब्दार्थः किंभूतं तत् ? चिच्छक्तिरिक्तं ज्ञानशक्तिमुक्तं अचेतनमिति यावत् अह्नाय शीघ्रं ' शीघ्रवाच्यव्ययं स्नाग्झगित्यञ्जसाह्नाय इत्यमरः ॥३५॥ अथ चेतनाचेतनं विभजति

अर्थ—भव्य आत्मा है सो अपने एक केवल आत्माकूं आत्माही विषैं अभ्यास करो, अनुभव करो, कैसा आत्माका अनुभव करो ? जो सकलही चिच्छक्तिनैं रीतै रहित अन्यभाव हैं तिनिकूं सर्वहीकूं मूलतैं छोडिकरि अर प्रगटपणै अपने चिच्छक्तिमात्र भावकूं अवगाहन करि अर यह समस्त पदार्थसमूह जो लोक ताकै उपरि प्रवर्तता संता है, ताका साक्षात् अनुभव करो। कैसा है यह ? अनंत है, अविनाशी है ॥ भावार्थ—यह आत्मा परमार्थतैं समस्त अन्यभावनितैं रहित चैतन्यशक्तिमात्र है, ताका अनुभवका अभ्यास करो, ऐसा उपदेश है ॥ आगैं चिच्छक्तितैं अन्य जे भाव हैं, ते सर्व पुद्गलद्रव्यसंबंधी हैं ऐसा कहे हैं—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

सं० टी०—अयं जीवः—आत्मा, इयान् एतावन्मात्रं, चिच्छक्तीत्यादि—चिच्छक्त्या—ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन, व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वतः—सामस्त्येन, सारं—अंतर्भागो यस्य स, अमी प्रत्यक्षाः—शरीरादयः, सर्वेऽपि समस्ता अपि, भावाः—पदार्थाः, पौद्गलिकाः पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः, अतः एतस्मात् चैतन्यात्, अतिरिक्ताः—भिन्नाः—ज्ञानशून्या इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ अथ वर्णादीनां विविक्तां प्ररूपयते—

अर्थ—यह जीव है सो चैतन्यशक्तिकरि व्याप्त है सर्वस्व सार जाका ऐसा एतावन्मात्र है, इस चिच्छक्तितैं रीते जे भाव हैं ते सर्वही पुद्गल जन्य हैं, ते पुद्गलकेही हैं ॥

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

सं० टी०—अस्य—अन्यक्षस्य, पुंसः—आत्मनः, वर्णाद्या वा—वर्णगंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननादयो बहिर्भावाः, वा—पुनः—रागमोहादयः—रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानादयः, सर्वे समस्ताः, एव—निश्चयेन, भावाः पदार्थाः, भिन्नाः—अतिरिक्ताः, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः, तेनैव वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव, तत्त्वतः—परमार्थतः, अंतः—अभ्यंतरे स्वस्वरूपे, पश्यतः—अवलोकयतः—स्वध्यानं कुर्वतइति भावः, अमी—वर्णरागादयः, नो दृष्टाः—नावलोकिताः, स्युः—भवेयुः । अवलोकनेऽनः सति किं दृष्टं एकं—अद्वितीयं परं—उत्कृष्टं—परमात्मानमित्यर्थः, दृष्टं—अवलोकितं, अंतः पश्यतः पुंसः स्यात्—भवेत् ॥ ३७ ॥ अथ पुद्गलेन निर्वृत्तस्य पौद्गलिकत्वं पिपर्ति—

अर्थ—वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सर्वही भाव कहे ते सर्वही या पुरुषके भिन्न हैं।

तिसही कारणकरि अंतदृष्टिकरि देखतेकूं ए सर्वही नाहीं दीखे। केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप पुरुषही दीख्या। भावार्थ—परमार्थनय अभेदही है, तातैं तिसदृष्टिकरि देखतैं भेद नाही दीखे है, तिसनयकी दृष्टिमैं चैतन्यमात्रही पुरुष दीखे है। तातैं ते सर्वही वर्णादिक तथा रागादिक पुरुषके भिन्न ही हैं। अर इनि वर्णकूं आदि लेकरि गुणस्थानपर्यंत भाव हैं, तिनिका स्वरूप विशेषकरि जान्या चाहै, सो गोमटसार आदि ग्रन्थनितै जाणियो ॥

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिं ॥ ३८ ॥

स टी०—अत्र–जगति, यत्–शरीरादि, किंचित्–किमपि, येन–पुद्गलादिना, निर्वर्त्यते–निष्पाद्यते, तत्–शरीरादि, तदेव–पौद्गलिकमेव, स्याद्–भवेत्, कथंचन केनापि प्रकारेण सत्कारादिना अन्यत् पुद्गलातिरिक्तं न भवेत् अथवा अन्यत्–आत्मादिद्रव्यं केनापि प्रकारेण पौद्गलिक न हि, इममर्थं दृष्टांतयति–इह–जगति, रुक्मेण–कार्तस्वरेण निर्वृत्त–निष्पन्नं, असिकोश कनकपत्रनिष्पन्न खड्गपेटारकं, रुक्मं सौवर्णं, पश्यति अवलोकयंति सर्वे व्यवहारिण., कथंचन केनापि प्रकारेणाधाराधेयादिना, असिं खडग न सौवर्णं पश्यति ॥ ३८ ॥ अथ वर्णादीना पौद्गलिकत्वं पूरयति—

अर्थ—जिस वस्तुकरि जो कियो भाव वणे सो वह भाव वस्तुही है, किछू अन्य वस्तु नाहीं है ॥ जैसे रूपेसोनेकरि खड्गका कोश बन्या, ताही लोक रूपा, सोना ही देखे हैं, तिसकूं खड्ग तो कोई प्रकार भी नाही देखे हैं ॥ भावार्थ—वर्णादिक पुद्गलतैं बने हैं, ते पुद्गल ही हैं, ते जीव नाहीं हैं ॥

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

सं० टी०—विदंतु–जानंतु, दक्षाः, इत्याध्याहार्यं, इदं–प्रत्यक्ष, वर्णादिसामग्र्यं वर्णादीनि–वर्णगंधरसस्पर्श शरीरसंस्थानसंहननादीनि तेषां सामाग्र्य–समग्रस्य भाव. सामग्र्य, निर्माणं, एकस्य धर्मादिपंचद्रव्यनिरपेक्षस्य, पुद्गलस्य, पुद्गल–परमाणुद्रव्यस्य, हीति—निश्चितं, नान्यन्निष्पादितं तत. तस्मात् कारणात् वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनात्, इदं तु–वर्णादि पुद्गल एव वर्णादिनामप्रकृतिनिष्पादितत्वात् नात्मा—चिद्रूपो नहि। वर्णादि चिद्रूपः कुतो न ? यतः–यस्माद्धेतोः, सः—आत्मा, विज्ञानघनः–विशिष्टेन ज्ञानेन बोधेन, घनो–निबिड, विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः, ततः—वर्णादीना विज्ञानाभावात्, अन्यः—वर्णादेर्भिन्न एव ॥ ३९ ॥ अथ जीवानां वर्णादिप्रतिपादनं मिथ्येति मथ्नाति–

अर्थ—अहो ज्ञानी जन हो, ए वर्णादिक गुणस्थानपर्यंत भाव हैं, ते समस्त ही एक पुद्गलकै रचे तुम जाणूं, तातै ए पुद्गलही होहू, आत्मा मति होहू, जातैं आत्मा तौ विज्ञानघन है, ज्ञानका पुञ्ज है तातैं इनि वर्णादिकतैं अन्य ही है ॥

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

सं० टी०—चेत्—यदि,कुंभः—कलशः.घृतमयः घृतेन—आज्येन,निर्वृत्तः घृतमयः,न भवेत्,घृतकुंभाभिधाने–घृतस्य कुंभ इत्यभिधानेऽपि न केवलं, अनभिधानेऽपि इत्यपिशब्दार्थः तर्हि जीवः—आत्मा, तन्मयः वर्णादिमयो नहि, क सति ? वर्णोत्यादिः—मुग्धं प्रति वर्णादिमानयं जीवः, इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि, यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदन्यमृण्मयकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तथा कुंभे घृतकुंभ इति व्यवहारः, तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो, न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्धया जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ॥ ४० ॥ ननु वर्णादीनां रागादीनां च जीवत्वाभावे को जीवः इति वाच्यते—

अर्थ—जो घृतका कुंभ है ऐसे कहते भी, कुंभ है सो घृतमयी नाहीं है, मृत्तिकाहीका है। तो तैसें जीव है सो वर्णादिमान् है एसें कहतें भी, वर्णादिमान् नाहीं, ज्ञानघनही है ॥ भावार्थ-जो पहलेही घटकूं मृत्तिकाका जाण्या नाहीं अर घृतके भरे घटकूं लोक घृ का घट कहते सुणें तहां यहही जाण्या जो घट घृतहीका कहिये है, ताकूं समझावनेकूं मृत्तिकाका घट जाननेवालाभी घृतका घट कह करि समझावे है ॥ तैसें ज्ञानस्वरूप आत्माकूं जानें जान्या नाहीं, अर वर्णादिककै संबंधरूपही जीवकूं जानें, ताकै समझावनेकूं सूत्रमेंभी कह्या है—जो यह वर्णादिमान् है सो जीव है ऐसा व्यवहार है, निश्चयतें वर्णादिमान् पुद्गल है, जीव है नाहीं, जीव तौ ज्ञानघन है ऐसा जानना ॥

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

सं० टी०—इदं–प्रत्यक्षं चैतन्यं चेतनत्वं स्वयं–स्वतः पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन,तु इति–निश्चितं, जीवः–आत्मा, चैतन्यमंतरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्, उच्चैः–सकलश्रेष्ठत्वात्, चकचकायते–चाकचक्यतया शोभते, किं भूतं ? अनादि–कदाचिदपि तस्योत्पत्तेरभावात्, अनंत–अंतातिक्रांत विनाशरहितत्वात् ? अनादिनिधनत्वे तर्हि कीदृशं ? अचल विनाशरहितत्वात् तद्वास्तीति कथ ज्ञायते ? स्वसवेद्यं–अहं सुखी, दुःख्यहमित्यादिरूपस्वसंवेदप्रत्यक्ष, स्फुटं–व्यक्तं, धर्मादिद्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात् ॥ ४१ ॥ अथाजीवभेदं विकाश्य जीवतत्त्वमालम्बते—

अर्थ—जीव है सो यह चैतन्य है, सो यह आपै आप अतिशयकरि चमत्काररूप प्रकाशमान है। कैसा है ? अनादि है, काहू कालविषैं नवीन नाहीं उपजा है। बहुरि अनंत है, जाका काहू कालविषैं विनाश नाहीं है। बहुरि अचल है, चैतन्यपणातैं अन्यरूप चलाचल कबहू न होय है। बहुरि स्वसंवेद्य है, आपहीकरि जान्या जाय है। बहुरि स्फुट कहिये प्रगट है, छिप्या नाहीं है ॥ आगैं दूसरा लक्षणका अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषण दूरि करनेकूं काव्य कहे है—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यतां ॥ ४२ ॥

सं० टी०—ततः तस्मात् कारणात्, जगत्–गच्छति–जानातीति जगत्, द्युतिगमोर्द्वे च इति क्विप्। ज्ञानवत्प्राणिसमूहः, अमूर्तत्वं–मूर्तत्वरहितं, उपास्य–आश्रित्य, जीवस्य, आत्मनः, तत्त्वं–स्वरूप, पश्यति अवलोकयति, ; नहि यद्यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात्। कुत.? यतः कारणात् अजीवः–अजीवपदार्थः, द्वेधा–द्विप्रकार., अस्ति–वर्तते । एको भेदः–वर्णाद्यैः–रूपगंधरसस्पर्शाद्यैः, सहितः–युक्तः, परमाण्वादिपुद्गलपिंडानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्, तथा–तेनैव प्रकारेण, द्वितीयो भेदः, तैर्विरहितः–धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्, इति–अमुना प्रकारेण, अमूर्तत्वं जीवस्वरूप न आलोच्य–निश्चित्य, आलम्ब्यतां सेव्यतां, किं? चैतन्यं–चेतनत्वं, व्यंजितजीवतत्त्वं व्यंजितं जीवस्य स्वरूपं येन तत्, अचलं–परलक्ष्येऽभावाच्चलनारहितं, समुचितं–सम्यक् प्रकारेण तत्रोचितं युक्तं । लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि–अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपाणि तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात् । गोः शावलेयत्ववदव्यापि नच । वा–पुनः–अतिव्यापि न च स्वलक्ष्यं जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्। पुन.–गव्येकशफत्ववदसंभवं न च यतः, व्यक्तं–तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्। अथवा समुचितपदेनासंभवपरिहारः ॥ ४२ ॥ अथ जीवाजीवयोर्भिन्नत्वमनुभवति—

अर्थ—जो जीवका लक्षण अमूर्तिकपणा कहिये तो अजीवपदार्थ दोयप्रकार है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ए तौ वर्णादिकभावरहित हैं, अर पुद्गल है सो वर्णादिसहित है। तातैं अमूर्तिकपणाकूं ग्रहणकरि लोक जीवका यथार्थस्वरूपकूं नाहीं देखे, यामैं अतिव्याप्तिदूषण आवै ॥ बहुरि वर्णादिकमैं रागादिक भी आगये ते रागादिक जीवका लक्षण कहिये, तौ तिनिकी व्याप्ति पुद्गलहीतैं है, जीवकी सर्व अवस्थामै व्याप्ति नाहीं। तातैं अव्याप्तिदूपण आवै ॥ ऐसैं भेदज्ञानीपुरुष आलोचना करि परीक्षा करि अतिव्याप्ति अव्याप्तिदूपणतैं रहित चेतनपणा लक्षण कह्या है, सो भलैप्रकार योग्य है। प्रगट जीवका यथार्थ स्वरूप जानैं व्यक्त कीया है। बहुरि कैसा है? जीवतैं कबहू चलाचल नाहीं है, सदा विद्यमान रहे है। सो जगत इसही लक्षणकूं अवलंबो, याहीतैं यथार्थ जीवका ग्रहण होय है ॥ आगे, जो ऐसा लक्षणकरि जीव प्रगट है, तौऊ अज्ञानीलोककै याका अज्ञान कैसा रहे है? ताका आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित वचन कहे है-

विशेष—अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभवके भेदसे लक्षणमें तीन दोप आते हैं। जीवका लक्षण वर्ण आदिवाला या अमूर्तत्व मानने में ये अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोप आकर उपस्थित हो जाते हैं किंतु चैतन्य लक्षण माननेमें कोई दोप आकर उपस्थित नहिं होना। लक्ष्यके एकदेशमें लक्षणका रहजाना अव्याप्ति दोप है जिसप्रकार गौका लक्षण शावलेयत्व (चितकबरा पना) अर्थात् चितकबरापना थोडी गायोंमेंही रहता है लक्ष्यमात्र समस्त गायोंमें नहीं। जो लक्षण अपने लक्ष्यमें और लक्ष्यको छोडकर अलक्ष्यमें भी रहै वह लक्षण अतिव्याप्त है जैसे गौका लक्षण पशुपना, अर्थात् यह पशुत्व लक्षण समस्त गायोमें भी रहता है और गायोंके सिवाय भैंस

वकरी आदिमें भी पाया जाता है-वे भी पशुके नामसे पुकारे जाते हैं। जो लक्षण लक्ष्यमें सर्वथा असंभव हो वह असंभव है जैसे गौका लक्षण एकशफत्व—एक खुरवाली अर्थात् एक शफत्व—किसी गौमें देखनेमें नहिं आता। यहांपर जीवका चैतन्य लक्षण स्वीकार करनेपर कोई भी दोष नहीं क्योंकि यह चेतनत्व समस्त जीवोंमें रहता है इसलिये तो इसमें अव्याप्ति दोष नहीं आता। सिवाय जीवके अन्यपदार्थ—धर्म आकाश आदि में नहिं रहता इसलिये अतिव्याप्ति एवं जीवमें इसका असंभवपना नहीं इसलिये असंभव दोष भी नहिं आता। यद्यपि ग्रंथकारने मूलमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोही दोषोंका उल्लेख किया है एवं क्रमसे उनके वर्णादिमत्व और अमूर्तत्व ये दो उदाहरण भी दिये है। अर्थात् यदि जीवका लक्षण वर्णादिमत्व माना जायगा तो अव्याप्ति और अमूर्तत्व माना जायगा तो अतिव्याप्ति दोष आवेगा, तथापि सहचरित न्यायसे अर्थात्-अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव तीनों ही लक्षणके दोष समान हैं—असंभव दोष भी सहचारी है इस न्यायसे असंभव दोप भी जान लेना चाहिये और अव्याप्ति आदिके समान जीवके चेतनत्व लक्षणमें इसका भी परिहार समझना चाहिये। संस्कृत टीकाकारने यहां व्यक्तपदसे वा समुचित शब्दसे भी असंभवका परिहार किया है व्यक्तं अर्थात् चैतन्य लक्षण जीवमें स्पष्ट रूपसे जान पडता है इसका जीवमें असंभव पना नहीं ॥ ४२॥

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ॥४३॥

सं टी०—इति-चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन, अनुभवति-निश्चिनोति, अनुभवविषयं करोतीत्यर्थः, कः? ज्ञानी भेदविज्ञानयुक्तः, जनः-भव्यलोकः, लक्षणतः-असाधारणधर्मतः, जीवात्-आत्मनः, अजीवं-धर्मादिद्रव्यं, विभिन्नं-अतिरिक्तं, कीदृशं अजीवं? स्वयं-अचैतन्यस्वरूपेण, उल्लसत-ऊर्ध्वं विलसतं, वत इति-खेदे, तत्-तस्मात्, जीवाजीवयोः परस्परं भिन्नत्वात् अयं मोहः-पुद्गलात्मकं मोहनीयं रागद्वेषात्मकं च कर्म, अहो इति आश्चर्ये, कथं? केन प्रकारेण? नानटीति-अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्परभिन्नत्वसाधनात्, किंभूतो मोहः? अज्ञानिनः-भेदज्ञानरहितस्य मूढप्राणिनः, निरेत्यादिः-मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः, अज्ञानिनस्तन्मयत्वात् ॥ ४३ ॥ अथाविवेकनाट्ये नटनपटुतां प्रकटयति—

अर्थ—ऐसैं पूर्वोक्तलक्षणतैं जीवतैं अजीव भिन्न है, सो ज्ञानीजन है, सो याकूं आपैआप प्रगट उघडता अनुभवन करे है। तौऊ अज्ञानीजनकै यह अमर्यादरूप मोह अज्ञान प्रगट फैलता संता कैसैं अतिशयकरि नृत्य करे है? हमारै वडा आश्चर्य है तथा खेद है। फेरि याका प्रतिपेध करे है जो, मोह नृत्य करे है तौ, करौ, तथापि ऐसे है—

विशेष—इस श्लोकका भाव पं० जयचंद्रजीने अपने "अचैतन्यस्वरूपसे उल्लासमान लक्षणसे जीवद्रव्यसे भिन्न अजीव द्रव्यका भेद ज्ञानी स्वयं अनुभव करता है अमर्यादरूपसे बढा हुआ यह मोह अज्ञानीके नृत्य करता है—अज्ञानीको चक्रमें डालता है यह वडा आश्चर्य और खेद है"

यह लिखा है। भट्टारक शुभचंद्रजीने—भेदज्ञानी अपने अचैतन्यस्वरूपसे उल्लसित, लक्षणसे जीवद्रव्यसे भिन्न अजीवद्रव्यको अनुभव करता है इसलिये उसके जीव और अजीवमें परस्पर भेद होनेके कारण मोह जो अज्ञानी जीवके अमर्यादरूपसे व्याप्त है, खेद और आश्चर्य है कैसे नृत्य करसकता है? कभी भी ज्ञानीको मोह अपने चक्रमें नहिं डाल सकता' यह अर्थ किया है परन्तु हमारी समझसे 'यद्यपि भेदज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूपसे उल्लासमान दोनोंका भिन्न भिन्न लक्षण होनेसे जीवसे सर्वथा भिन्न अजीवका अनुभव करता है तथापि अज्ञानीके वृद्धिको प्राप्त यह मोह इसे भी अपने चक्रमें घुमादेता है यह महान् खेद और आश्चर्य है' इसका भाव यह होना चाहिये ॥ ४३ ॥

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

सं० टी०—नटति नृत्यं करोति, नारकादिपर्यायसूक्ष्मस्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः, कः? पुद्गलः, वर्गवर्गणास्पर्धकगुणहान्यादिरूपः, एव—निश्चयेन, किंभूतः? वर्णादिमान्, वर्णो—रूपं, स एव आदिर्यस्य स्पर्शरसगंधादेः; स वर्णादि विद्यते यस्य सः 'स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः' इति वचनात्, क? अस्मिन्—जगत्प्रसिद्धे, अविवेकनाट्ये 'ममेदं' अहमस्येति लक्षणोऽविवेकः, तथा चोक्तं—'चिदचित्त्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति' तद्विपरीतोऽविवेकः स एव नाट्यं—लास्यं, तस्मिन्, किंभूते? अनादिनि—आदिरहिते, पुनः किंभूते? महति—आसंसारजीवव्याप्तत्वात्, चेति भिन्नप्रक्रमे, अन्यः—अजीवाद्भिन्नः, अयं जीवः—आत्मा, न नटति, कुतः? हेतुगर्भितविशेषणं दर्शयति—रागेत्यादि—रागो—रतिः, आदिशब्दात् द्वेषमोहाध्यवसायादयः ते च ते पुद्गलानां विकाराश्च विकृतयः तेभ्यो विरुद्धं—विपरीतस्वरूपत्वाद्भिन्नं तच्च तत् शुद्धं—द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातुः—द्रव्यविशेषः, अथवा दधाति स्वगुणपर्यायानिति धातुः—ज्ञानशक्तिः, तेन निर्वृत्ता मूर्तिर्लक्षणया स्वरूपम् यस्य सः ॥४४॥ अथोपसंहारमाजेह्रीयते—

अर्थ—यह अनादिकालका बडा अविवेकका नृत्य है तिसविषैं वर्णादिमान् पुद्गलही नृत्य करै है अन्य कोई नाहीं है। अभेदज्ञानमैं पुद्गलही अनेकप्रकार दीखे है, किछू जीव तौ अनेकप्रकार है नाहीं। यह जीव है सो तो रागादिक जे पुद्गलतैं भये विकार तिनितैं विरुद्ध विलक्षण शुद्ध चैतन्य धातुमयी मूर्ति है॥ भावार्थ—रागादि चिद्विकारकूं देखि ऐसा भ्रम न करना, जो, एभी चैतन्य ही है, जातैं चैतन्यकी सर्व अवस्थामैं व्यापै, तौ चैतन्यके कहिये। सो ऐसैं हैं नाहीं, मोक्ष अवस्थामैं इनिका अभाव है॥ तथा इनिका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है॥ चैतन्यका अनुभव निराकुल है, सोही जीवका स्वभाव है ऐसैं जानना ॥४४॥ आगे भेदज्ञानकी प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञाताद्रव्य आप प्रगट होय है, ऐसैं महिमा करि अधिकार पूरण करे हैं, ताका कलशरूप काव्य कहे हैं—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ ४५ ॥

सं० टी०—तावत्–तावत्कालपर्यंतं, ज्ञातृद्रव्यं–ज्ञायकद्रव्यं, आत्मद्रव्यमित्यर्थः, स्वयं—स्वभावादेव, अतिरसात्–रसातिशयतः, उच्चैः–ऊर्ध्वं, चकाशे–शुशुभे, किंभूतं ? प्रसभविकसत्–अत्यर्थं विकासं गच्छत्, कया ? व्यक्तेत्यादि–चिन्मात्रस्य ज्ञानमात्रस्य, शक्तिः–अविभागप्रतिच्छेदसमूहः, व्यक्ता चासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया, किं कृत्वा विश्वं–जगत्, व्याप्य–परिच्छेद्येत्यर्थः, यावत् यावत्पर्यंतं नैव प्रयातः–निश्चयेन न प्राप्नुतः, किं ? स्फुटविघटनं–स्फुटं व्यक्तं–विघटनं–पृथग्भवनं, कौ ? जीवाजीवौ–जीवः–आत्मा–चेतनः, अजीवः–अचेतनः–कर्मपुद्गलादिः, द्वंद्वः, तौ, किं–कृत्वा ? इत्थं पूर्वप्रकारेण, पुद्गलस्यैव नार्तनादिकथनलक्षणेन, नाटयित्वा–नृत्यविषयं कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति यावत्, किं ? ज्ञानेत्यादि–ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं तदेव क्रकचः करपत्रं 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रं स्यात्' इत्यमरः तस्य कलना–ग्रहणं, तस्या पाटनं पटुत्वं तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः । तावत् ज्ञातृद्रव्यं समयं समयं प्रति अधिकतया अचकात्, यावन्निश्शेषकर्मबंधध्वंसो न याति तस्मिन्कृते अधिकतया प्रतिभासनाभावात्तस्य स्वस्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यं ॥ ४५ ॥

व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशिप्रकृष्टनिजमानं । शुभचंद्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसारपद्यस्य ।

इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरंगिणीनामधेयस्य व्याख्याया प्रथमोंकः ॥ १ ॥

अर्थ—याप्रकार ज्ञानरूप करोतकी कलनाका पाटन कहिये वारंवार अभ्यास करना ताकूं नचायकरि जीव अर अजीव दोऊ प्रगटपणैं जैंते न्यारे न भये तेतैं यह ज्ञातृद्रव्य आत्मा है सो समस्त पदार्थनिविषैं व्याप्यकरि अर प्रगट विकासरूप व्यक्त होती जो चैतन्यमात्रशक्ति ताकरि आपै आप अतिवेगतैं अतिशयकरि प्रगट होता भया ॥ भावार्थ—जीव अजीव दोऊ अनादितैं संयोग रूप हैं । सो अज्ञानतैं एकसे दीखे हैं । तहां भेदज्ञानके अभ्यासकरि जैंते प्रगट न्यारे न भये, जीव कर्मनितैं छूटि मोक्ष प्राप्त न भया, तेतैं यह जीव ज्ञाता द्रव्य है, सो अपनी ज्ञानशक्तिकरि समस्त वस्तुकूं जानिकरि अतिवेगतैं आप प्रगट भया ॥ इहां तात्पर्य यह, जो सम्यग्दृष्टि भये पीछैं जेतैं केवलज्ञान न उपजे है, तेतैं तो सर्वज्ञ के आगमतैं भया श्रुतज्ञान ताकरि, समस्त वस्तूका संक्षेप तथा विस्तारकरि परोक्षज्ञान होय है, तिस ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होय है, सोही याका प्रगट होना है ॥ बहुरि जब घातिकर्मका नाशतैं केवलज्ञान उपजे है, तब समस्तवस्तूकूं साक्षात् प्रत्यक्ष जाने है, ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माकूं साक्षात् अनुभवे है, सोही याका प्रगट होना है ॥ ऐसे मोक्ष भये पहलेही आत्मा प्रकाशमान होय है, यह भी जीव अजीवका न्यारा होनेका प्रकार है ॥ ऐसे जीव अजीवका पहला अधिकार पूर्ण भया ॥

तहां टीकाकार पहले रंगभूमिका स्थल न्यारा कहि पीछे कही थी—जो नृत्यके अखाड़ेमें जीव अजीव दोऊ एक प्रवेश करे हैं, दोऊ एकपणाका स्वांग रचा है। तहां भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने सम्यग्ज्ञानतैं दोऊकूं लक्षणभेदतैं परीक्षा करि दोय जाणि लिये, तब स्वांग होय चुका दोऊ न्यारे न्यारे होय अखाडामैंसूं बाहिर भये, ऐसा अलंकार करि वर्णन कीया॥

इसप्रकार स्वर्गीय प० जयचन्द्रजी कृत परमाध्यात्मतरंगिणीकी भाषा वचनिकामें पहिला अंक समाप्त हुआ

द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय॥ कर्म नाशि शिवमैं बसे, तिन्हैं नमूं मद खोय ॥१॥

अब टीकाकारके वचन हैं जो, जीव अजीव दोऊ एक कर्ता कर्मका वेष करि प्रवेश करे है जैसे दोय पुरुष आपसमें किछू एक स्वांग करि, नृत्यके आखाडामैं प्रवेश करें, तैसे इहां अलंकार जानना॥ तहां प्रथमही तिस स्वांगकूं ज्ञान है सो यथार्थ जानी ले हैं, ताकी महिमा करता संता काव्य पढे हैं—

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥१॥

सं० टी०—स्फुरति द्योतते, किं? ज्ञानज्योतिः बोधतेजः, पृथक् समस्तद्रव्येभ्यो भिन्नं, किंभूतं? परमोदात्तं परमं उत्कृष्टं, सर्वद्रव्यविकाशकत्वात् अथवा परा उत्कृष्टा, मा लक्ष्मी, अनंतचतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परमं, तच्च तदुदात्तं उत्कृष्टं च तत्, पुनः अत्यन्तधीरं अतिशयेन धीरं निष्कंपं, धीर्धारणा तां जगद्ग्रहणाय राति आदत्ते इति धीरमिति वा, निरुपधि बाह्याभ्यंतरद्रव्य भावकर्मणां उपाधेर्निष्क्रान्तो निरुपधि, 'निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पंचम्या, इति पंचमीतत्पुरुषः, नत्वव्ययीभावः, द्रव्यनिर्भासिसमस्तगुणपर्याय नयोपनयप्रकाशकं नयोपनयमंतरेणान्यस्य द्रव्यस्याभावात् तथा चोक्तमष्टसहस्र्या—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभ्राड् भावसंबंधो द्रव्यमेकमनेकधा॥

विश्वं—षड्द्रव्यसमुदायसप्तरज्जुभवनत्रिलोकं, उपलक्षणादलोकं च साक्षात्कुर्वत्—प्रत्यक्षीकुर्वत् इति पूर्वार्धोक्तप्रकारेण प्रवृत्ति—कर्मकर्तृप्रवृत्तिं, तदत्र क्रोधादौ वायमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता, यत्तु अज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म, एवमियमनादिरज्ञानजा कर्मकर्तृप्रवृत्तिः, कर्ता—आत्मा, कर्म—ज्ञानावरणादिः, द्वंद्वः, तयोः प्रवृत्तिः—प्रवर्तनं, तां, अभितः साकल्येन शमयत् उपशम—शांततां नयत्, किं भूतां तां? अज्ञानां—न विद्यते ज्ञानं यस्यां सा तां, इति किं? इह—जगति, एकः, अहं चित् आत्मा, 'चिच्छब्दोऽत्र पुल्लिंगे, कर्ता करोतीत्येवं शीलः कर्ता, कोपादयः, क्रोधादयो द्रव्यभावरूपाः, मे—ममात्मनः कर्तृतापन्नस्य, कर्म—क्रियमाणं कार्यं, ॥ १ ॥ ननु ज्ञाने कथं न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरिति चेत्—

अर्थ—ज्ञानज्योति है सो प्रगट स्फुरायमान हो है। कहा करता संता ? अज्ञानी जीवनिकै ऐसी कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, जो इस लोकविषे मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूं, बहुरि ए क्रोधादि भाव है ते मेरे कर्म हैं, सो ऐसा कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिकूं साक्षात् यह ज्ञान शमन करता संता है मेटता है ॥ कैसा है ज्ञानज्योति ? उत्कृष्ट, उदात्त है, काहुकै आधीन नाहीं है ॥ बहुरि कैसा है ? अत्यंत धीर है काहू प्रकारकरि आकुलतारूप नाही है ॥ बहुरि कैसा है ? विना परकै सहाय न्यारे न्यारे द्रव्यनिकूं प्रतिभासनेका जाका स्वभाव है, याहीं तै समस्तलोकालोवकूं साक्षात् प्रत्यक्ष करता है जानता है ॥ भावार्थ—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है सो परद्रव्यका अर परभावनिका कर्ताकर्मपणाका अज्ञानकूं दूरि करि आप प्रगट प्रकाशमान होय है ॥

विशेष—अज्ञानां इसपदका अर्थ संस्कृत टीकाकारने कर्तृकर्मप्रवृत्ति का विशेषण कर जिसमें ज्ञान न हो ज्ञानशून्य अर्थ किया है और पं० जयचन्द्रजीने 'अज्ञानां अर्थात् अज्ञानियोंकी' यह अर्थ किया है।

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः २

स० टी०—इद-प्रत्यक्ष, ज्ञान-बोधः, उच्चैः-अतिशयेन, उदितं-उदय प्राप्त, किंभूतं ? उज्झत्-त्यजत परेत्यादि-परेषु क्रोधादिषु, परिणतिं-परिणामं, पुनः-कीदृक्षं ? खंडयत्—निराकुर्वत्, कान् ? भेदवादान् भेदाना कर्तृकर्मकरणादिरूपाणा, वादाः-कथनानि, तान्, अखंड-न खंड्यते केनापि तदखंड,-परिपूर्ण, उच्चंड-उत्कट, द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात् नन्विति वितर्के, इह ज्ञानात्मनि, अवकाशः-स्थान, कथं ? न केनापि प्रकारेण, कस्याः ? कर्त्रेत्यादिः-कर्ता च कर्म च कर्तृकर्मणी तयो. प्रवृत्तिः-प्रवर्तनं, आत्मा, कर्ता क्रोधादि कर्म 'इदृग्विधविकल्परूपा, तस्याः भावकर्मणा नावकाश इति यावत्, वा-अथवा भवति-जायते, 'प्रादुर्भावे गतौ च भू' इत्यभिधानात्, कथं ? न केनापि प्रकारेण, पौद्गलः-पुद्गलेभ्यः-त्रयोविंशतिवर्गणाना-मन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचिताभ्यो भवः पौद्गलः, कर्मबंधः-कर्मणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणां बंधः ॥ २ ॥ द्रव्यकर्मबंधो निरस्तः, अथ चेतनश्चकास्तीति प्रकाशते—

अर्थ—यह ज्ञान है सो प्रत्यक्ष उदयकूं प्राप्त भया। कैसा भया ? अखंड कहिये जामैं ज्ञेयके निमित्ततैं तथा क्षयोपशमके विशेषतैं अनेक खंडरूप आकार प्रतिभासमें आवैं थे तिनितैं रहित ज्ञानमात्र आकार अनुभवमें आया, याहीतैं ऐसा विशेषण है। कैसा है ज्ञान ? "भेदवादान् खंडयत्" कहिये मतिज्ञानादि अनेक भेद कहावै थे, सो तिनिकूं दूरि करता संता उदय भया, याहीतैं "अखंड" विशेषण है। बहुरि कैसा है ? परके निमित्ततैं रागादिरूप परिणमै था तिस परिणतिकूं छोडता संता उदय भया, बहुरि कैसा है ? 'उच्चैः उच्चंड कहिये' अतिशयकरि प्रचंड है, परका निमित्ततैं रागादिरूप नाहीं परिणमे है, बलवान् हैं तहां आचार्य कहे है—जो, अहो, ऐसा ज्ञानमैं परद्रव्यकै कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे होय ? तथा

पौद्‌गलिककर्म बंध कैसा होय भावार्थ—कर्मबंध तौ अज्ञानतैं भई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तितैं था। अब भेदवादकूं दूरि करि अर पर परणतिकूं दूर करि एकाकार ज्ञान प्रगट भया। तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिटी, तब काहेकूं बन्ध होय? नहीं होय।

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥३॥

सं० टी०—इत: ज्ञानस्य माहात्म्यकथनादनंतरं, चकास्ति—द्योतते, कः? पुराणः—जीर्णः—अनादिरित्यर्थः. पुमान्—आत्मा, किंभूत:? जगतः—त्रिलोकस्य, साक्षी—अक्षति—साक्षात्करोति पूर्वोत्तरपर्यायानित्येवं शील: अक्षी, अथवा अक्ष्णोति—व्याप्नोति—परिछिनत्ति, सर्वगुणपर्यायानित्येवंशील: अक्षी—ज्ञायक: तेन सह वर्तत इति साक्षी, अथवा जगतः साक्षी साक्षिक:—जगत्स्वभावज्ञायकत्वात्, स्वयं परस्वरूपमंतरेण, ज्ञानीभूत: संसारदशायामज्ञानं प्रतिबुद्धावस्थायां ज्ञानं भूयते स्मेति ज्ञानीभूत, निवृत्त:—विनिवृत्तिं प्राप्तः, कुतः? अज्ञेत्यादि:—अज्ञाना—स्वयं चैतन्याभावलक्षणा, उत्थिता प्रादुर्भूता, कर्तृकर्मणो कलना—प्रवृत्ति-र्विकल्पो वा सैव क्लेश, दुःखदायित्वात् तस्मात्, पुनः किंभूत:? आस्तिघ्नुवान:—ष्टिवु आस्कंदने अस्य धातोः प्रयोगात्, परं—केवलं, स्वं—स्वरूपं, कुतः? अभयात्—निर्भयत्वमाश्रित्य, किं भूतं स्वं? विज्ञाने-त्यादि—विज्ञानस्य विशिष्टनिर्मलज्ञानस्य घनो—निरंतरं स एव स्वभावो यस्य तत्, इति हेतो:—आत्मप्रकाशनस्वभावात्, एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण, कर्तृकर्मावकाशाभावे सति, विरचय्य—रचयित्वा, कां? परां—उत्कृष्टां निवृत्तिं परावृत्तिं, संप्रति—इदानीं कुतः परद्रव्यात् पुद्गलादिपरद्रव्यत्वात्। ३॥ अथात्मन: कर्तृत्वशून्यत्वं ससूचयति—

अर्थ—इहांतै आगैं पुराणपुरुष जो आत्मा सो जगतका साक्षीभूत, ज्ञाता, द्रष्टा आपही ज्ञानी भया संता प्रकाशमान होय है। सो पूर्वं कहाकरि कैसा भया संता सो कहे हैं। ऐसे पहले कह्या तिस विधानकरि, परद्रव्यतैं उत्कृष्ट सर्वप्रकार निवृत्ति करि, अर विज्ञानघनस्वभावरूप जो केवल अपना आत्मा, ताही निशंक आस्तिक्यभावरूप स्थिरीभूत करता संता, अज्ञानतैं भई थी जो कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति, ताका अभ्यासतैं भया था जो क्लेश, तिसतैं निवृत्त भया संता प्रकाशमान होय हैं॥३॥

विशेष—संस्कृत टीकाकारने 'अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशात्' यहांपर अज्ञानस्वरूप उत्पन्न हुई जो कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति वा विकल्प उससे उत्पन्न हुये क्लेशसे' यह अर्थ किया है और पं० जयचन्द्रजीने अज्ञानसे उत्पन्न जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति उससे उदित क्लेशसे, यह अर्थ किया है। संस्कृत टीकाकारने यह चमत्कारी बतलाई है कि कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति ही अज्ञान स्वरूप है अज्ञानको कारण और प्रवृत्तिको कार्य क्यों मानना?

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि

व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४॥

स० टी०—तदा कर्तृत्वशून्यत्वसूचनसमये, स एष–प्रत्यक्षीभूतः पुमान्–चिद्रूपः लसितः–उल्लासं प्राप्तः परमब्रह्मरूपत्वं प्राप्तः इत्यर्थः, किं कृत्वा ? ज्ञानीभूय ? अज्ञान ज्ञान भूत्वा संसारदशात इति ज्ञानीभूय "समासे भाविन्यनञः क्त्वो यप्" इति कौमारसूत्रेण यप, 'डाच्चूर्यादनुकरणं चेत्, इति चिंतामणीयसूत्रेण निष्पादनाच्च, ॐ तदा लसित, यदेत्यध्याहारः, कर्तृत्वशून्यः–यदाहमात्मा कर्ता, कर्मनोकर्मपरिणामरूपकर्मणामिति विकल्पेन–शून्यः–रहितः, किं कुर्वन् ? तमः–अज्ञानं, ज्ञानदृष्टिनिवारकत्वात्, भिंदन्–छिंदन्, निवारयन्निति यावत्, केन इति–पूर्वार्धोक्तयुक्त्या, उद्दामेत्यादिः–उद्दामः–उत्कृष्टः, स चासौ विवेकश्च, चेतनाचेतनभिन्नत्वकरणलक्षणः, तथा चोक्तं—'चिदचित्त्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति' स एव घस्मरं जगदज्ञानग्रसकं, महः–तेजः, अथवा विवेकेनोपलक्षित घस्मरमहः–जगदतः कारकं ज्ञानं तस्य भारस्तेन, इति किं ? तदात्मनि–तावेव–स्वभावस्वभाविभावावेव आत्मा–स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्मिन्, भवेत्–स्यात्, का ? व्याप्यव्यापकता–व्याप्यतेऽनेनेति व्याप्य कार्यं, व्याप्नोति स्वकार्यमिति व्यापकः, धूमधूमध्वजयोः, घटमृत्तिकयोर्वा व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्, पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा–स्वतंत्रव्यापकेन कर्मत्वेन क्रियमाणं कर्म व्याप्यं तयोस्तद्भावत्वव्यवस्थानात् कुंभमृदारिव, अपि पुनः, अतदात्मनि–अतत्स्वरूपे नैव व्याप्यव्यापकता कुंभकारकुंभयोरिव, अन्यथा पर्वतधूमध्वजयोरपि तत्प्रसंगात्, स्वभावस्वभाविनोः कार्यकारणयोश्च शिंशपावृक्षत्वयोर्धूमध्वजयोश्च यथा व्याप्यव्यापकता न चान्यत्र, तथा ज्ञानात्मनोःपुद्गलकर्मणोरेव व्याप्यव्यापकता न च पुद्गलपरिणामात्मनोः कुंभतत्कारकयोरिवास्ति, व्याप्येत्यादिः–व्याप्यं च व्यापकं च व्याप्यव्यापके तयोर्भावस्तस्य संभवस्तं, ऋते विना, 'ऋते योगे द्वितीयापि भवति पचमीचर्तेः' द्वितीया चशब्दात् इति शाकटायनात्, कर्तृकर्मस्थितिः–कर्मात्मनोः कर्तृकर्मावस्थानं कापि–न कापि भवतीति ॥ ४॥ अथानयोर्व्याप्यव्यापकत्व पुना रुणद्धि—

अर्थ—व्याप्य व्यापकपणा है सो तदात्मा कहिये तत्स्वरूपही होय ताकै होय, अतद्स्वरूप विषै नहीं होय है ॥ बहुरि व्याप्यव्यापकभावका सम्भवविना कर्ताकर्मकी स्थिति कौनसी ? कछुभी नाहीं, ऐसा उदार विवेकरूप अर घस्मर कहिये समस्तकूं ग्रासीभूत करनेका जाका स्वभाव ऐसा जो ज्ञानस्वरूप तेज प्रकाश, ताका भारकरि अज्ञानरूप अंधकारकूं भेदता संता यह आत्मा ज्ञानी होय, तिस काल कर्तापणाकरि रहित भया सोभै है ॥ भावार्थ—जो सब अवस्थामैं व्यापै सो तौ व्यापक, अर जे अवस्थाके विशेष ते व्याप्य । एसे होतैं द्रव्य तौ व्यापक हैं, अर पर्याय व्याप्य हैं, सो द्रव्य पर्याय अभेदरूपही हैं ॥ जो द्रव्यका आत्मा सोही पर्यायका आत्मा, सो ऐसा व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूपविषैं ही होय,अतत्स्वरूपविषैं नाहीं होय तहां ऐसा सिद्ध होय है जो व्याप्यव्यापकभावविना कर्ताकर्मभाव न होय ऐसे जो जानै सो पुद्गलकै अर आत्माकै कर्ताकर्मभाव नाहीं जानै, तब ज्ञानी होय, कर्ताकर्मभावकरि रहित होय, ज्ञाता, द्रष्टा, जगतका साक्षीभूत होय है ॥४॥

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्

व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयतुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।

अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्

विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५ ॥

सं० टी०—ज्ञानी—आत्मा, च—पुन —पुद्गल —परमाण्वादिपुद्गलद्रव्य व्याप्यव्यापकत्व 'प्राप्य विकार्यं निर्वृत्य च व्याप्यलक्षणा' तत्र—प्राप्य—कर्मपर्याय प्राप्तु योग्य, यथा स्वभाविनि वह्नावुष्णत्व, पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थांतरप्राप्ति. तद्विकार्यं—यथा मृत्पिडस्य घटः, पर्यायस्वरूपेण निवर्तितु—निष्पादितु योग्य निर्वर्त्यं, मृद. स्थासकोशकुशूलघटादिवत्, व्यापकत्व—उष्णत्वे वह्निःव, घटे मृत्पिडत्व स्थासादौ मृत्त्व, पुद्गलकर्मपरिणामयोः, आत्माज्ञानपरिणामयोर्व्याप्यव्यापकत्वं, नत्वात्मकर्मणोः, अत्यंत विलक्षणत्वात्—अंत. अभ्यंतरे वहिस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि कलयितु—स्वीकर्तुं, असहौ—असमर्थौ, अत्यंतविलक्षणत्वमुद्‌घाटयति तयोः, किंभूतः सन्नात्मा ? जानन्नपि—परिछिंदन्नपि, अपिशब्दात् लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्, कां ? इमा—प्रत्यक्षां, स्वपरपरिणतिं—स्वपरयो —आत्मपुद्गलयो परिणति.—परिणाम—पर्यायः, ज्ञानकर्मलक्षणस्ता, पुन. पुद्गलस्ता, अजानन् अपरिच्छिदन् अज्ञानस्वभावत्वात्, असहौ, कुतः ? नित्य—सदैव, अत्यंतभेदात्—चेतनाचेतनस्वभावेनात्यतं विलक्षणत्वात्, यावत् विज्ञानार्चि.—ज्ञानज्योति, न चकास्ति—न द्योतते, किं कृत्वा ? सद्यः—तत्काल, उत्पाद्य—निष्पाद्य, क ? भेद, आत्मकर्मणोर्भिन्नत्वं, कथं ? अदय—ध्यानादिना निष्ठुरत्व यथा भवति तथा, क इव ? क्रकचवत्—यथा क्रकच—करपत्र काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति, तावत्काल, भाति—शोभते, का ? कर्त्रेत्यादि.—कर्तृकर्मणोर्भ्रमस्तेनोपलक्षिता मति —बुद्धिः, कयो. ? अनयो —जीवपुद्गलयोः, कुतः ? अज्ञानात्—ज्ञानावरणादिकर्माच्छादितचैतन्यात ॥ ५ ॥ अथ कर्तृकर्मादित्रय पृथगुपदिशति पद्यचतुष्टयेन—

अर्थ—ज्ञानी है सो तो अपनी अर परकी दोऊकी परिणतिकूं जानता संता प्रवर्ते है। बहुरि पुद्गल है सो अपनी अर परकी दोऊ ही की परिणतिकूं नाहीं जानता संता प्रवर्ते है। तौऊ ते दोऊ परस्पर अंतरंग व्याप्यव्यापकभावकूं प्राप्त होनेकूं असमर्थ हैं जातै दोऊ भिन्न द्रव्य हैं। सो सदाकाल तिनिकै अत्यंत भेद है। सो ऐसै होतै, इनिकै कर्ताकर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है सो यहु जेतै इनि दोऊनिकै करोतकी ज्यौं निर्दय होय तत्काल भेदकूं उपजाय भेदज्ञान है ज्वाला प्रकाश जाकै ऐसा ज्ञानप्रकाश न होय, तेतैंही है। भावार्थ—भेदज्ञान भये पीछे पुद्गलकै अर जीवकै कर्तृकर्मभावकी बुद्धि न रहै। जातैं जेतैं भेदज्ञान नाहीं होय तेतैंही अज्ञानतैं कर्तृकर्मभावकी बुद्धि है।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ६ ॥

सं० टी०—यः—आत्मा, पुद्गलो वा परिणमति—स्वपर्यायान् प्रति परिणाम प्राप्नोति यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयो. समीरसंचरणासंचरणयोरपि समीरसमुद्रयो, कर्तृकर्मत्वाभावात् पारावार एवादिमध्यांतेपूत्तर—

गनिस्तरंगावस्थे व्याप्य उत्तरंगनिस्तरंगत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता तथा संसारनिस्संसारयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि कर्तृकर्मत्वाभावात् जीव एवादिमध्यान्तेषु ते अवस्थे व्याप्य, उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता, एवं पुद्गलेऽपि योज्यं, तु–पुनः, यः परिणामो भवन् तत्कर्म, यथा तस्यैवोत्तरंगनिस्तरंगत्वात्मानमनुभवतः स एव परिणामः कर्म तथा तस्य संसारं निस्संसारं चानुभवतः स एव परिणामः कर्म, या परिणतिः स्वपरिणामे परिणमनं सा क्रिया वस्तुतया वस्तुरूपेण ऐक्यात् त्रयमपि कर्तृकर्मपरिणतिरूपं भिन्नं अन्यत् न भवेत् क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नः, परिणाम्यपि क्रियापरिणामयोरभिन्नत्वात्परिणामतोऽभिन्न. ॥ ६ ॥

अथ–जो परिणमे है सो कर्ता है, बहुरि जो परिणम्या ताका परिणाम है सो कर्म है, बहुरि जो परिणति है सो क्रिया है ए तीनूंही वस्तुपणाकरि भिन्न नाहीं है। भावार्थ–द्रव्यदृष्टिकरि परिणाम अर परिणामीका अभेद है अर पर्यायदृष्टिकरि भेद है। तहां भेददृष्टिकरि तौ कर्ता, कर्म, क्रिया तीन कहिये है, अर इहां अभेद दृष्टि परमार्थ कह्या है जो कर्ता कर्म क्रिया तीनूंही एक द्रव्यकी अवस्था हैं प्रदेशभेदरूप न्यारे वस्तु नाहीं है ॥६॥ फेरि कहे हैं–

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ७ ॥

सं० टी०—अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति–एकः आत्मा, सदा–नित्यं परिणमति–परिणामयुक्तो भवति, सदा–निरंतरं, एकस्य आत्मनः, परिणामः–शुभाशुभलक्षणः, जायते–उत्पद्यते, एकस्य–आत्मनः, परिणतिः–परिणमनलक्षणा क्रिया स्यात्, यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः घटादिरूप मृत्तिकया क्रियमाणं प्रति अभिन्नतामनुभवति तथा–आत्मापि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः पुद्गलक्रियया क्रियमाणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति यतः–अभिन्नत्वं तेषां त्रयाणां, अनेकमपि–कर्तृकर्मक्रियारूपेणानेकमपि एकमेव वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यं ॥ ७ ॥

अर्थ–वस्तु एकही सदा परिणमै है, बहुरि एकहीकै सदा परिणाम उपजै है, अवस्थातैं अन्य अवस्था होय है। बहुरि एकहीकै परिणतिक्रिया होय है। जातैं अनेकरूप भया तौऊ एकही वस्तु है। भेद नाहीं है। भावार्थ–एक वस्तुकै अनेकपर्याय होय हैं, तिनिकूं परिणाम भी कहिये अवस्था भी कहिये। ते संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिकरि न्यारे न्यारे प्रतिभासरूप है। तौऊ एक वस्तुही है, न्यारे नाहीं है, ऐसाही भेद अभेदस्वरूप वस्तुका स्वभाव है ॥७॥ फेरि कहे हैं–

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ८ ॥

सं० टी०—उभौ–जीवपुद्गलौ, खलु इति निश्चितं, परिणमतः–परिणाम गच्छतः न–नहि, एक एव हि परिणमति यथा कुलाल घटनिष्पादनाभिमानपरिणाम प्रति परिणमति न तु घटभवनक्रियाया, तथा जीव कर्मनिष्पादनाभिमानपरिणाम प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्यनिष्पादितकर्मक्रिया प्रति, उभयोः जीवपुद्गलयोः परिणामः,–परिणति न जायते–नोत्पद्यते, परस्पर भिन्नस्वभावत्वात्, उभयोः–परात्मनो, परिणति–परिणमनलक्षणा क्रिया न स्यात्–न भवेत्, परस्पर स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावात्, यतः–यस्मात कारणात्, अनेकं–न एकं अनेक जीवपुद्गलौ सदा–नित्य, अनेकमेव भिन्नमेव ।८॥

अर्थ–दोय द्रव्य हैं सो एक होय परिणमै नाहीं है बहुरि दोय द्रव्यका एक परिणाम नाहीं होय है बहुरि दोय द्रव्यकी परिणतिक्रिया एक नाही होय है जातें जो अनेक द्रव्य हैं सो अनेक ही हैं, पलटिकरि एक नाही होय है ।

भावार्थ–दोय वस्तु है ते सर्वथा भिन्नही हैं प्रदेशभेदरूपही हैं, दोऊ एक होय परिणमै नाहीं, एक परिणामकूं उपजावै नाहीं, क्रिया एक होय नाहीं । ऐसा नियम है । जो दोय द्रव्य एक होय परिणमै तौ सर्व द्रव्यनिका लोप हो जाय । फेरि इसही अर्थकूं दृढ करै हैं–

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ६ ॥

सं० टी०—एकस्य–परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा हीति निश्चित द्वौ–जीवपुद्गलौ, कर्तारौ–कारकौ, न स्तः–न भवतः, चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता, चेति भिन्नप्रक्रमे । एकस्य जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे कर्मणी चेतनाकर्मलक्षणे न स्तः, च–पुनः, एकस्य वस्तु–जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे क्रिये–परिणती द्वे, न स्तः, जीवस्य चेतनाक्रिया प्रति परिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रति परिणतत्वात् ! यथा कुलाल स्वपरिणतिक्रिया प्रति परिणतः, मृद्द्रव्य तु कलशक्रिया प्रति परिणतं, अन्यत् मृद्द्रव्यं वस्त्रक्रियां प्रति हेतुर्न स्यात्, यतः–पूर्वोक्तकारणात्, एक–अखडं द्रव्यं जीवादि अनेकं–परपरिणामकर्तृक्रियाभावात् अनेकरूपं, न स्यात्–न भवेत्, अथवा–एक–जीवादि, अनेक स्वकर्तृकर्मक्रियारूपं यतः कुतो न भवेत्, अपि तु भवेदेव ॥ ६ ॥ अथाज्ञानमाहात्म्यविर्ण निरूपयति—

अर्थ–एकद्रव्यका दोय कर्ता न होय, बहुरि एक द्रव्यका दोय कर्म न होय, बहुरि एक द्रव्यकी दोय क्रिया न होय । जातैं एकद्रव्य है सो अनेक द्रव्य होय नाही ॥ भावार्थ–यह निश्चयनयकरि नियम है सो शुद्धद्रव्यार्थिकनयकरि कह्या जानना ।६। अब कहे हैं,जो आत्माकैं अनादितैं परद्रव्यका कर्ताकर्मपणाका अज्ञान है सो जो यह परमार्थनयका ग्रहणकरि एकबार भी विलय होय तौ फेरि न आवै ॥

विशेष–इन चार श्लोकोंमें जो संस्कृत टीकाकारने कुलालका दृष्टांत देकरि आत्माके स्वरूपको समझाया है वह अति उत्तम है टीकाकारकी लेखन शैली सरल है इसलिये कुलाल दृष्टांतका भाव हमने नहिं लिखा ॥ ६ ॥

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद् भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ १० ॥

सं० टी०—ननु इति वितर्के, इह—जगति, इति—अमुना प्रकारेण धावति—अत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीति यावत्। किं? महाहंकाररूपं—महान्—सकलप्राण्यतिश यी स चासौ अहंकारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः, स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत्, तमः अज्ञानं, केषां ? मोहिनां—मोहग्राहग्रस्तानां देहिनां, किंभूतं ? उच्चकैः—अत्यर्थं, दुर्वारं—वारयितुमशक्यं, कियत्पर्यंतं धावति ? आसंसारत एव—यावत्पर्यंतं पंचपरिवर्तनरूपसंसारस्तावत्पर्यंतं प्रसर्पत्येव। इति किं ? कुर्वे—निष्पादयामि करिष्ये वा ' वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवदिति ' सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्, अहं—कर्तृभूतः, किं ? परं—परद्रव्यं गृहपुत्रविवाहशरीरकर्मादिरूपं। यदि—यदा, व्रजेत्—गच्छेत्, विलयं—विनाशं तत् तमः—कर्तृ, एकवार—सकृद्वारं, केन ? भूतेत्यादि—शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन, तत्—तर्हि, किं ? तावत् किं स्यात्, अपि तु न स्यादित्यर्थः, भूयः पुनः, अहो, किं ? बंधनं-कर्मश्लेषणं, कस्य आत्मनः-चिद्रूपस्य किंभूतस्य ? ज्ञानघनस्य—बोधनिरतस्य ॥ १० ॥ अथात्मपरभावं वाभज्यते—

अर्थ—इस जगतविषैं मोही अज्ञानी जीवनिका यह मैं परद्रव्यकूं करौं हौं ऐसा परद्रव्यका कर्तृत्वका अहंकाररूप अज्ञानांधकार अनादि संसारतैं लगाय चल्या आवै है। कैसा है ? अतिशयकरि दुर्वार है निवारया न जाय है। सो आचार्य कहै हैं-जो, शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय परमार्थ है सत्यार्थ है,ताका ग्रहणकरिकै जो एकवार भी नाश हो जाय तौ यह जीव ज्ञानघन है सो यथार्थज्ञान भये पीछैं कहा ज्ञान जाता रहै ? नाहीं जाय, अर ज्ञान न जाय, तब कहां फेरि अज्ञानतैं बंध होय ? कदाचित् नाहीं होय ॥ भावार्थ—इहां तात्पर्य ऐसा, जो अज्ञान तौ अनादिकाही है, परन्तु दर्शनमोहका नाशकरि एकवार यथार्थज्ञान होयकरि क्षायिक सम्यक्त्व उपजै तौ फेरि मिथ्यात्व नाहीं आवै तब मिथ्यात्वका बंध न होय अर मिथ्यात्व गये पीछैं संसारका बंधन काहेकूं रहै ? मोक्ष ही पावै ऐसा जानना ॥ फेरि विशेषकरि कहै हैं—

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥११॥

सं० टी०—आत्मा चेतनः, करोति-विदधाति वेदयते वा, कान् ? आत्मभावान् मतिश्रुतावधिप्रमुखविभावपर्यायान्, केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यरूपशुद्धपर्यायांश्च, परः पुद्गलपदार्थः, परभावान् ज्ञानादन्यान् स्वभावविभावपर्यायान्,करोतीति संबंधः। कुतः ? हीति यतः, आत्मनो भावा पर्यायाः आत्मैव द्रव्यादेशात् पर्यायाणामात्मस्वभावत्वात्, अत एव न ते परपर्यायाः। परस्य-पुद्गलस्य ते भावाः पर एव पुद्गल एव ततोऽव्यतिरिक्तत्वात्, इति ये स्वभावास्ते तदीयाः, न परकीया इति विभागः स्फुटः ॥ ११ ॥ अथ ज्ञानरागयोर्युगपत्प्रवृत्तिं दर्शयति—

अर्थ—आत्मा है सो तौ अपने भावनिकूं करै है बहुरि परद्रव्य है सो परके भावनिकूं करै है। जातै अपने भाव हैं ते तौ आपही हैं, परभाव ते परही हैं यह नियम है ॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालां १२

सं० टी०—तु—पुन. य.—आजन्माभ्यस्तश्रुतत्त्वशास्त्र. पुमान्, रज्यते—वाह्यलाभादिकारणकलापाद्राग गच्छति, कुत:? अज्ञानत.—भेदविज्ञानविलक्षणबोधाद्धेतो., किं कुर्वन्? स्वयं स्वत., ज्ञान—शुद्धात्मज्ञान, भवन्नपि—चिंतयन्नपि, अनुभवन्नपि वा, तान् भवन् वा, किल इत्यागमोक्तौ, स पुमान्, सेत्यादि—तृणेन सह वर्तमानः सतृण, अभ्यवहार,—उत्तमाहारः पायसशर्कराज्यादिरूप., सतृणश्चासावभ्यवहारश्च त करोतीत्येव शील. स तथोक्त. तृणसहितोत्तमाहारभोजीत्यर्थः, यथा तृणादिकमनिष्ट पायसाहार इष्ट, तयोरेकत्रास्वादन कस्य चित्तु सः शुभाशुभ, तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वात् अशुभत्व, ज्ञानानुभवस्य शुभाहारस्थानीयत्वात् शुभत्वं। नून—निश्चितं, असौ ज्ञानरागयोरेकत्वानुभावुक. पुमान् गा धेनु दुग्ध—क्षीरं दोग्धीव प्ररूपयति यथा। कया? दधीत्यादि दधि—दुग्धविकारमाम्लरसोपेत, इक्षुः मधुररसोपेतः इक्षुदण्डः, द्वंद्वः तयोः मधुराम्लरसस्तयोरतिगृद्धि.—अत्याशक्ति., तया, किंकृत्वा? पीत्वा—पान कृत्वा, का? रसाला रसनाविषयासक्तजना वस्त्रगालितदधिशर्करा सृष्टा कमपि रसातर प्राप्य रसालामिति भणति शिखरिणीति देशभाषाया, यथा कश्चित् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोदोहनक्रियाया मधुराम्लरसातिगृद्ध्या प्रवर्तते तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यं ॥ १२ ॥ अथाज्ञानविलास विजृंभते—

अर्थ—जो पुरुष आप निश्चयतै ज्ञानस्वरूप होता संता भी अज्ञानतै तृणसहित अन्नादिक सुन्दर आहारकू मिल्या हुवा खानेवाला हस्ती आदि तिर्यंचकीज्यौं होय प्रसन्न होय है, सो कहा करै है, ताका दृष्टांत कहै हैं-जैसे कोई रसाला कहिये शिखरिणीकूं पीयकरि तिसके दही-मीठेका मिल्या हुवा खाटा मीठा रस, तिसका अति चाहिकरि तिसका रसभेदकूं न जानिकरि, दूधके अर्थि गऊकूं दोहै। भावार्थ—कोई पुरुष शिखरिणी पीयकरि ताके स्वादकी अतिचाहितैं रसका ज्ञानविना ऐसा जान्या-जो, यह गऊका दूधमे स्वाद है। सो गऊकूं अतिलुब्ध होयकरि दोहै तैसे अज्ञानी पुरुष आपापरका भेद न जानि विषयनिमैं स्वाद जानि पुद्गलकर्मकूं अतिलुब्ध होय ग्रहण करे है, अपना ज्ञानका अर पुद्गलकर्मका स्वाद जानि भिन्न नाहीं अनुभवै है। तिर्यंचकीज्यौं अन्नकूं घासमे मिल्या एक स्वाद लेहै ॥ १२॥ फेरि कहे हैं, जो, ऐसे अज्ञानतै पुद्गलकर्म का कर्ता होय है ॥

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥१३॥

स० टी०—अमी एते लोकाः, स्वय-स्वत एव, कर्त्रीभवति-मया कर्म कृतमिति कर्मणा कर्तारो भवंति, कीदृशा अपि ? शुद्धज्ञानमया अपि-निर्मलभेदबोधप्राचुर्याः, अभेदज्ञानिनः, कथं कर्मकर्तारो न स्युरित्यपि-शब्दार्थः, आकुलाः संत, कुतः ? अज्ञानात् भेदज्ञानाभावात् । पुनः ? विकल्पेत्यादिः-विकल्पानां चक्रं-समूह, तस्य करणाच्च कृताच्च हेतो., अत्रैवार्थांतरन्यासमाह वातोदित्यादि वातेन-वायुना, उत्तरगः-उर्ध्वोर्मिमय., स चासावब्धिश्च तद्वत् यथोत्तरंगरहितोऽब्धिर्वातेनोत्तरगीयते तथा शुद्धज्ञानोपि अज्ञानात्कर्ता भवतीत्यर्थः । लौकिकनिदर्शनेनाज्ञानस्य माहात्म्यमाह—मृगाः-हरिणा., धावंति—प्रसर्पंति, किमर्थं ? पातुं पानार्थं, का ? मृगतृष्णिकां-मरीचिका, कया ? जलधिया-पानीयाभावेऽपि पानीयबुद्ध्या, अज्ञानात्-ज्ञानाभावमाश्रित्य, ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथ धावति ? तथा ऽज्ञानिनो भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया—ममत्वधिया च वर्तंते इति भावार्थः । पुनः—द्रवंति—पलायन कुर्वंति, क ? तमसि—तिमिस्रे, के ? जना.-पुरुषाः, केन ? रज्जौ—वराटके 'शुल्बो वराटक. स्त्री तु रज्जुः स्त्रीषु वटी गुण.' इत्यमरः । भुजगाध्यासेन भुजगोयमित्यारोपबुद्ध्या कुतः ? अज्ञानात्—अज्ञानमाश्रित्य यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तते तथा स्वे परकीयं परशरीरादौ स्वमिति कृत्वा वर्तंते अज्ञानिनः ॥ १३ ॥ अथ ज्ञानविलासमाविष्करोति—

अर्थ—ए लोकके जन है ते निश्चयकरि शुद्ध एक ज्ञानमयी हैं, तौऊ आप अज्ञानतैं व्याकुल होय परद्रव्यका कर्तारूप होय हैं ॥ जैसैं पवनकरि कल्लोलनिसहित समुद्र होय है, तैसैं विकल्पनिके समूह करे हैं यातैं कर्ता बनै हैं । देखो-अज्ञानहींतैं मृग हैं, ते भाडलीकूं जल जानि पीवनेकूं दौडै है, बहुरि अज्ञानहीतैं लोक अन्धकारमें जेवडेविषैं सर्पका निश्चय करि भयकरि भागै हैं ॥ भावार्थ—अज्ञानतैं कहा कहा न होय ? मृग तौ भाडलीकूं जल जानि पीवनेंकूं दौडि खेदखिन्न होय है । लोक अंधारेमें जेवडेकूं सर्प मानि डरिकरि भागै है ॥ ऐसैंही यह आत्मा, जैसैं वातकरि समुद्र क्षोभरूप होय तैसैं अज्ञानकरि अनेकविकल्पनितैं क्षोभरूप होय है । सो परमार्थतैं शुद्धज्ञानघन है, तौऊ अज्ञानतैं कर्ता होय है ॥१३॥ फेरि कहै है ज्ञानतैं कर्ता न होय है—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥

सं० टी०—तु-पुनः, अज्ञानविजृंभणविकचानंतरं, जानाति-वेत्ति, कं ? विशेष-भेद, कयोः ? परात्मनोः-पुद्गलकर्मजीवयो. ज्ञानात्-भेदबोधमाश्रित्य, कया ? विवेचकतया-ज्ञानात्मनोर्भेदकस्वरूपतया, इममर्थं निदर्शयति-हस इव-यथा मरालः वाःपयसोः-नीरक्षीरयोः, भेदं वेत्ति तथा ज्ञानी पुद्गलजीवयोः, स पुमान् जानीत एव वेत्त्येव, कं ? चैतन्यधातु-चेतनास्वरूपधातुं आत्मानं वेत्त्यर्थं, किंभूत ? अचलं-स्वस्वभावान्न चलतीत्यचलं, सदा-नित्य, अधिरूढः सन्-गुणसमूहमाश्रितः सन् हीति निश्चित किंचनापि-किमपि, न करोति-कर्तृकर्मक्रि । न विदधाति ॥ १४ ॥ अथ ज्ञानादेव भेदमुज्जृम्भते—

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानतैं बहुरि विवेकी भेदज्ञानीपणातैं परका अर आत्माका विशेष भेद करि जानै है "जैसैं हंस, दूधजल मिले हुये हैं, तौऊ तिनिका भेदकरि ग्रहण करै है तैसैं" सो पुरुष चैतन्यधातु अचलकूं सदा आश्रय करता संता जानै ही है—ज्ञाताही है, किछूभी नाहीं

करै है। भावार्थ—आपापरका भेद जानै सो ज्ञाताही है, कर्ता नही है ॥ आगैं कहै है, जो, जानिये है सो ज्ञानहीतैं जानिये हैं-

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावं ॥ १५ ॥

सं० टी०—प्रभवति-जायते, भिदा-भेद, तस्य स्वेत्यादि स्वस्य आत्मन, रस-अनुभव., तेन विकसन्-विकासं गच्छन् स चासौ नित्य शाश्वत, चैतन्यधातुश्च-चेतनालक्षणो धातुस्तस्य, क्रोधादेश्च कोप-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मनो-वचन-काय-श्रोत्र-चक्षुर्घ्राण-रसन-स्पर्शनादेश्च परस्पर, कुतः ? ज्ञानादेव-शुद्धात्मपरिज्ञानात्, नान्यत एव। किंभूता भिंदती-विदारयती, क ? कर्तृभावं-आत्मनः कर्मणां कर्तृत्वस्वभावं, लौकिकज्ञानादेव सर्वमिति प्रकाशयति-औष्ण्यशैत्यव्यवस्था-शीतोष्णयोर्व्यवस्थिति भवति कयो ? ज्वलनपयसो-वह्निनप्तनीरयो, कुत ? ज्ञानादेव-बोधादेव, यथा कश्चिल्लौकिकव्यवहारज्ञः, एकत्रीभूतयो पावकपयसोर्भेद निश्चिनोति, अभेदज्ञस्तयोरभेदमेव तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेद निश्चिनोति नाज्ञानी। तथा उल्लसति-उल्लास गच्छति, क. ? लवणेत्यादिः लवणस्वादस्य-क्षारलवणस्य कटुकाम्लव्यञ्जनस्वादात्त भेद. विशेष, तस्य व्युदास.-ज्ञान, कुत. ? ज्ञानादेव यथा कश्चिद्भोजनभेदज्ञो व्यञ्जनलवणयोर्भेद व्यक्त वेत्ति, अभेदज्ञ इद क्षारस्वाद व्यञ्जनमेव तथा ज्ञानी क्रोधादिज्ञानयोरेकत्रीभूतयोः पृथक् स्वभाव परिच्छिनत्ति, अज्ञानी तु क्रोधमयमात्मैवेति वेत्ति इति तात्पर्यं। प्रतिवस्तूपमालंकारोयं यदाह वाग्भट्ट—

अनुपात्तविवादाना वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्य प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥

॥ १५ ॥ अथात्मन. स्वपरभावयो. कर्तृत्व निवेद्यते—

अर्थ—अग्निकी अर जलकी उष्णपणाकी अर शीतपणाकी व्यवस्था है सो ज्ञानहीतैं जानिये है। बहुरि लवणका अर व्यंजनका स्वादका भेद है सो ज्ञानहीतैं जानिये है। बहुरि अपने रसकरि विकासरूप होता जो नित्य चैतन्यधातु, ताका अर क्रोधादिकभावका भेद है सोभी ज्ञानहीतैं जानिये है। कैसा है यह भेद ? कर्तापणाका भाव है ताकूं भेदरूप करता संता प्रगट होय है॥ फेरि कहै है, जो, आत्मा कर्ता होय है, तौऊ अपनेंही भावका है—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६ ॥

सं० टी०—आत्मा-चिद्रूप., आत्मभावस्य-स्वस्वरूपस्य, कर्ता स्यात्-भवेत्। किंकुर्वन् ? अंजसा-परमार्थतः आत्मानं-स्वस्वरूप, ज्ञान-बोध, अपि-पुन, एव-निश्चयेन, अज्ञान बोधविपर्यय, कुर्वन् निष्पादयन् यत्किल क्रोधोहमित्यादिवत्, वा मोहोहमित्यादिवत् परद्रव्याण्यात्मीकरोति, आत्मानमपि परद्रव्या

करोत्येवमात्मा तदायमज्ञानकर्ता, कचित्-कदाचित्-परभावस्य-पुद्गलपर्यायस्य न कर्ता, स्यात् ॥ १६ ॥
अथात्मनो व्यवहारिणा कर्तृत्वमति व्युपदिशति—

अर्थ—ऐसैं अज्ञानरूपभी तथा ज्ञानरूपभी आत्माहीकूं करता संता आत्मा प्रगटपणै अपनेही भावका कर्ता है परभावका कर्ता तौ कहूँही नाहीं है ॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोयं व्यवहारिणां ॥१७॥

सं० टी०—आत्मा-चिद्रूपः, ज्ञानं-बोध, करोति स्वयं-ज्ञानमेवात्मा, आत्मज्ञानयोर्द्रव्यादेशादेकत्वात्, ज्ञानात्-बोधं विहाय अन्यत्-घटपटमकुटलकुटशकटादि किं करोति ? अपि तु न विदधात्येव। नन्वात्मनोऽकर्तृत्वे गृहमिदमात्मना कृतमित्यादि व्यवहारः कथमिति चेत् ? न, आत्मनः परभावस्याकर्तृत्वात्। आत्मा-जीवः, परभावस्य-परपर्यायस्य घटादेः कर्ता, व्यवहारिणां-व्यावहारिकपुरुषाणां, अयं-आत्मा कर्तेत्यादि-लक्षणः, मोहः-विभ्रमः। ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामाः-गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लवत् पुद्गलद्रव्य-व्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणादीनि भवति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी ॥ ७ ॥
अथ साक्षेपं जीवस्य पुद्गलकर्तृत्वं प्रतिबध्नाति—

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सो आप ज्ञानही है, ज्ञानतैं अन्यकूं कौनकूं करै ? काहूकूं न करै ॥ बहुरि परभावका कर्ता आत्मा है यह मानना तथा कहना है सो व्यवहारी जीवनिका मोह है—अज्ञान है ॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

सं० टी०—यदि-ननु, जैनं प्रत्याक्षिपति कश्चित्-जीवः—आत्मा, पुद्गलकर्म-पुद्गलमयज्ञानावरणादि कर्म, नैव करोति-न निर्मापयति तर्हि तत् पुद्गलकर्म कः कर्ता कुरुते ? पुद्गलानां स्वयमचेतनत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तेः, अतएव आत्मैव कर्ता लक्ष्यते दक्षैः, इति अमुना प्रकारेण अभिशंकया पूर्वपक्षाशंकया, एवं-निश्चयेन एतर्हि-इदानीं, संकीर्त्यते-निरूप्यते। किमर्थं ? तीव्रेत्यादि-तीव्ररयः-तीव्रतीव्रतरानुभागः स चासौ मोहश्च विभ्रमः, तस्य निवर्हणं-विनाशनं, तस्मै शृणुत-आकर्णयत, पुद्गलकर्म-पुद्गलात्मकं कर्म, द्रव्यभावरूपं कर्तृ-पुद्गलपर्यायाणां कर्तृ-निष्पादकं, आत्मा तु नैमित्तिको हेतुरस्तु आत्मना कृतमिति तु व्यवहारः राज्ञा देशे गुणदोषौ कृतावित्यादिवत् योधैर्युद्धे कृते राज्ञा कृतमित्यादिवद्वा ॥ १८ ॥ अथ पुद्गलपरिणामित्वं पूर्वपक्षक्षेपेण साक्षेपमाक्षिपति—

अर्थ—जो जीव पुद्गलकर्मकूं नाहीं करै है, तौ तिस पुद्गलकर्मकूं कौन करै है ? ऐसी आशंका करिकैं अर इस कर्ताकर्मका तीव्रवेगरूप मोह अज्ञानके दूरि करनेकूं, पुद्गलकर्मका जो कर्ता है सो कहीये है। सो हे ज्ञानके इच्छुक पुरुष हो ! तुम सुणु ॥ १८ ॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥१९॥

सं० टी०—खलु–इति वितर्के इति–पूर्वपक्षप्रकारेण, ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमबद्धं-सज्जीवे कर्मभावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वात् इति चेन्न, अपरिणामिनो नित्यस्यार्थक्रियाकारित्वविरोधात्। अर्थ क्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तते, सापि स्वव्याप्यं सत्त्वमादाय निवर्तते जीवस्याबंधे च संसाराभावात्, इति युक्त्या सांख्यादिना कूटस्थनित्यवादिना विघ्नं कर्तुं न शक्यते वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् ज्वलनौष्ण्यवत्। नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणामयति ततो न संसाराभावः, इति चेत् तर्ह्यात्मा स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा तत्परिणमयेत्? न तावत्प्राक्तनः पक्षः कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षादक्षैः, अपरिणममानस्य तस्य परेण परिणमयितुमशक्यत्वात्, नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। अथोत्तरः पक्षः, तदा तस्य स्वयमेव परिणमनात् परापेक्षणायोगाच्च। तस्यां परिणामशक्तौ, स्थितायां–व्यवस्थितायां, सोऽपि–पुद्गलः, आत्मनः–स्वरूपस्य, भावं–परिणामं, करोति–निष्पादयति, तस्य–भावस्य, स एव पुद्गल एव कर्ता–कारकः, नान्यः ॥ १९ ॥ अथ सांख्यवादिनं प्रति जीवस्य नित्यत्वं निरस्यति—

अर्थ–ऐसैं उक्तप्रकारकरि पुद्गलद्रव्यकै परिणामशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्नसिद्ध भई ठहरी ताकूं ठहरते संते सो पुद्गलद्रव्य जिस भावकूं आपकै करै है, ताका सो पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है ॥ भावार्थ–सर्वद्रव्यनिकै परिणामस्वभावपणा सिद्ध है तातैं जाका भावका जोही कर्ता है। सो पुद्गलद्रव्य भी जिस भावकूं आपकै करै है, ताका सोही कर्ता है ॥

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता २०

सं० टी०—नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारकः स्यात् यदि सोऽस्त्वकारको विक्रियश्चेति चेन्न, प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्तत्फलाभावप्रसंगात्, न ह्यकारकः कश्चित् प्रमाता, प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभावः, गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात्। ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते, इति कश्चित्सांख्यः, सोऽपि न विपश्चिदक्षः, तदपरिणामित्वे संसाराभावप्रसंगात्। यदि क्रोधादिसंयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजातरक्तसंयुक्तस्फटिकवदिति न संसाराभावः, इति चेत्तर्हि क्रोधादिः स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत्? न तावदाद्यः पक्षो लक्ष्यो विपक्षैः, स्वयमपरिणममानस्य परैः कारणांतरसहस्रैर्वैक्रावगाहत्वपरिणमयितुमशक्यत्वात्। अथोत्तरस्तर्हि सिद्धं नः समीहितं, इत्युक्तयुक्त्या जीवस्य–आत्मनः, या परिणामशक्तिः–ज्ञानावरणादिपरिणमनसामर्थ्यं सा स्थिता, किंभूता? निरंतरा–विघ्नवर्जिता, पुनः कीदृक्षा? स्वभावभूता पारमार्थिकी परानपेक्षत्वात्। तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां "कारणस्य कार्यात्मनो भवतः क्षेपायोगात् स्वभावांतरानपेक्षणात्" इति, तस्यां–स्वभावभूतायां परिणामशक्तौ स्थितायां सत्यां, सः–जीवः, यं–ज्ञानादि लक्षणं स्वस्य आत्मनः भावं–स्वभावं करोति सृजति स जीवः तस्यैव ज्ञानादिलक्षणस्य भावस्य न पुनरन्यस्य कर्ता–कारकः, भवेत्–स्यात् ॥ २० ॥ अथ ज्ञानाज्ञानयोर्ज्ञानाज्ञानत्वं कुतः? इति पद्यद्वयेनाभिलपति—

अर्थ–जीवकै अपने स्वभावहीतैं भई ऐसी परिणामशक्ति है सो पूर्वोक्तप्रकार निर्विघ्न ठहरी ताकूं ठहरते संते सो जीव जिस भावकूं आपकै करै, ताहीका सो कर्ता होय है। भावार्थ–जीवभी परिणामी है, सो आप जिसभावरूप परिणमै ताका कर्ता होय है।

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।

अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥२१॥

सं० टी०—ज्ञानिनः पुंस, ज्ञानमय एव-बोधनिर्वृत्त एव,-कुतः-कस्माद्धेतोः ? भवेत्-स्यात्, पुनः अन्यो भावः कुतो न स्यात्। अज्ञानिन.-ज्ञानत्यक्तस्य तु अयं प्रसिद्धो ममत्वादिलक्षणः सर्वः-समस्तः, अज्ञानमय.-अज्ञाननिर्वृत्तो भावः कुतो हेतोर्भवेत्, न पुनरन्यः-ज्ञानादिलक्षणः ॥ २१ ॥

अर्थ-इहां प्रश्नवचन है-जो ज्ञानीकै तौ ज्ञानमयही भाव होय है अर अन्य नाहीं होय है, सो यह तौ काहेतैं है ? बहुरि अज्ञानीकै अज्ञानमय ही सर्वभाव होय है अर अन्य नाहीं होय है, सो यह काहेतैं होय है ?

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवंति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥ २२ ॥

सं० टी०-हीति-यस्मात् कारणात् ज्ञानिनः-पुंसः, सर्वे-निखिलाः, भावाः-परिणामाः, ज्ञाननिर्वृत्ताः ज्ञाननिष्पन्नाः, भवंति-जायते, ज्ञानाद् ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावा, यथा जाम्बूनदजातितो जांबूनदपात्रकुंडलादयः। तु-पुनः, अज्ञानिनः पुंसः, ते प्रसिद्धा. अहंकारादयः, सर्वेऽपि—समस्ता अपि अज्ञाननिर्वृत्ता ये अज्ञानमया एव भवंति जायते यथा कालायसमयाद्भावात् कालायसपात्रवलयादयः, ततोऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः, तथा चोक्तं-

द्वैताद् द्वैतमद्वैतादद्वैत खलु जायते। लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नो हेममयं यथा ॥ इति

॥ २२ ॥ अज्ञानत एव कर्मणा बंधमिति प्रतिजानीते-

अर्थ—ज्ञानीकैं सर्वही भाव हैं ते ज्ञानकरि निपजै हैं। बहुरि अज्ञानीकै जे सर्वही भाव हैं ते अज्ञानकरि निपजै हैं ॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुतां ॥ २३ ॥

सं० टी०-अज्ञानी-ज्ञानच्युत पुमान्, एति प्राप्नोति, कां ? हेतुतां-कारणतां, केषां द्रव्येत्यादि-द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां निमित्तानि-कारणानि तेषां भावानां पर्यायाणा-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोग-प्रमादादि रूपाणां, किंकृत्वा ? व्याप्य-प्राप्य, कां ? भूमिकां स्थानं, केषां ? अज्ञानमयभावानां-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणानां ॥ २३ ॥ अथानयपक्षपाते सुखमावेदयति—

अर्थ-अज्ञानी है सो अज्ञानमय अपने भाव, तिनिकी भूमिकाकूं व्याप्यकरि आगामी द्रव्यकर्मकूं कारण जे अज्ञानादिक भाव, तिनिका हेतुपणाकूं प्राप्त होय है।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥ २४ ॥

सं० टी०—य एव योगिनः,-निवसति-तिष्ठंति, नित्यं-निरंतरं-आजन्मपर्यंतं, किंभूताः संतः ? स्वरूपगुप्ताः स्वरूपे-निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपनं येषां ते 'अभ्रादिभ्यः' इति जैनेंद्रसूत्रेणास्त्यर्थे अः, किंकृत्वा ?

मुक्त्वा-हित्वा, कं ? नयपक्षपातं-नयाना-अपि कर्म बद्धमबद्धं चेत्यादिरूपाणां नयेषु वा पक्षपातः-ममत्वाभिनिवेशस्तं, त एव पुरुपा., नय मुक्त्वा पिवति पान कुर्वंति आस्वादयतीत्यर्थः, साक्षात्-प्रत्यक्षं, किं ? अमृतं न म्रियते येन परात्मध्यानेन तदमृतं परमात्मध्यानुमुक्तिनिवासित्वेन मरणनिवर्हकत्वात्, किंभूताः सन्तः ? विकल्पेत्यादि विकल्पाना जालं समूह , तेन च्युत रहितं, शात उपशमं प्राप्त, चित्त मानम येषा ते ॥ २४ ॥ अथ बद्धमूढरक्तदुष्टकर्त्रितरादिनयविभाग जेगीयते—

अर्थ—जे पुरुप नयका पक्षपातकूं छोडि अपने स्वरूपविषैं गुप्त होय निरंतर वसे हैं, तेही पुरुप विकल्पके जालतैं रहित शांत भया है चित्त जिनिका ऐसे भये संते साक्षात् अमृतकूं पीवै है ॥ भावार्थ—जेतै कछू पक्षपात रहै तेतैं चित्तका क्षोभ मिटै नाहीं, जब सर्वनयका पक्षपात मिटि जाय, तब वीतरागदशा होय स्वरूपकी श्रद्धा निर्विकल्प होय अर स्वरूपविषै प्रवृत्ति होय है ॥ २४ ॥ अब नयपक्षकूं प्रगटकरि कहै हैं, अर तिसकूं छोडे है सो तत्त्वज्ञानी है स्वरूपकूं पावै है' ऐसा अर्थके कलशरूप वीस काव्य कहै हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२५॥

सं० टी०—एकस्य-व्यावहारिकनयस्य पर्यायार्थिकसञ्ज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा बद्ध'—कर्मभिर्निबद्धः, तथा तेनैव प्रकारेण, परस्य निश्चयनयस्य द्रव्यार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा न बद्धः कर्मभि , इति अमुना प्रकारेण, चिति चिद्रूपे, द्वयोः उभयोर्नययोः द्रव्यपर्यायार्थिकयोः, द्वौ उभौ, पक्षपातौ अभिनिवेशौ स्तः, यः कश्चित्, तत्त्ववेदी परमार्थवेत्ता सन्, च्युतपक्षपात. बद्धेतरयोर्नययो पक्षपातरहितः भवतीत्याध्याहार्यं, तस्य तत्त्ववेदिन., खलु इति नियमेन, नित्य निरतर, चित् चैतन्य, चिदेव ज्ञानस्वरूपमेव, अस्ति—भवति, साक्षात्केवलज्ञानी भवतीति यावत् ॥ २५ ॥

अर्थ—यहू चिन्मात्र जीव है सो एक नयका तौ कर्मकरि बंध्या है ऐसा पक्ष है । बहुरि दूसरे नयका कर्मकरि नाहीं बंध्या है । ऐसे दोऊही नयके दोऊ पक्ष हैं । सो ऐसे दोऊ नयका जाकै पक्षपात है सो तौ तत्त्ववेदी नाहीं है । बहुरि जो तत्त्वका स्वरूप जाननेवाला है, सो पक्षपातरहित है । तिस पुरुपका जो चिन्मात्र आत्मा है सो चिन्मात्र ही है । यामैं पक्षपातकरि कल्पना नाही करे है ॥ भावार्थ—इहां शुद्धनयकूं प्रधानकरि कथन है । तहां जीवनामा पदार्थकूं शुद्ध नित्य अभेद चैतन्यमात्र स्थापित कर कहे हैं, जो इस शुद्ध नयका भी जो पक्षपात करेगा, सो भी तिस स्वरूपका स्वादकूं नाही पावेगा । अशुद्धपक्षकूं तौ गौणकरि कहतेही आवै हैं । अर कोई शुद्धनयका भी जो पक्षपात करेगा, तौ पक्षका राग न मिटेगा । तब वीतरागता नाहीं होयगी । तातै पक्षपातकूं छोडि चिन्मात्रस्वरूपविषै लीन भये समयसार पावै हैं। अर चैतन्यके परिणाम परनिमित्ततैं अनेक होय हैं । तिनि सर्वनिकूं गौण कहतेही आवै हैं । तातै सर्वपक्ष

छोडि शुद्धस्वरूपका श्रद्धान करि पीछे स्वरूपविषै प्रवृत्तिरूप चारित्र भये वीतरागदशा करना योग्य है ॥ २५ ॥ अब जैसे बद्ध अबद्धपक्ष छुडाई तैसेंही अन्यपक्षकूं प्रगट कहिकरि छुडावै हैं—

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।२६।

अर्थ—एकनयके तौ जीव मूढ है मोही है, बहुरि दूसरे नयके मूढ नाहीं है यह पक्ष है। ऐसे ये दोऊही चेतन्य विषैं पक्षपात हैं। बहुरि जो तत्त्ववेदी है सो पक्षपातरहित है, ताका चित्‌ही है, मोही अमोही नाहीं है ॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २७ ॥

अर्थ—एकनयके तौ यह जीव रक्त कहिये रागी है ऐसा पक्ष है, बहुरि दूसरे नयके रक्त नाहीं है ऐसा पक्षपात है। सो ए दोऊही चेतन्यविषैं नयके पक्षपात है ॥ बहुरि जो तत्त्ववेदी है सो पक्षपात नाहीं है, ताकै जो चित् है सो चित ही है ॥

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २८ ॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २९ ॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३० ॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३१ ॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३२ ॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३३ ॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३४ ॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३५ ॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३६ ॥
एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३७ ॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३८ ॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३९ ॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४० ॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४१ ॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४२ ॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४३ ॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४४ ॥

सं. टी.—पूर्ववद् व्याख्येयानि मूढरक्तेतरादिपदपरिवर्तनेन ॥ २६—४४ ॥ अथ नयातिक्रमेण स्वानुभूतिमुपदर्शयति—

अर्थ—एक नयकै तौ दुष्ट कहिये द्वेषी है, बहुरि दूसरे नयकै दुष्ट नाहीं है । ऐसैं ए चैतन्यविषैं दोऊ नयकै दोय पक्षपात हैं एक नयकै कर्ता है दूसरे नयकै कर्ता नाही है ए ऐसे चैतन्यविषैं दोऊ

नयके दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके भोक्ता है, दूसरे नयके भोक्ता नाहीं है। ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं,एक नयके जीव है,दूसरे नयके जीव नाहीं है। ऐ चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके सूक्ष्म हैं,दूसरे नयके सूक्ष्म नाहीं। ऐसे ए चैतन्यविषैं दोऊ नयके दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके हेतु है,दूसरे नयके हेतु नाहीं है ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके कार्य हैं, दूसरे नयके कार्य नाहीं। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके भावरूप है दूसरे नयके अभावरूप है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके एक है,दूसरे नयके अनेक है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके सांत कहिये अन्तसहित है,दूसरे नयके अन्तसहित नाहीं है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके नित्य है, दूसरे नयके अनित्य है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके वाच्य कहिये वचनकरि कहने मैं आवै है, दूसरे नयके वचनगोचर नाही है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके नानारूप है,दूसरेके नानारूप नाहीं है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं एक नयके चेत्य कहिये जानने योग्य है,दूसरेके चिंतवनेयोग्य नाही है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके दृश्य कहिये देखनेयोग्य है, दूसरेके देखनेमें नाहीं आवै है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एकनयके वेद्य कहिये वेदनेयोग्य है, दूसरेके वेदनेमें न आवे है ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। एक नयके भात कहिये वर्तमानप्रत्यक्ष है, दूसरेके नाहीं है। ए दोऊ नयके चैतन्यविषैं दोऊ पक्षपात हैं। ऐसैं चैतन्यसामान्यविषैं ए सर्व पक्षपात हैं। वहुरि तत्त्ववेदी है सो स्वरूपकूं यथार्थ अनुभवन करनेवाला है। ताका चिन्मात्रभाव है सो चिन्मात्रही है पक्षपातसूं रहित है। भावार्थ जीवके परनिमित्ततैं अनेक परिणाम हैं, तथा यामैं साधारण अनेक धर्म हैं। तथापि असाधारण-धर्म चित्स्वभाव है सोही सामान्यभावकरि शुद्धनयका विषय है, तिसहीकूं प्रधानकरि कथन है, सो याके साक्षात् अनुभवके अर्थि ऐसा कह्या है, जो यामैं नयनिके अनेक पक्षपात उपजै हैं वद्ध अवद्ध, मूढ अमूढ, रागी विरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सांत असांत, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य भात अभात, इत्यादि नयनिके पक्षपात हैं। सो तत्त्वका अनुभव करनेवाला पक्षपात नाहीं करै है। नयनिकूं तो यथायोग्य विवक्षातैं साधै है। अर चैतन्यकूं चेतनमात्रही अनुभवन करै है। ॥ २८–४४ ॥ इसही अर्थका संक्षेपकरि काव्य कहैं हैं–

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षां।
अंतर्वहिःसमरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं ॥ ४५ ॥

सं टी —एक, स्व–आत्मीय, भावं–स्वभाव, अनुभूतिमात्रं अनुभवमेव, उपयाति प्राप्नोति, किंभूतं स्व ? अंतरित्यादि. अत' अभ्यन्तरे, बहि. बाह्ये, य' समरस' साम्यरसः, स एव एक. अद्वितीय, आस्वाद्यमानरसस्वभावः स्वरूप यस्य तत् किं कृत्वा ? एव उक्तविंशतिपद्योक्तनयप्रकारेण नयपक्षकक्षा नयपक्षांगीकारं, व्यतीत्य हित्वा, किंभूता ? स्वेच्छेत्यादि स्वेच्छया समुच्छलंतश्च तेऽनल्पविकल्पाश्च तेषा जाल समूहो यस्या सा ता, महतीं महाप्रसरप्राप्ता ॥ ४५ ॥ अथ विकल्पजाल धिक्कृत्य स्वरूप ततन्थते

अर्थ–जो तत्त्वका जाननेवाला पुरुष है सो पूर्वोक्तप्रकार आपै आप उठते हैं बहुत विकल्पनिके जाल जामैं, ऐसी जो बडी नयपक्षरूप वनी ताकूं उल्लंघनकरि अर समरस जो वीतरागभाव सोही है एकरस जामैं ऐसा है स्वभाव जाका ऐसा जो आत्माका भाव अपना स्वरूप अनुभूतिमात्र, ताकूं प्राप्त होय है ॥ ४५ ॥ फेरि कहैं हैं–

इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ४६ ॥

सा० टी०—यस्य चिन्महम , विस्फुरणमेव प्रकाशनमेव, इदं प्रसिद्ध, ममैतदस्याहमित्यादिरूप, कृत्स्नं समस्त, इन्द्रजाल महेन्द्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासादृश्यत्वादसद्रूपत्वाच्च व सर्वमिन्द्रजाल,–तत्क्षण–उदयकाल, क्षस्यति–निराकरोति. किंभूत ? उच्छलत् अधिकं प्रापयत् , काभि ? पुष्कलेत्यादि—विकल्पममत्वादिरूपा. सकल्पास्त एव वीचयः कल्लोलाः बहुलास्ताश्च ता उच्चलत्य.–ऊर्ध्वं प्राप्नुवत्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः तत्–प्रसिद्ध , चिन्मह चित्स्वरूप धाम, अस्मि–भवामि ॥ ४६ ॥ अथ समयसारचेतनामाचिंतयति–

अर्थ–तत्त्ववेदी ऐसा अनुभवन करे हैं जो मैं चिन्मात्र मह-तेजका पुंज हूं । जाका स्फुरायमान होनाही, बडी बडी पुष्ट उठती चंचल जे विकल्परूप लहरी, तिनिकरि उछलता इनि नयनिका प्रवर्तनरूप इन्द्रजाल, तत्काल समस्तनिहीकूं दूर करे है । भावार्थ–चैतन्यका अनुभवन ऐसा है, जो याकै होते समस्त नयनिका विकल्परूप इन्द्रजाल है सो तत्काल विलय हो जाय है ॥ ४६ ॥

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकं ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥ ४७ ॥

सा० टी०—चेतये—चिंतयामि–ध्यानविषयीकरोमीत्यर्थ , कं ? समयसार सम्यक् अयति–गच्छति निजगुणपर्यायानिति समयाः—पदार्था., अथवा समयति–जानाति स्वरूपमिति आत्मान., तेषा मध्ये सारः श्रेष्ठस्तं, किंभूत अपार–गुणपाररहित पुन. एक–अद्वितीय, कया ? चिदित्यादि–चिदेव स्वभावो यस्य स चित्स्वभावः—आत्मा, तस्य भरः–अतिशय. प्रतिक्षण त्रिलक्षणोपादानलक्षणः तेन भाविता –निष्पादिताः, भावाभावभावा –भूयत इति भाव उत्पाद., अभाव.–पूर्वपर्याय , भवन भावः द्रव्यरूपेण ध्रौव्यता, द्वंद्व , तेषा परमार्थता–सत्यता–एकार्थता तया, किंकृत्वा ? अपास्य—छित्वा, का ? बंधपद्धतिं—कर्मबंधश्रेणीं. समस्तां–निखिलां, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपा ॥ ४७ ॥ अथ समयसार पापठीति—

अर्थ—मैं जू हौं तत्त्वका जाननेवाला सो समयसार जो परमात्मा ताही अनुभवूं हूं। कैसा है समयसार? चैतन्यस्वभावका सार कहिये पुंज, ताकरि भया है भाव अभावस्वरूप जो एकभाव स्वरूप परमार्थ तिसपणाकरि एक है। भावार्थ—परमार्थकरि विधिप्रतिषेधका विकल्प जामें नाहीं है। बहुरि पहले कहा करि अनुभवूं हूं? समस्तही जो बंधकी पद्धति कहिये परपाटी, ताकूं, दूर करिकैं। भावार्थ—परद्रव्यके कर्ता कर्म भावकरि बंधकी परपाटी चाले थी, ताकूं पहले दूरी करि समयसारकूं अनुभवूं हौं बहुरि कैसा है, अपार है जाके केवलज्ञानादिगुणका पार नाही है ॥४७॥ आगे ऐसा नियम करि ठहरावै हैं जो पक्षतैं अतिक्रांत दूरिवर्त्ती हो समयसार है—

विशेष—संस्कृतटीकाकारने श्लोकके पूर्वार्धभागका अर्थ यह किया है कि आत्मामें प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्य अवस्था हुआ करती है इसलिये इसरूपसे वह अनेक कहा जा सकता हैं परंतु ये तीनो अवस्था परमार्थस्वरूप हैं आत्मामें ही इन अवस्थाओंकी उथल पुथल हुआ करती है.इसलिये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप होनेपर भी यह आत्मा एक स्वरूप ही हैं। परंतु पं० जयचन्द्रजीका अर्थ इससे भिन्न हैं ॥ ४७ ॥

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान् ॥
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययं ॥ ४८ ॥

सं० टी०—यः समयस्य—पदार्थस्य मध्ये सारः—उत्कृष्टः आत्मेत्यर्थः, स्वयं—परप्रकाशाद्यभावेन; भाति—शोभते, नयानां बद्धमूढादीनां पक्षैः—अंगीकारैः, विना—अंतरेण, निभृतैः—निश्चलैः,—एकाग्रता-गतैर्योगिभिः, आस्वाद्यमान—ध्यानविषयीक्रियमाणः अचलं—निश्चलं यथा भवति तथा, अथवा—अविकल्प-भावस्य विशेः (?) अविकल्पभावं—विकल्परहितभावं, आक्रामन्—स्वीकुर्वन्, पुनः किंभूतः? विज्ञानैकरसः विज्ञानस्य—विशिष्टबोधस्य, एकरसः, यः सः, पुमान्—आत्मा, भगवान्—ज्ञानी, पुण्यः प्रशस्तः. पवित्रो वा पुराणः—चिरंतनकालीनः—पुरातन इत्यर्थः, अयं—आत्मा, ज्ञानं—बोधः, ज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्य-मानत्वात्, अपि—पुनः, अयं, दर्शनं—सत्तालोचनमात्रं, सम्यक्त्वं वा आत्मैव, अथवा किं बहुना? विकल्पेन किं साध्यं? न किमपि, यत्किंचन चारित्रं सौख्यं किंचित् एकोप्ययं—अद्वितीय आत्मैव—आत्मव्यतिरेकेण तेषामनुपलभ्यमानत्वात् आत्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात् ॥ ४८ ॥ अथात्मनो गतानुगतत्वं साधयति—

अर्थ—जो नयनिका पक्षविना निर्विकल्पभावकूं प्राप्त होता, निश्चल जैसे होय तैसे समय कहिये आगम अथवा आत्मा, ताका सार है सो शोभै है। सो कैसा है? जे निश्चितपुरुष हैं

तिनिकरि स्वयं आस्वाद्यमान है,तिनिने अनुभवतैं जाणि लीया है। सोही यह भगवान् विज्ञानही एकरस जाका एसा है, सो पवित्र पुराणपुरुष है, याकूं ज्ञान कहौ अथवा दर्शन कहौ अथवा किछू और नाम करि कहो जो कछु है सो यह एक ही है,नाना नाम कहावै है ॥४८॥ अब कहै हैं, जो यह आत्मा ज्ञानतैं च्युत भाया था सो ज्ञानहीमूं आय मिलै है—

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहर—
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ४९ ॥

सं० टी०—तदेकरसिना—तस्मिन्—आत्मनि—एक:—अद्वितीय', रस:, येषा तेषा योगिना, अयं—प्रसिद्ध:, आत्मा—चिद्रूप:, आत्मन्येव—स्वस्वरूप एव गमनागमनता, आयाति—प्राप्नोति, सदा—निरंतरं, आत्मानं स्वस्वरूपं, आहरन्—स्वीकुर्वन् , किंभूत ? विज्ञानैकरस'—विशिष्टबोधैकरसास्वादक:, निजौघात् विज्ञानैकरससमूहात, च्युत:—परिच्युत. सन भूरीत्यादि—भूरिविकल्पाना जालं—समूहस्तदेव गहन—वन, अवगाहयितुमशक्यत्वात तस्मिन् , दूर—आत्मस्वरूपादनिकट यथा भवति तथा भ्राम्यन्—भ्रमणं कुर्वन् , दूरादेव—स्वस्वरूपादसमीपत एव, बलात—हठात , बहिर्द्रव्यममत्वादिपरीत्यागरूपात् , निजौघ—विज्ञानैकरस समूहं, नीत: प्राप्त:, कुत: ? विवेकनिम्नगमनात्—विवेक—परात्मनोर्भेदेन विवेचकत्वं, स एव निम्न—गभीरं गमनं—गति:,तस्मात् , बहिर्भ्रमन् विकल्पे विवेकवशात् स्वस्वरूपे आयाति । किमिव ? तोयवत् यथा पानीयं स्वस्थाने गतानुगतता करोति निजौघाच्च्युत वने भ्राम्यत् , निम्नगमनविशेपनिजस्थान प्राप्नोतीति, उक्तिलेश ॥ ४९ ॥ अथ विकल्पस्वरूप विकल्पयति—

अर्थ—यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभावतैं च्युत भया संता, प्रचुरविकल्पनिके जालके गहनवनमें अतिशयकरि भ्रमण करेथा, तिस भ्रमतेकूं विवेकरूप नीचे मार्गके गमनकरि जल-कीज्यौं अपना विज्ञानघनस्वभावविषैं दूरतैं आणि मिलाया। कैसा है ? जे विज्ञानका रसहीके एकरसीले हैं, तिनिकूं एक विज्ञानरसस्वरूप ही है। सो ऐसा आत्मा अपने आत्मास्वभावही विषैं समेटता संता,जैसा बाह्य गया था तेसे ही अपने स्वभावविषैं आय प्राप्त होय है। भावार्थ इहां जलका दृष्टांत है। जैसे जल है सो जलके निवासमैंसूं कोई मार्गकरि बाह्य निसरै है सो वनमें अनेक जायगा भ्रमै, फेरि कोई नीचामार्गकरि ज्यौंका त्यौं अपना जलके निवासमें आय मिले। तैसे आत्माभी अनेक विकल्पनिके मार्गकरि स्वभावतैं च्युत भया भ्रमण करता संता कोई विवेक भेदज्ञानरूप नीचा मार्गकरि आपही आपकूं खेंचता संता, अपने स्वभाव विज्ञान-घनविषैं आय मिले है ॥ ४९॥ अब कर्ताकर्म अधिकारकूं पूर्ण कीया है' सो कर्ताकर्मका संक्षेप अर्थका कलशरूप श्लोक कहै हैं-

विकल्पक: परं कर्ता विकल्प: कर्म केवलं ।

न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ५० ॥

सं० टी०—परं-केवल, विकल्पकः-परद्रव्ये ममेदमिति, अभिनिवेशो विकल्पः स्वार्थे कप्रत्ययविधानात्, कर्ता-कर्मणा कर्तृत्वेन प्रतिभवति, केवलं-परं, विकल्पः कर्म, भावकर्मणां विकल्पस्वरूपत्वात् कर्महेतुत्वाद्वा विकल्पस्य कर्मत्वं कारणे कार्योपचारात्, जातु—कदाचित्, सविकल्पस्य-देहिनः, कर्तृकर्मत्वं न नश्यति-न निरस्यति ॥ ५० ॥ अथ जीवपुद्गलयोः कर्तृवेतृत्वं भिनत्ति—

अर्थ—विकल्प करनेवाला तौ केवल कर्त्ता हैं। बहुरि विकल्प हैं सो केवल कर्म हैं । अन्य किछु कर्त्ताकर्म नाहीं हैं,यातैं जो विकल्पसहित है, ताका कर्ताकर्मपणा कदाचित् भी नष्ट नाहीं होय है । भावार्थ—जहां तांई विकल्पभाव है, तहां तांई कर्ताकर्मभाव है । जिस काल विकल्पका अभाव होय, तिस काल कर्ताकर्मभाव का भी अभाव होय है ॥५०॥ अब कहै है, जो करे हैं सो करेही हैं जाने सो जानैही है—

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं।
यः करोति नहि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ५१ ॥

सं० टी०—यः-पुद्गलः करोति-द्रव्यभावनोकर्म विदधाति स पुद्गलः केवलं-परं, करोति कर्मादि सृजत्येव । तु-पुनः, यः-आत्मा-वेत्ति स्वपरस्वरूपं परिच्छिनत्ति, सः-आत्मा, केवलं-परं, वेत्त्येव-जानात्येव तु शब्दः एवार्थे । ननु यत्प्रधानं महदादि करोति तदेव वेत्ति नत्वात्मा—

प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्ततश्च गणः षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि ॥

इति वचनात्, एकस्यैव कर्तृत्ववेतृत्वोपपत्तेः, नत्वात्मनः किंचिदुपपन्नं तस्य सकलजगत्साक्षिकत्वात् ? इति चेत्तन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत् अन्यथा पुमान्निष्फलः स्यात् चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतनेतरत्वविभागानुपपत्तिः, अत आत्मनश्चेतनत्वं तस्याचेतनत्वं हीति यस्मात् कारणात् । यः-पुद्गलः, करोति कर्मादिकं, सः-पुद्गलः, क्वचित्-कदाचित् न वेत्ति-न जानाति तस्य सर्वथाऽचेतनत्वात् । तु-पुनः, यः-आत्मा वेत्ति सः-आत्मा क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्काले न करोति कर्मादि, तस्य कर्माकर्तृकत्वात् ॥ ५१ ॥ अथ ज्ञप्तिकरोत्योर्भिन्नत्वमुद्भासते—

अर्थ—जो करै है, सो केवल करैही है। बहुरि जो जानै है, सो केवल जानैही है। बहुरि जो करै है, सो कछू ही नाही जानै है। अर जो जानै, सो कछूही नाही करै है॥ भावार्थ—कर्ता है सो ज्ञाता नाहीं, अर ज्ञाता है सो कर्ता नाहीं ॥ अब कहै है ऐसेही करनेरूपक्रिया अर जाननेरूपक्रिया दोऊ भिन्न हैं—

विशेष—पुद्गल कर्ता है वह कुछ जानता नहीं। आत्मा जानता है वह कुछ करता नहीं इसलिये कर्ता पुद्गल कर्ता ही है और ज्ञाता आत्मा ज्ञाता ही है। संस्कृतटीकानुसार यह इसका तात्पर्य है और इस श्लोकका उल्लेख खासकर खंडनार्थ किया है ॥ ५१ ॥

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेंऽतः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेंऽतः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ५२ ॥

सं० टी—हीति-स्फुटं, करोतौ-कर्तृक्रियायां सत्या, अंत:-मध्ये, ज्ञप्ति:-ज्ञातृता, न भासते-न प्रतिभासते, च-पुन:, ज्ञप्तौ-ज्ञातृताया प्रतिभासमानायां अत:-अभ्यन्तरे, करोति:-आत्मन. कर्तृस्वभाव', न भासते-न चकास्ति, तत. कारणात् परस्परपरिहारेण व्यवस्थानात्, ज्ञप्ति.-ज्ञातृता च-पुन', करोति-कर्तृता च विभिन्ने-पृथक्स्वभावे, तत. परस्पर भिन्नस्वभावत्वात्, इति च स्थिता-इति सुप्रतिष्ठ-यो ज्ञाता चिद्रूप: स कर्ता न भवेदिति ॥ ५२ ॥ अथ कर्तृकर्मणो. परस्परमैक्य निराचेक्रीयते—

अर्थ—जाननेरूप क्रिया है, सो तौ करनेरूप क्रियाविषैं अंतरंगमें नाहीं भासै है। बहुरि करनेरूप क्रिया है, सो जाननेरूप क्रियाविषैं अंतरंगमे नाहीं भासै है। तातैं ज्ञप्तिक्रिया अर करोतिक्रिया दोऊ भिन्न है। तातैं यह ठहरी जो ज्ञाता है सो कर्ता नाहीं है॥ भावार्थ जिसकाल ऐसे परिणमै है, जो मैं परद्रव्यकूं करूं हौं, तिसकाल तिस जाननक्रियारूप ज्ञाता ही है॥ इहां कोई पूछै है, अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकै जेतैं चारित्रमोहका उदय है तेतैं कषायरूप परिणमै है। तहां कर्ता कहिये कि नाहीं ?॥ ताका समाधान—जो अविरतसम्यग्दृष्टिआदिकै श्रद्धान ज्ञानमय परद्रव्यके स्वामीपणारूप कर्तापणा याकै नाहीं, अर कषायरूप परिणमन हैं सो उदयकी वरजोरीतैं हैं, ताका यह ज्ञाता है॥ तातैं अज्ञानसंबंधी कर्तापणा याकै नाहीं है। अर निमित्तकी वरजोरीका परिणमनका फल किंचित होय है। सो संसारका कारण नाहीं है। जैसैं वृक्षकी जड कटे पीछैं किंचित्काल रहै तैसैं है॥ फेरि दृढ करै हैं—

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति—
र्नैष्प (प) थ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किं ॥५३॥

सं० टी०—कर्मणि-ज्ञानावरणादिकर्मरूपपरिणतपुद्गलपर्याये, कर्ता-आत्मन: कर्तृत्वं, नास्ति-न विद्यते, नतु तस्मात् कर्मणि कर्तृत्वाव्यवस्थानात् नियत-निश्चित। यदि कर्मणि कर्ता न तर्हि कर्तरि कर्म भविष्यति ? तन्निषेधार्थमाह-कर्मापि-ज्ञानावरणादिपरिणतपुद्गलपर्याय:, कर्तरि-आत्मनि, नास्ति-न विद्यते, यदि चेत् ? विप्रतिषिध्यते-निराक्रियते, किं ? द्वंद्वं-युग्म-कर्तृकर्मरूप, तदा तर्हि कर्तृकर्मस्थिति:-कर्तृकर्मणो: आत्मा कर्ता पुद्गलपर्याय: कर्म इति व्यवस्था का नाम ? न कापि। इति अमुना प्रकारेण वस्तुस्थिति:-वस्तुव्यवस्था व्यक्ता-स्पष्टा, इति किं ? ज्ञातरि-आत्मनि, ज्ञाता-ज्ञातृस्वभाव', नान्यत्र न पुन: कर्तृस्वभाव:, सदा-निरतर कर्मणि-कर्मपर्यायपरिणतपुद्गले कर्म कर्मेति व्यपदेश: नान्यत्र ज्ञातरि, बत इति खेदे परस्परं तयोर्भिन्नत्वे वेदयत्याचार्य. एष मोह.-ममत्वकारकमोहनीयं कर्म, तथापि-परस्परमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वेऽपि रभसात्-शीघ्रं, नैष्पथ्ये-निर्गत: पथा मार्गो यत्र स्थाने तत् निष्पथं तस्य भावो नैष्पथ्यं तस्मिन् अमार्गस्थानत्वे इत्यर्थ: किं कथ, नानटीति अतिशयेन नाटयति कर्मकर्तृविकल्पानवकाशे मोह' कथं कर्तृकर्मविकल्पान् कारयतीति यावत्॥ ५३॥ अथ ज्ञानज्योतिर्जाज्वलीति—

अर्थ—कर्ता है सो तौ कर्मविषै निश्चयकरि नाहीं है, बहुरि कर्म है सो भी कर्ताविषैं निश्चयकरि नाहीं है। ऐसैं दोऊही परस्पर विशेषकरि प्रतिषेधिये, तब कर्ताकर्मकी कहा स्थिति होय ? नाहीं होय। तब वस्तुकी मर्यादा प्रगट व्यक्तरूप यह ठहरी, जो, ज्ञाता तौ सदा ज्ञानविषैंही है। अर कर्म है सो सदा कर्मविषैंही है। तौऊ यह मोह अज्ञान है, सो नेपथ्यविषैं कैसैं नाचै है! सो यह बडा खेद है॥ नेपथ्य कहिये शांत ललित उदात्त धीर इनि च्यारि आभरणनि सहित जो यह तत्त्वनिका नृत्य, ताविषैं यह मोह कैसैं नाचै है ? कर्ताकर्मभाव तौ नेपथ्यस्वरूप नृत्यका आभूषण नाहीं, ऐसैं खेदसहित वचन आचार्यनैं कह्या है॥ भावार्थ—कर्म तौ पुद्गल है, ताका कर्ता जीवकूं कहिये, तौ तिनि दोऊनिकै तौ बडा भेद है, जीव तौ पुद्गलमें नाहीं अर पुद्गल जीवमें नाहीं। तब इनिकै कर्तृकर्मभाव कैसा बनै! तातैं जीव तौ ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, पुद्गलका कर्ता नाहीं। बहुरि पुद्गलकर्म है सो कर्मही है। तहां आचार्य खेदकरि कह्या है—जो, ऐसैं प्रगट भिन्नद्रव्य है, तौऊ अज्ञानीकै ए मोह कैसे नाचै है! जो मैं तो कर्ता हूं अर यह पुद्गल मेरा कर्म है, यह बडा अज्ञान है॥ ५३॥ फेरि कहे हैं, जो ऐसैं मोह नाचै है, तो नाचो, वस्तुस्वरूप तौ जैसा है तैसाही तिष्टै है—

विशेष—श्लोकमें 'नेपथ्य' और नैष्पथ्य दोनों पाठ मिलते हैं जिसमें पं० जयचंद्रजीने नेपथ्य पाठ रख रंगभूमि अर्थ किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने नेपथ्यकी जगह नैष्पथ्य पाठ रख उसका अर्थ कुमार्ग किया है॥ ५३॥

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत्॥५४॥

सं० टी०—एतत् प्रत्यक्षं, ज्ञानज्योतिः—बोधमहः, तथा तेनैव प्रकारेण, उच्चैः—अतिशयेन, अंतः—अभ्यंतरे, चपलकृशाद्यादौ ऽपि ज्वलितं—देदीप्यमानं जातं, कुतः ? चिच्छक्तीनां—ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां, निकर—मात्रः निकरो द्विक्यादनंतभावः, तस्य भरः अतिशयः, तस्मात्, किंभूतं ? अचलं न चाल्यते यच्छक्तिपरैः पुद्गलादिभिः, इत्यचलं. पुनः कीदृशं ? व्यक्तं—स्पष्टं, समस्तवस्तुप्रकाशकत्वात् पुनः अत्यंतगंभीरं—अत्यर्थ—अतलस्पर्शं, ज्ञानशक्तेरनंतत्वात् तथेति कथं ? यथा कर्ता पुद्गलः कर्ता कर्मणां निष्पादकः, न भवति न जायते अशुद्धं ज्ञानं निमित्तीकृत्य पुद्गलः कर्मणां कर्ता अधुना ज्ञानज्वलनाच्छुद्धं जातं तथा—यथा पुद्गलस्य कर्तृत्वेन निमित्तत्वं निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावात्: अपि पुनः कर्म ज्ञानावरणादिकर्म स्वरूपेण नैव निश्चयेन न व्यवतिष्ठते समर्थे विनाशके विनाश्यस्याव्यवस्थानात् प्रकाशे सति तमोवत्, च पुनः यथा येन प्रकारेण ज्ञानं कर्मकलंककलंकितं ज्ञानं ज्ञानं—निर्मलज्ञानं, भवति जायते अपि—पुनः, पुद्गलः—पुद्गलपरमाणुः पुद्गल एव भवति न कर्मरूपेण परिणमति॥ ५४॥

अर्थ—यह ज्ञानज्योति है सो अंतरंगविषैं अतिशयकरि अपनी चैतन्यशक्तीके समूहके भारतैं अत्यंत गंभीर,जाका थाह नाहीं,सो ऐसैं निश्चल व्यक्तरूप प्रगट भया। जैसैं अज्ञानविषैं आत्मा कर्ता था,सो तौ अब कर्त्ता न होय अर याके अज्ञानतैं पुद्गल कर्मरूप होय था,सो अब कर्म रूप न होय बहुरि जैसैं ज्ञान तो ज्ञानरूपही होय अर पुद्गल है सो पुद्गलरूपही रहै,ऐसै प्रगट भया भावार्थ—आत्मा ज्ञानी होय तब ज्ञान तौ ज्ञानरूप ही परिणमैं,पुद्गलकर्मका कर्ता न बनै, बहुरि पुद्गल है सो पुद्गलरूपही रहै कर्मरूप न परिणमैं ऐसैं आत्माकैं ज्ञान यथार्थ भये दोऊ द्रव्यकै परिणामके निमित्तनैमित्तिकभाव नाही होय है,ऐसा सम्यग्दृष्टिकै ज्ञान होय है। ऐसैं जीव अर अजीव दोऊ कर्ता कर्मके वेषकरि एक होय नृत्यके अखाडेमैं प्रवेश कीया था, सो सम्यग्दृष्टिका ज्ञान यथार्थ देखनेवाला है,सो दोऊकूं न्यारे न्यारे लक्षणतैं दोय जानि लिये,तब वेष दूरि करी रंगभूमितैं बाह्य नीसरी गये। बहुरूपीका वेषका यह ही प्रवर्तन है—जो, देखनेवाला जेतैं पहिचाने नाही, तेतैं चेष्टा किया करै, अर यथार्थ पहिचानि ले तब निजरूप प्रगट करी चेष्टा न करता बैठि रहै, तैसैं जानना॥ ऐसैं कर्ताकर्म नामा दूसरा अधिकार पूर्ण भया॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणैं करता सो।
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो॥
ज्ञान भये करता न वणे तब बंध न होय खुलै परपासो।
आतममाहिं सदा सुविलास करैं सिव पाय रहैं निति थासो॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां द्वितीयोंकः॥ २॥

ऐसैं इस अध्यात्मतरंगिणीनामा टीकाकी वचनिकाविषैं दूसरा कर्ताकर्मनामा अधिकार पूर्ण भया॥ २॥

अथ पुण्यपापाधिकारः॥ ३॥

पुण्य पाप दोऊ करम,बंधरूप दुर मानि। शुद्ध आत्मा जिन लह्यो,नमूं चरण हित जानि॥

अब टीकाकारके वचन हैं॥ तहां कर्म एकही प्रकार है, सो दोय जो पुण्यपाप रूप तिनिकरि प्रवेश करै है। जैसैं नृत्यके अखाडेमैं एकही पुरुष अपने दोय रूप दिखाय नाचै, ताकूं यथार्थज्ञानी पहिचानै, तब एकही जानै। तैसैं सम्यग्दृष्टीका ज्ञान यथार्थ है। सो यद्यपि कर्म एक ही है, सो पुण्य पाप भेदकरि दोय प्रकाररूप करि नाचै है, ताकूं एकरूप पहिचानि लै॥ तिस ज्ञानकी महिमारूप इस अधिकारके आदिविषैं काव्य कहै हैं—

जीयादमृतहिमांशुप्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदं।
शुभचन्द्रदेवविवृत्ता सुकृतचय कुन्दकुन्दपरं॥ १॥

अथैकमेव द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १ ॥

स० टी०—अथ-जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनंतर, अय बोधसुधाप्लवः-ज्ञानामृतपूरः स्वयं-स्वत एव-कर्मनिरपेक्षत्वेन, उदयति-उदयं प्राप्नोति, किंभूतः ? ग्लपितेत्यादि—ग्लपित-विनाशितं निर्भर निर्विशेष भुवनं बिभर्ति-धारयतीति निर्भरं समस्तमोहाक्रांतत्वात् मोह एव रजो धूलिर्येन स, अन्योऽपि सुधाप्लवः रेणुं ग्लपयति इत्युपमोपमेययोः साम्य, तत्-प्रसिद्धं कर्म ऐक्यं-एकता, उपानयन्-कुर्वन्, किंभूत तत् शुभाशुभभेदतः पुण्यप्रकृतिः शुभायुर्नामगोत्ररूपा, पापप्रकृतिः-घातिचतुष्काशुभायुर्नामगोत्ररूपा तयो-र्भेदतः प्रभेदात्, द्वितयतां-द्विरूपता गत-प्राप्त शुभाशुभभेदेन द्विधापि ज्ञाने भवतः, संसारदायकत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमिति भावः ॥ १ ॥ अथ शुभाशुभकर्मणोर्दृष्टांतेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन—

अथ-अथ कहिये कर्ताकर्म अधिकारके अनंतर, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूप चंद्रमा है, सो स्वयं आपै आप उदयकूं प्राप्त होय है। कैसा है तत् कहिये सो प्रसिद्ध कर्म है सो कर्म सामान्यकरि एकही प्रकार है। सो शुभ अर अशुभके भेदतैं दोयरूपपणाकूं प्राप्त भया है, ताकूं एकपणाकूं प्राप्त करता संता, उदय होय है। भावार्थ-अज्ञानतैं एक कर्म दोय प्रकार दीखै था, सो ज्ञान एकप्रकार दिखाय दिया। बहुरि कैसा है ज्ञान ? दूरी किया है अतिशयरूप मोहमयी रज जानैं, भावार्थ-ज्ञानविषै मोहरूप रज लागि रह्या था, सो दूरी किया, तब यथार्थ ज्ञान भया। जैसैं चंद्रमाकै बादला, तथा पालाका पटल आडा आवै, तब यथार्थप्रकाश होय नाहीं, आवरण दूरी भये यथार्थ प्रकासै तैसैं जानना ।१। आगैं पुण्यपापका स्वरूपका दृष्टांतरूप काव्य कहै है—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ २ ॥

स० टी०—दृष्टांत तावद् वक्ति-यथा एकः-कश्चित्, सदाचरणः मदिरा-सुरा, दूरात्-आरात्-त्यजति परिहरति, कुतः ? ब्राह्मणत्वाभिमानात्-एवं 'वयं ब्राह्मणाः, ब्राह्मणैस्तु सुरा न पेया' ईदृग्विधाभिप्रायस्त-स्मात्, अन्यः कश्चिदसदाचरणः 'अहं स्वयं शूद्रः' इति कृत्वा तया-मदिरया, एव-निश्चयेन, नित्य-निरंतरं, स्नाति-स्नानं करोति पानस्य का वार्ता ? अतिशयालंकारोयं, द्वावपि सदसच्चारिणौ, एतौ-ब्राह्मणशूद्रौ, साक्षात् प्रत्यक्षं, शूद्रौ-अवरवर्णौ, शूद्रत्वमेनयोः, कथं ? यतः युगपत् सकृत्, शूद्रिकायाः-शूद्रभार्यायाः, उदरात्-जठरात्, निर्गतौ-निष्क्रांतौ, अथ च अनु च पश्चादित्यर्थः, जातिभेदभ्रमेण—जातेः-संतानस्य भेदः तस्य भ्रमः-भ्रांतिः, तेन, एको वेत्त्यहं द्विजः, एको वेत्त्यहं शूद्रः, इत्यभिप्रायतः चरतौ भिन्नाचारमाचरतः, तथा एकपुद्गलनिष्पन्ने शुभाशुभकर्मणी एकं शुभं स्वर्गादिदायि, अशुभमपरं नरकगत्यादिदायि, पुनः उभे बंधन-हेतुके ॥ २ ॥

अर्थ—काहू शूद्री स्त्रीके उदरतैं युगपत् एकही काल दोय पुत्र निसरे जन्मे, तिनिमें एक तौ ब्राह्मणके घर पल्या, ताकै ब्राह्मणपनाका अभिमान भया जो मैं ब्राह्मण हौ, सो तिस अभिमानतैं मदिराकूं दूरीहीतैं छांडै है, स्पर्शै भी नाही है। बहुरि दूजा शूद्र हीके घर रह्या, सो मैं आप शूद्र हौ ऐसैं मानि तिस मदिराकरि नित्य सौंच करे है, शुचि माने है। सो याका परमार्थ विचारिये तब दोऊही शूद्रीके पुत्र है जातैं दोऊ ही शूद्रीके उदरतैं जन्मे हैं सो साक्षात् शूद्र हैं ते जाति भेदके भ्रमकरि प्रवर्तै है, आचरण करे हैं। ऐसैं पुन्यपाप कर्म जाननें, विभावपरिणतीतैं उपजै, दोऊही बंधरूप हैं, प्रवृत्तिभेदकरि दोय दीखै हैं, परमार्थदृष्टि करि कर्म एक ही जाननें॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः।
तद् बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः॥ ३॥

स० टी०—हीति-स्फुट, कर्मभेदः-शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो न, कुत.? हेत्वित्यादि-हेतु.-कारण, स्वभावः-स्वरूपं, अनुभवः-अनुभूति., आश्रय., द्व द्व. तेषा सदाप्यभेदात्-शुभाशुभयो केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वं, केवलपुद्गलमयहेतुत्वात तयो. स्वभावाभेद' शुभोशुभो वा फलपाक केवलपुद्गलमयः इत्यनुभवाभेदः, केवलपुद्गलमयबंधमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेदः, इतिचतुर्विधस्वभावाभेदादैक्य, तत्-तस्मात् चतुर्भि. प्रकारै-रेकत्वसंभवात् एक कर्म, इष्टं, पूर्वाचार्यैर्मत कथितमित्यर्थः, स्वय-स्वतः, खलु इति निश्चित, समस्त शुभाशुभं कर्म बंधहेतु'—चतुर्विधबधानां कारण, हेतुगर्भितविशेषणमिदं, पुनः किंभूत? बधमार्गाश्रित-मोक्षबंधमार्गौ द्वौ तत्र वधनदशानमाश्रित॥ ३॥ अथ सर्वस्यापि कर्मणो बंधहेतुत्वमुशति—

अर्थ—हेतु स्वभाव अनुभव आश्रय इनि च्यारीनिके सदाही अभेदतैं कर्मविषै भेद नाही तातैं बंधका मार्गकूं आश्रय करी कर्म एकही इष्ट किया है, मान्या है। जातैं शुभरूप तथा अशुभरूप दोऊही आप स्वयं निश्चयतैं बंधहीका कारण है॥ ३॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशंत्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥ ४॥

स. टी—यत्—यस्माद्धेतोः उशति-वदति, प्रतिपादयतीत्यर्थ. के? सर्वविद'-सर्वज्ञभट्टारका. जिनेंद्रा इत्यर्थ, किं? सर्वमपि समस्तमपि, कर्म—शुभाशुभ कर्म, बधसाधनं—चतुर्विधकर्मबधनकारण, कुतः? अविशेषात्-शुभाशुभयो. कर्मबधनकारणत्वाभेदात् तेन कारणेन, तत्-कर्म, सर्वमपि-समस्तमपि, शुभाशुभं प्रतिषिद्धं-निराकृत, तर्हि किमादृतं? ज्ञानमेव भेदबोध एव, शिवहेतु' शिवस्य-मोक्षस्य, हेतु'-कारण, विहित कथितं, परमागमकोविदैः॥ ४॥ अथ कर्मामार्गनिराकरणे मोक्षावाप्ति विचक्रयति—

अर्थ—सर्वज्ञदेव है ते, सर्वही कर्म, शुभ तथा अशुभकूं अविशेषतैं बंधका कारण कहै हैं, तिसही कारणकरि सर्वही कर्म प्रतिषेध्या है। मोक्षका कारण तौ एक ज्ञानहीकूं कह्या हैं अब कहै है, जो कर्म सर्वही प्रतिषेध्या है, तौ मुनि हैं ते कौनके शरणैं आश्रय मुनिपद पालैंगे याके निर्वाहकूं काव्य कहै हैं।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने (ते) ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममसृतं तत्र निरताः ॥ ५ ॥

सं० टी०—किल-इति आगमोक्तौ, खलु-इति निश्चित मुनयः-मननमात्रभावमात्रतया मुनय.-यतीश्वरा., अशरणाः-शरण्यपथवर्जिताः, न सति-न जायते क सति सर्वस्मिन्-समस्ते, सुकृतदुरिते-शुभाशुभे कर्मणि प्रकृतौ, निषिद्धे-निवृत्ते सति, पुनः नैष्कर्म्ये-कर्मण. निष्क्रांतं निष्कर्म, तस्य भावः नैष्कर्म्यं, तस्मिन् प्रवृत्ते कर्मातीते पथि विजृंभिते सति, हीति-व्यक्तं तदा कर्मनिरोधादिमये, एषां योगिनां, ज्ञान भेदबोध एव, शरणं-आश्रयः, किंभूतं ज्ञान ? ज्ञाने-चेतनास्वभावे. प्रतिचरित-प्रवृत्तं व्याप्तमित्यर्थ., एते-योगिनः, स्वयं-प्रयासमन्तरेण. विंदति-लभते, किं ? परम उत्कृष्ट, परा-उत्कृष्टा मा-ज्ञानाद्यतिशयलक्षणा लक्ष्मीर्यत्र तत्परममिति वा अमृत-अपवर्गं, किंभूता. सत ? तत्र-तस्मिन् ज्ञाते इति ज्ञाने इति पदमत्र ग्राह्यं वा निरता.-निश्शेषमासक्ताः संतः ॥ ५ ॥ अथ ज्ञानस्य शिवहेतुत्वं विध्यापयति—

अर्थ—सुकृत कहिये शुभ आचरणरूप कर्म, बहुरि दुरित कहिये अशुभ आचरणरूप कर्म, ऐसा सर्वही कर्मका निषेध करते संते, बहुरि नैष्कर्म्य कहिये कर्मरहित निवृत्ति अवस्थाकूं प्रवर्तते संते, मुनि हैं ते अशरण नाहीं है। इहां ऐसी नाहीं आशंका करनी-जो ए मुनिपद काहैं कै आश्रय पालेंगे। जिसकाल निवृत्ति अवस्था प्रवृत्तै, तिसकाल इनि मुनिनिकै ज्ञानविषै लीन भये संते परम उत्कृष्ट अमृतकूं आप स्वयं भोगवे है॥ भावार्थ—सर्व कर्मका त्याग भये ज्ञान का बडा शरण है। तिस ज्ञानमें लीन भये सर्व आकुलतारहित परमानन्दका भोगना होय है, याका स्वाद ज्ञानीही जानै है। अज्ञानी कषायी जीव कर्महीकूं सर्वस्व जानि तामें लीन है, ज्ञानानंदका स्वाद नाहीं जानै है।

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥६॥

सं० टी०—ध्रुव-निश्चितं, यत्-यस्मात्कारणात्, एतत्-प्रसिद्धं, शिवस्य सर्वकल्याणरूपस्य मोक्षस्य,-भवनं-गृहं स्थानमिति यावत्। किंभूतं ? अचलं-निश्चलं-अनंतकालस्थायित्वात्, स इत्यध्याहारः, ज्ञानात्मा-ज्ञानमयात्मा, आभाति-चकास्ति-शोभते, अपि-पुनः यतः-यस्माद्धेतोः अयं-ज्ञानात्मा, स्वयं-स्वभावतः हेतुः-शिवस्य कारणं, तत् तस्मात्-स्वयं शिवात्मकत्वात्, शिवहेतुत्वाच्च शिव इति कीर्तितः, तथाऽज्ञानम-भिधत्ते-यतः-यस्माद्धेतोः, अतः-ज्ञानात्मनः, अन्यत्-भिन्न-अज्ञानात्मा, बंधस्य-कर्मबंधस्य, भवनम् आभाति, अपि-पुनः, स्वयं-स्वतः, बंधस्य हेतुरपि भवतीति तत्-तस्मात् बंधात्मकत्वात्-बंधहेतुत्वाच्च बंध

इति अज्ञानात्मा बंध इति कीर्तित, हीति स्फुट तत -तस्मात् कारणात्, स्वं-स्वकीयं, भवनं-प्रवर्तनं, ज्ञाना-त्मज्ञानस्वरूपं, विहितं प्रतिपादित, परमार्थपंडितै किंभूत ? अनुभूति'-स्वस्यानुभवन अनुभूति', अजह-ल्लिगवृत्तित्वात्पुल्लिगे ॥ ६ ॥ अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते—

अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञानस्वरूप होता सोहे है, सोही यह मोक्षका कारण है। जातैं आप स्वयमेव ही मोक्षस्वरूप है। बहुरि या सिवाय अन्य है सो बंधका कारण है। जातैं सो आप स्वयमेव बंधस्वरूप है, तातैं ज्ञानस्वरूप अपना होना सोही अनुभूति है, ऐसै निश्चयतैं बंधमोक्षका हेतुका विधान किया है ॥६॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥

सं० टी०—सदा-निरंतरं, वृत्तं चारित्र, ज्ञानस्वभावेन-रागादिपरिहरणलक्षणबोधस्वरूपेण, ज्ञानस्य-भेदबोधस्य, आत्मनो वा भवनं-प्रवर्तन, अवस्थानं वा, स्वात्मनि स्थिति —आत्मनि चारित्रमिति वचनात्। ननु ज्ञानचारित्रयोरैकत्व कथं तयो परस्परं भिन्नत्वात् ? इति चेत्सत्य एकद्रव्यस्वभावत्वात्—एकद्रव्य-आत्म द्रव्यं, ज्ञानचारित्रयोस्तस्य स्वभावत्वात् ज्ञानभवनतत्स्वभावेन भवनात्, ज्ञानपूर्वकत्वाच्च तस्य, तत् तस्माद्धेतोः, तदेव—निश्चयचारित्रमेव नान्यत् मोक्षहेतु-मोक्षकारणं ॥ ७ ॥ अथान्याभिमतक्रियाकाडस्य वृत्तत्वं निरुणद्धि—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८॥

सं० टी०—कर्मस्वभावेन-व्रततप प्रभृतिकर्म-क्रियाकाडं तत्स्वभावेन वृत्त—चारित्र ज्ञानस्य-बोधस्य, भवनं,प्रवर्त्तनं अनुचरण न भवेत् ज्ञानभवनस्याभवनात्, कुतः द्रव्यांतरस्वभावत्वात् द्रव्यांतरस्य-आत्मद्र-व्यादन्यद्रव्यस्य स्वभाव'-स्वरूप तस्य भावस्तत्त्व तस्मात् तत् क्रियाकांड कर्म-आचरण, मोक्षहेतु', मोक्षस्य हेतु-कारण न भवेत् ॥ ८ ॥ अथ क्रियाकाडस्य मोक्षहेतुत्व कुतो नेति जजल्पते—

अर्थ—जो ज्ञानस्वभावकरि वर्तना ज्ञानका होना है सो ही मोक्षका कारण है। जातैं ज्ञान कै एक आत्मद्रव्यका स्वभावपणा है। बहुरि जो कर्मस्वभावकरि वर्तना है, सो ज्ञानका होना नाही, सो कर्मका वर्तना मोक्षका कारण नाही जातैं कर्मकै अन्यद्रव्यका स्वभावपणा है।

भावार्थ—मोक्ष आत्माकै होय है, सो आत्माका स्वभावही मोक्षका कारण है ॥ बहुरि कर्म है सो अन्यद्रव्य जो पुद्गलद्रव्य ताका स्वभाव है, सो आत्माकै मोक्षका कारण नाही होय है, यह निश्चय है ॥ ७-८ ॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बंधत्वात् स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ ९ ॥

सं० टी०—तत्-क्रियाकांडं, निषिध्यते-निवार्यते, कुतः ? मोक्षेत्यादि-मोक्षस्य-मुक्तेः, हेतुः-कारणं स्वात्मध्यानादि, तस्य तिरोधानं-अपवारणं, तस्मात् क्रियाकांडपरिणतस्य ध्यानानवकाशात्, स्वयमेव-स्वत एव, बंधत्वात्-कर्मबंधस्वभावत्वात्, च-पुनः, मोक्षेत्यादि-मोक्षस्य हेतुः-कारणं-शुद्धध्यानादिः तस्य तिरोभावं दधातीत्येवं शीलो भावः स्वभावो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् शुभकर्मकारकपरिणामाविर्भावात् ॥ ९ ॥ अथ समस्तामपि कर्मतितिक्षां सलक्षयति—

अर्थ—कर्म है सो मोक्षके कारणका तिरोधान है-आच्छादन करनेवाला है अर आप स्वयमेव बंधस्वरूप है। बहुरि मोक्षका कारणका तिरोधायीभावपणा याकै है। ऐसे तीन हेतुतैं सो कर्म निषेधिये है ॥९॥

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १० ॥

सं० टी०—तदिदं-प्रसिद्धं, समस्तमपि-निखिलमपि, कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिः, संन्यस्तव्यं-त्याज्य मेव निश्चयेन, केन ? मोक्षार्थिना-कर्मणां मोचनं—मोक्षः, स एवार्थः प्रयोजन पदार्थो वा यस्य स तेन किलेत्यागमोक्तौ पुण्यस्य-शुभकर्मणः, का कथा-का वार्ता ? न कापि वा—अथवा पापस्य-अशुभकर्मणः का वार्ता ? क सति ? तत्र—कर्मणि, सन्यस्ते—त्यक्ते सति, पुनस्तथा सति ज्ञानं—भेदबोधः, स्वयं-स्वतः, धावति—शुद्धयति—शुद्धं भवति, उल्लसति वा धावु गतिशुद्ध्योरेतस्य धातो प्रयोगः, किंभूतं ? उद्धतरसं उत्कटस्वभावं, पुनः—नैष्कर्म्यप्रतिबद्धं—नैष्कर्म्येण कर्मातीतत्वेन, प्रतिबद्धं संबद्धं, पुनः—मोक्षस्य-मुक्तेः, हेतुं कारणं भवत्—जायमानम्, कुतः ? सम्यक्त्वेत्यादि—सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानं, आदिशब्दात् ज्ञानचारित्रादि स एव निजस्वभाव.—आत्मस्वरूपं तेन भवनं-आत्मस्वरूपेण जायमानत्वमित्यर्थः तस्मात् ॥ १० ॥ अथ कर्मणामभावे ज्ञानभाव इति प्ररूपयति—

अर्थ—मोक्षके अर्थी पुरुषकूं यह समस्त कर्म त्यागने योग्य है, ऐसे तिससमस्तही कर्मकूं छोडे संते पुण्य अथवा पापकी कहा कथा है? कर्मसामान्यमें दोऊ आय गये। ऐसे समस्तकर्मका त्याग भये ज्ञान है सो सम्यक्त्व आदिक जो अपना स्वभाव, तिसरूप होनेतैं मोक्षका कारण होता संता कर्मरहित अवस्थातैं प्रतिबद्ध उद्धत है रस जाका ऐसा आपै आप दौड्या आवै है।

भावार्थ—कर्मकौं पटकि ज्ञान आपै आप अपना मोक्षका कारणस्वभावरूप भया संता प्रगटै है, फेरि कौन रोकै? आगै आशंका उपजै है, जो अविरतसम्यग्दृष्टि आदिके जेतैं कर्मका उदय रहै, तेतै ज्ञान मोक्षका कारण कैसे? कर्म अर ज्ञान दोऊ लार कैसे रहै? ताका समाधानकूं काव्य कहै है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा

कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ॥
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११ ॥

सं० टी०—यावत्पर्यंत सा प्रसिद्धा, कर्मविरतिः-कर्मणा विरतिः विरमणा, सम्यक्-यथोक्तं, पाकं-परिपूर्णतां न उपैति न याति, तावत्पर्यंतं कर्मेत्यादि कर्म च ज्ञान च कर्मज्ञाने तयो' समुच्चयः समुदायः, विहितः कथित', अपि-पुनः, तावत्-ज्ञानकर्ममेलापकपर्यंतं काचित् क्षतिः-कर्मणां क्षयो न भवेत्, अपि-पुनः, किमु विशेषोऽस्ति ? अत्र-कर्मज्ञानसमुच्चययोर्मध्ये यत् कर्म तत् अवशतः-अवश्यभावात् बंधाय कर्मबंधनकृते समुल्लसति समुल्लासं गच्छति, विजृंभत इति यावत्, पुनरत्रापि यदा एकमेव कर्मनिरपेक्षं-केवलं यत्-ज्ञानं-बोधः, तत्, मोक्षाय-मुक्तये स्थित प्रतिष्ठं, किंभूतं ? परमं-उत्कृष्टं, स्वतः-स्वभावेन विमुक्त' कर्मभिः ॥ ११ ॥ अथ नयावलंबित्वमुपशाम्यति—

अर्थ—जेतै कर्मका उदय है अर ज्ञानकी सम्यक् विरति नाहीं है तेतै कर्मका अर ज्ञानका समुच्चय कहिये एकट्ठापणा भी कह्या है, तेतै यामैं कछू हानि नाहीं है। इहां विशेष ऐसा जो इस आत्माविषैं जो कर्मके उदयकी वरजोरीतैं आत्माके वशविना कर्म उदय होय हैं, सो तौ बंधके ही अर्थी है ॥ बहुरि मोक्षके अर्थि एक परमज्ञान है, सोही है। कैसा है ज्ञान ? कर्मतैं आपहीतै रहित है कर्मके करनेविषैं आपका स्वामीपणारूप कर्तापणाका भाव नाही है ॥ भावार्थ—जेतै कर्म उदय है तेतैं कर्म तौ अपना कार्य करै है, अर तहांही ज्ञान है, सो अपना कार्य करै है, एक ही आत्मामें ज्ञान अर कर्म दोऊ एकट्ठे रहनेमेंभी विरोध नाही है। मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञानकै जैसे विरोध है, तैसे कर्मसामान्यकै अर ज्ञानकै विरोध नाही है ॥ ११ ॥ आगै कर्मका अर ज्ञानका नयविभाग दिखावै है—

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छंदमंदोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १२ ॥

सं० टी०—मग्नाः-भवार्णवे निमग्नाः, के ? कर्मेत्यादिः-कर्म व्रततपश्चरणादिक्रियाकांडं, तदेव नयः पक्षः कर्मणैव मोक्षसाध्यत्वात् इति पक्षः-तस्य अवलंबन अंगीकार', तत्र परास्तत्पराः-सावधानाः क्रियावादिन इत्यर्थः, तथा चोक्त—

क्रियाश्च शतधाशीतिश्चनस्रोऽशीतिरक्रियाः। अज्ञाना. सप्तषष्टिश्च द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः ॥ इति

कुतः ? यत्-यस्माद्धेतोः ते ज्ञानं भेदबोध, न जानंति न विदंति, अपि पुन', ज्ञानेत्यादि ज्ञानं बोधस्तदेव नयः, ज्ञानव्यतिरिक्त न किंचिदस्ति यथा इष्ट चरेत् तिष्ठेदित्यादि' ज्ञानाद्वैतवादिपक्ष, ज्ञाने सति साध्यसिद्धिर्न तु तत्र ध्यानमिति वा पक्षः तमिच्छतीत्येवं शीलाः, ज्ञाननयैषिणः, मग्ना भवार्णवे, कुतः ?

यत्—यस्माद्धेतोः, अतीत्यादिः यं अति—स्वच्छंदेन—स्वेच्छाचारेण प्रमादमांद्यकरणे मंदः उद्यमः उद्योगो येषां ते, स्वं ज्ञात्वा ध्याने मंदा इत्यर्थः, तर्हि के उन्मग्नाः ? ते—पुरुषा, विश्वस्य जगतः, उपरि तरंति-जगदतिशायिनो भवंतीति तात्पर्यं, ते के ? ये पुरुषाः, जातु कदाचित्, कर्मक्रियाकांड न कुर्वंति न विद्धति किंभूताः सतः ? स्वयं कालक्षेत्रादिनिरपेक्षत्वेन, सततं प्रतिक्षणं, ज्ञानं भेदविज्ञानं, भवंतः अनुभवंतः, बोधमयाः—जायमाना वा, च-पुनः, वशं-अधीनत्वं न यांति—न प्राप्नुवंति, कस्य-प्रमादस्य, सदा ज्ञानानुभवनं कर्मप्रमादपरिहरणं मोक्षार्थिन उक्तं ॥ १२ ॥ अथ ज्ञानज्योतिषो विजृंभणं बंभणीति—

अर्थ—जे केई कर्मनयके अवलंबनविषे तत्पर है, ताके पक्षपाती हैं, ते डूब जाते, जे ज्ञानकूं जानैंही नाही बहुरि जे ज्ञाननयके इच्छक हैं पक्षपाती हैं, तेभी डूबे जाते, जे क्रियाकांडको छोडि स्वच्छंद होई प्रमादी होय स्वरूपविषे मंद उद्यमी हैं। बहुरि जे आप निरंतर ज्ञानरूप होते कर्मकूं तौ नाही करै हैं अर प्रमादके वश नाही होय है स्वरूपमें उत्साहवान हैं ते सर्वलोकके उपरि तरै है ॥ भावार्थ—इहां सर्वथा एकांत अभिप्रायका निषेध कीया है, जातै एकांतका अभिप्राय है, सोही मिथ्यादृष्टि है। तहां जे परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माकूं तौ नाहीं जाने हैं अर व्यवहार-दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकांडके आडंबरहीकूं मोक्षका कारण जाणि, तिसहीविषे तत्पर रहै हैं, ताका पक्षपात करै है यह कर्मनय है याके पक्षपाती ज्ञानकूं तौ जाने नाहीं अर इस कर्मनयहीविषे खेदखिन्न है ते संसारसमुद्रमें डूबे है ॥ बहुरि जे परमार्थभूत आत्मस्वरूपकूं यथार्थ तो जान्या नाही अर मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकांतिनिके उपदेशकरि तथा स्वयमेवही किछू अंतरंगविषे ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पि तिसविषे पक्षपात करै हैं अर व्यवहारदर्शनज्ञानचारित्रका क्रियाकांडकूं निरर्थक जानि छोडि स्वेछाचारी रहै हैं स्वरूपविषे मंद उद्यमी रहै हैं। तातै जे पक्षपातका अभिप्राय छोडै निरंतर ज्ञानस्वरूप होतै कर्मकांडकूं छोडै हैं, अर निरंतर ज्ञानस्वरूपविषे जेतै न थाम्या जाय तेतै अशुभकर्मकूं छोडि स्वरूपका साधन रूप शुभकर्मकांडविषे प्रवर्तें हैं ते कर्मका नाश करि, संसारतै निवृत्त होय है, ते सर्व लोकके उपरि वर्तें है, ऐसा जानना ॥ आगै इस पुण्यपापाधिकारकूं सम्पूर्णकरि अर ज्ञानकी महिमा करै हैं—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्मःकृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृंभे भरेण ॥ १३ ॥

सं० टी०—भरेण-अतिशयेन, ज्ञानज्योतिः समस्ताखडज्ञानज्योतिः प्रोज्जजृंभे रूपकालकारोय। पुनः हेलोन्मीलत्—हेलया—लीलया, उन्मीलत्—उत्प्रकटयत्, पुन. आरब्धकेलि—आरब्धा—प्रारंभविषयीकृता केलिः क्रीडा येन तत्, सार्धं—समं, कया ?, परमकलया परमा—उत्कृष्टा चासौ कला च दर्शनाद्यंशः, मुक्तिकला वा

तया, किं कृत्वा ? बलेन-हठात्कारेण, ध्यानलक्षणेन, सकलमपि समस्तमपि, प्रकृत्यादिचतु स्वभावमपि, तत् प्रसिद्धं कर्मज्ञानावरणादिप्रकृतिं, मूलोन्मूलं—मूलेन बुध्नेन,, उन्मूलं—मूलतलनाश कृत्वा, किंभूत ? भेदोन्माद भेदेन पुण्यपापविशेषेण, उन्माद–उन्मत्त पुन. पीतमोह–पीत –पानविषयीकृतः मोह.–मोहनीयं कर्म येन पुरुषेण त प्राणिन नाटयत्—भवरंगावनौ मनुष्यतिर्यगादिविशेषेण नृत्य कारयत्, कुतः ? भ्रम रसभरात्—ममेद, अहमस्येत्यादि भ्रांतिरसवेगात् । अन्योऽपि नट भ्रमणादिरसादपरं नाटयति इत्युक्तिलेशः ॥ १३ ॥

अर्थ—ज्ञानज्योति है सो अतिशयकरि उदयकूं प्राप्त होता भया सर्वत्र फैल्या । कैसा है लीलामात्रकरि उघडी जो अपनी परमकला केवलज्ञान, तिससहित आरंभी है क्रीडा जाने, इहां भावार्थ ऐसा, जो जेतैं सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तेतैं तौ ताका ज्ञान परमकला जो केवलज्ञान, तिससहित शुद्धनयके बलतैं परोक्ष क्रीडा करै है बहुरि केवलज्ञान उपजै तब साक्षात् है ॥ बहुरि कैसा है ? ग्रासीभूत क्रिया है दूरी किया है अज्ञानरूप अंधकार जाने । सो यह ऐसा ज्ञानज्योति पहले कहा करि प्रगट भया है ? पूर्वोक्त शुभ अशुभरूप समस्तकर्म, ताकूं अपना बल जो वीर्य-शक्ति, ताकरि मूलतैं उन्मूल कहिये उपाडिकरि । कैसा है यह कर्म ? पीया है मोह जानें । याहीतैं भ्रमके रसके भारतैं शुभ अशुभका भेदरूप उन्मादकूं नचावता संता है । भावार्थ—ज्ञान-ज्योति है सो अपना प्रतिबंधक कर्म था सो भेदरूप होय नृत्य करै था, ज्ञानकूं भुलावा दे था, ताकूं अपनी शक्तिकरि बिगाडि आप अपना संम्पूर्ण रूपसहित प्रकाशरूप भया । इहां आशय ऐसा जानना—कर्म सामान्यकरि एक ही है, तथापि शुभ अशुभ दोय भेदरूप स्वांग करी रंग-भूमिमैं प्रवेश कीया था, ताकूं ज्ञान यथार्थ एक जान लिया, तब कर्म रंगभूमितै निकसि गया, ज्ञान अपनी शक्तिकरि यथार्थप्रकाशरूप भया, ऐसे जानना ॥ ऐसे कर्म है सो नृत्यके अखाडेमैं पुण्यपापरूपकरि दोय नृत्यकारिणी बनी नाचे था, सो ज्ञान यथार्थ जानि लिया-जो, कर्म एकही है, तब एकरूपकरि निकसी गया, नृत्य करता रह गया ॥

आश्रय कारण रूप सवादसुं भेद विचारि गिने दोऊ न्यारे ।
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बंध भये सुखदुःख करारे ॥
ज्ञान भये दोऊ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे ।
बंधके कारण हैं दोउरूप इन्हैं तजि श्रीजिन मोक्ष पधारे ॥ १ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिणीनामधेयस्य व्याख्याया पुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोंकः ॥ ३ ॥

ऐसैं इस अध्यात्मतरंगिणीनामा टीकाकी वचनिकाविषै तीसरा पुण्यपाप नामा अधिकार पूर्णभया

आस्रवाऽधिकारः ॥ ४ ॥

शुभचंद्रामृतचंद्रो भिनत्ति यत्तामसं सुतत्त्वेषु ।
पुण्येतरेषु च तद्धि न भिद्यते दीपचंद्रार्कैः ॥

शुभं-प्रशस्तं पुन्यादि चंद्रयति--आह्लादयति इति शुभचंद्रः स चासौ अमृतचंद्रश्च इति व्याख्यानं विधेयं । अथास्रवमाश्रयति–

दोहा–द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।

भये सिद्ध परमातमा, नमूं तिनहि सुखआस ॥

अब इहां आस्रव प्रवेश करै है ।। जैसैं नृत्यके अखाडेमैं नाचनेवाला स्वांग करी प्रवेश करै तैसैं इहां आस्रवका स्वांग है तहां इस स्वांगकूं यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है . ताकी महिमारूप मंगल करै है–

अथ महामदनिर्भरमंथरं, समररंगपरागतमास्रवं ।

अयमुदारगभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ १ ॥

सं० टी०—अथ—पुण्यपापतत्त्वकथनानंतरं, अयं-प्रसिद्धः दुर्जयबोधधनुर्धर.-दुखेन जीयते इति दुर्जयः स चासौ बोधश्च ज्ञान स एव धनुर्धरः-धानुष्कः, जयति, क ? आस्रवं, आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्त निराकरोतीत्यर्थः, किंभूतः ? उदारेत्यादि-उदारः-उत्कटः स चासौ गभीरश्च-अलब्धमध्यः,-महानुदयो यस्य स., किंभूतं त ? महेत्यादिः महांश्चासौ मदश्च—अहंकारस्तस्य निर्भरः अतिशयः, तेन मथरः-मेदुरः तं, पुनः कीदृश ? समरेत्यादि.-समरः संग्रामस्तस्य रंगः-अगणं, तत्र आगतः-समुपस्थितः त, ज्ञानपराभवार्थमुद्युक्तमित्यर्थः ॥ १ ॥ अथ ज्ञाननिर्वृत्त भावं समुत्साहयति–

अर्थ–अथ शब्द तौ मंगल तथा प्रारंभवाची है । सो इहांतैं आगे कहै है । जो काहूकरि जीत्या न जाय ऐसा यह अनुभवगोचरज्ञानरू। सुभट धनुषधारी है, सो आस्रव है ताहि जीतै है । कैसा है ज्ञानरूप सुभट ? उदार कहिये अमर्यादरूप फैलता अर गंभीर कहिये जाका छद्मस्थ थाह न पावे ऐसा है महान उदय जाका ॥ बहुरि आस्रव कैसा है ? महान जो मद ताकरि अतिशयकरि भरया मंथर है उन्मत्त है बहुरि कैसा है समररंग कहिये संग्रामभूमि ताविषै आया है ॥ भावार्थ–इहां नृत्यके अखाडेमैं आश्रव प्रवेश कीया सो नृत्यमें अनेकरस वर्णन होय है, तातैं रसवत् अलंकारकरि शांतरसमैं वीररस प्रधानकरि वर्णन कीया है । जो ज्ञानरूप धनुषधारी आस्रवकू जीतै है, सो आश्रव सर्व जगतकूं जीति मदोन्मत्त भया संग्रामकी रंगभूमीमैं आय खडा रह्या, तब ज्ञान यासूं भी बलवान् सुभट है, सो तत्काल जीतै है, अंतर्मुहूर्तमें कर्मका नाशकरि केवलज्ञान उपजावै है । ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य है ॥

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याज्ज्ञाननिर्वृत्त एव ।

रुंधन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघानेषोऽभावः सर्वभावास्रवाणां ॥ २ ॥

सं० टी०–एषः-कथ्यमानः,-अभावः,स्यात् भवेत्,-केषां ? सर्वेत्यादि-सर्वे च ते भावास्रवाश्च रागद्वेषमोहाद्याः तेषां,एष कः ? यः,एव-निश्चयेन,जीवस्य-प्राणिनः,ज्ञाननिर्वृत्तः-ज्ञानमयः,भाव.-चित्परिणामः,राग-

द्वेषमोहैः–रागः–रतिः, द्वेषः–अरतिः, मोहः–ममत्वं, द्वंद्वं, तैर्विना–अंतरेण, किं कुर्वन्? रुधन्–निवारयन्, कान्? सर्वान्–समस्तान्, द्रव्येत्यादि –द्रव्यकर्मणा–ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां, आस्रवौघान्–मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसमूहान्। रागद्वेषमोहानामिह स्वपरिणामनिमित्तत्वात् अजडत्वे सति चिदाभासत्वात् भावास्रवत्वं, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानां पुद्गलपरिणामानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वाद् द्रव्यास्रवत्वं ॥ २ ॥ अथ ज्ञानिनो निराश्रवत्वं श्रद्दधीति—

अर्थ–जो जीवका रागद्वेषमोहविना भाव होय हैं, सो भाव ज्ञानहीकरि रचा हुआ है सो यह भाव है सो सर्व द्रव्यास्रवनिकूं रोकता संता है, तातैं सर्वही भावास्रवनिका अभाव कहिये । भावार्थ–पूर्वोक्तही जानना ॥ इहां सर्व भावास्रवनिका अभाव कह्या सो संसारका कारण मिथ्यात्वही है तिस संबंधी रागादिकका अभाव भया, सो सर्वभावास्रवका अभाव भया ॥

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ३ ॥

स० टी०—अयं–ज्ञानी–भेदज्ञः, निरास्रव एव–द्रव्यभावास्रवेभ्यो निवृत्त एव, एकः–अद्वितीयः ज्ञायकः, किंभूतः? सदा नित्यं,ज्ञानमयैकभावः–ज्ञानेन निर्वृत्तः ज्ञानमयः स एव एको भावः स्वभावो यस्य सः,किंभूतः भावास्रवाभावं–भावाश्रवाणां रागद्वेषादीनां, अभावं प्रपन्नः–प्राप्तः, यावत्पर्यंतं रागद्वेषास्तावन्न ज्ञायकत्वं अतः ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षणभावास्रवाभावः, पुनस्तत एव—स्वभावत एव, द्रव्यास्रवेभ्यः–मिथ्यात्वादिभ्यो भिन्नः पृथग्भूतः, ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वतः कार्मणशरीरेणैव संबद्धा नत्वात्मना, अतः सिद्धः स्वभावतो ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावः, बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपाश्रवभावाभावान्निराश्रव एव ॥ ३ ॥ अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते–

अर्थ–यह ज्ञानी है सो भावास्रवके अभावकूं तौ प्राप्त भया है। बहुरि द्रव्यास्रवनितैं स्वयमेवही भिन्न है जातैं ज्ञानी है, सो सदा ज्ञानमयीही है केवल एक भाव जाका ऐसा है, यातैं निरास्रवही है, एक ज्ञायक ही है। भावार्थ–भावास्रव जे राग द्वेष मोह तिनिका तौ ज्ञानीकै अभाव भया। अर द्रव्यास्रव हैं, ते पुद्गल परिणाम है तिनतैं सदाही स्वयमेव ही भिन्न हैं तातैं ज्ञानी निरास्रव ही है॥

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ॥
उच्छिंदन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मानित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ४ ॥

स० टी०—हीति व्यक्तं, आत्मा—चिद्रूपः, यदा–यस्मिन् काले नित्यं निरास्रवः–निरंतरमास्रवभावातीतः, भवति–जायते, तदा तस्मिन् समये, ज्ञानी सकलवस्तुपरिच्छेदकज्ञानयुक्तः स्याद्–भवेत्, ननु

ससारदशायां कथ निरास्रवत्वमिति चेत् ? अनिश नित्य स्वय वर्तृत्वेन समग्र-समस्त, रागद्वेषमोहप्रमं भावास्रवं संन्यस्यन्-त्यजन्-परिहरन्, निजबुद्धिपूर्वं-स्वबुद्धिपूर्वकं-स्वाभिप्रायपूर्वकं रागं त्यजन्नित्यर्थः, अपि-पुनः,तं-द्रव्यरूपमिथ्यात्वाद्यास्रवं,अबुद्धिपूर्वं पूर्वनिबद्धाचेतनास्रवं-स्वाभिप्रायातिरिक्तं, सूक्ष्म-अज्ञान-स्वरूप, अकषायिणामास्रवसदृश वा अबुद्धिपूर्वं, वारं वार-पुनः पुनः, जेतुं-जयार्थं-नाशार्थमित्यर्थः, स्वशक्ति स्वस्य आत्मनः शक्ति-सामर्थ्यं,स्पृशन्-स्वसात्कुर्वन्,पुनः किंकुर्वन् ? उच्छिन्दन्-उच्छिदन् समूलं कर्पन्नित्यर्थः, कां ? सकलां-समस्तां एव-निश्चयेन, परवृत्ति-परेषु-आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्ति-प्रवर्तना तां, तत्रानुचरणमिति भावः, पुनः पूर्णः-परिपूर्णः समग्र इत्यर्थः, भवन्-जायमानो भावः कस्य ? ज्ञानस्य वस्तुविशेषग्राहकस्य ॥ ४ ॥ अथ ज्ञानिनो द्रव्यप्रत्यये सति न निरास्रवत्वमिति पूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति—

अर्थ—यह आत्मा जब ज्ञानी होय है तब अपने बुद्धिपूर्वक रागकूं तौ समस्तकूं आप दूरि करता संता निरंतर प्रवर्त्ते है, बहुरि अबुद्धिपूर्वक रागकूं भी जीतनेकूं वारंवार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्तीकूं स्पर्शता संता प्रवर्तै है बहुरि ज्ञानकी पलटनी है ताकूं समस्तहीकूं दूरी करता संता ज्ञानकूं स्वरूपविषैं थांमता पूर्ण होता संता प्रवर्तै है। ऐसा ज्ञानी होय तब शाश्वता निरास्रव होय है ॥ भावार्थ तौ सुगम है—जब समस्तरागकूं हेय जान्या तब ताका मेटनेहीका उद्यमी भया प्रवर्तै है। तब सदा निरास्रव ही कहिये जाते आस्रव के भावनिकी भावनाका अभिप्रायका याकै अभाव है। बहुरि इहां बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक दोय सूचना है। एक तौ जो आप कीया न चाहै अर परनिमित्ततै जबरीतैं होय ताकूं आप जाणैभी तोऊ ताकूं बुद्धिपूर्वक कहिये। बहुरि दूजा जो अपने ज्ञानगोचरही नाही प्रत्यक्षज्ञानी जानै है। तथा ताकै अविनाभाविचिन्हकरि अनुमानतैं जानिये सो अबुद्धिपूर्वक है ऐसैं जानना ॥ ४ ॥ आगैं पूछै है जो सर्वही द्रव्यास्रवकी संततीकूं जीवते ज्ञानी निरास्रव कैसैं ? ऐसे प्रश्नका श्लोक है

विशेष—संस्कृत टीकाकारने " जिससमय यह आत्मा निरंतर आस्रवभावसे रहित होजाता है उससमय ज्ञानी—संसारके समस्तपदार्थोंका भलेप्रकार जानकार होता है" यह अर्थ किया है और पं० जयचंद्रजीने—'जिससमय यह आत्मा ज्ञानी हो बुद्धिपूर्वक राग आदिको दूरकर प्रवृत्ति करता है उससमय इसके शाश्वत निरास्रव होता है' यह अर्थ किया है यद्यपि यहां विरोधसा तो प्रतीत होता है परन्तु वास्तवमे कुछ विरोध नहीं है क्योंकि संस्कृत टीकाकारने ज्ञानीका केवल ज्ञानी अर्थ अभीष्ट रक्खा है और भाषाटीकाकारने ज्ञानीपदसे भेदविज्ञानी अर्थ लिया है तथा प्रकृतमें दोनोंही अर्थ उत्तम हैं ॥ ४ ॥

सर्वस्यामेव जीवंत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥ ५ ॥

सं० टी०—ननु ज्ञानी-भेदज्ञ., नित्य, निरास्रवः-आस्रवरहितः कुतः ? न कुतोऽपि ! क सत्यां ? सर्वस्यां-समस्ताया अपि, द्रव्यप्रत्ययसततौ-द्रव्यप्रत्ययाना-पुद्गलरूपनिबद्धमिथ्यात्वादीना, संततिः-संतानं

तस्यां जीवत्या-विद्यमानाया सत्यामेव । अथ तदा तदुदयाभावान्निरास्रव इति भण्यते तदप्ययुक्त, यतः सदवस्थायां पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत्, विपाकावस्थायामुपभोग्यत्वात् उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्म प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् इति न निरास्रवत्वमिति चेत् ते मति-मनीषा ॥ ५ ॥ तत्रोत्तरयति—

अर्थ—ज्ञानीकै सर्वही द्रव्यास्रवकी संततिकूं जीवते संते ज्ञानी नित्यही निरास्रव है ऐसा काहेतैं कह्या ? जो शिष्यकी ऐसी आशंकारूप बुद्धि है, ताका उत्तरका श्लोक कहै है—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥ ६ ॥

स० टी०—हि-स्फुट, यद्यपि ज्ञानिनः पुंस, द्रव्यरूपा'-पुद्गलकर्मरूपमिथ्यात्वादय, पूर्वबद्धा -पूर्वं रागद्वेषादिभिः बद्धाः-निबद्धाः-आत्मसात्कृता इत्यर्थ, प्रत्ययाः-उत्तरकर्मबंधकारणानि, सत्तां-अस्तित्व, न विजहति, न त्यजंति समय-उदयकाल, अनुसरतः-आश्रयत', उदयमागच्छंत इत्यर्थ', तदपि-तथापि, जातु कदाचित्, कर्मबंध'-कर्मणा बंध , न अवतरति-अवतार न प्राप्नोति-न भवतीत्यर्थ', कस्य ? ज्ञानिन , कुत. सकलेत्यादि.—सकलाः समस्तास्ते च ते रागद्वेषमोहाश्च तेषा व्युदास'-परित्यागस्तस्मात् रागद्वेषमोहाना आस्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात् ॥ ६ ॥ अथ पुनर्बंधाभावो विभाव्यते—

अर्थ—यद्यपि पूर्वैं अज्ञान अवस्थामैं बंधरूप भये थे, ते द्रव्यरूप प्रत्यय कहिये द्रव्यास्रव, ते सत्तामैं विद्यमान हैं । जातैं तिनिका उदय अपनी स्थितिकै अनुसार है, तातैं जैतैं उदयका समय नाहीं आवै तेतैं सत्ताहीमैं रहैं ऐसैं द्रव्यास्रव सत्तामैं रहैं ते अपनी सत्ताकूं नाहीं छोडै हैं । तौऊ ज्ञानीकै समस्त रागद्वेषमोहका अभावतैं नवीनकर्मका बंध कदाचित् ही अवतार नाही धरै है ॥ भावार्थ—रागद्वेषमोहभावविना सत्ताका द्रव्यास्रव बंधका कारण नाहीं है । इहां सकल रागद्वेषमोहका अभाव बुद्धिपूर्वक अपेक्षा जानना ॥

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणं ॥ ७ ॥

स० टी०—तत एव-तस्माद्धेतो., निश्चयेन, अस्य-ज्ञानिन.-मुने , बंध -कर्मणा बंध., न, कुत' ? यत्-यस्मात्कारणात्, ज्ञानिनः ज्ञानं-आत्मज्ञान, विद्यते यस्यासौ तस्य, असंभव.-न संभव , केषा ? रागद्वेषविमोहाना-रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेषविमोहास्तेषा, ननु तेषामभावे कथ बंधाभाव. हीति यस्मात् ते रागद्वेषादय., बंधस्य-कर्मबंधस्य कारण-हेतु , हेतुत्वाभावे हेतुमदभावस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥ ७ ॥ अथ बंधविधुरत्व विधीयते—

अर्थ—जातैं ज्ञानीकै रागद्वेषमोहका असंभव है, ताहीतैं ज्ञानीकै बंध नाही है । जातैं राग द्वेष मोह हैं ते ही बंधके कारण हैं ॥ ७ ॥

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥८॥

सं० टी०—ते—योगिनः, समयस्य—पदार्थस्य सिद्धांतस्य वा सारं—आत्मानं पश्यंति—ईक्षंते, किंभूतं ? बंधविधुरं—बंधैः प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबंधैर्विधुरं—रहितं, बंधशून्यमित्यर्थः किंभूताः ? रागादिमुक्तमनसः—रागद्वेषमोहैर्मुक्तानि—रहितानि, मनांसि चेतांसि येषां ते, भवंतः—जायमानाः संतः, सततं—निरंतरं, ते के ? ये पुरुषाः सदा—नित्यं, एव निश्चयेन, कलयंति—कलनां कुर्वंति, धारयंतीत्यर्थः, किं ? ऐकाग्र्यं—एकाग्रतां आत्मना सह एकतां तां, किं कृत्वा ? अध्यास्य—आश्रित्य—अंगीकृत्य—ध्यात्वेत्यर्थः, कं ? शुद्धनयं शुद्धकर्ममलकलंकरहितं स्वरूपं नयति—प्राप्नोति शुद्धनयः—आत्मा, तं, अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनयमाश्रित्य. किंभूतं ? उद्धतेत्यादि—उद्धतः—उत्कटः—कर्मविनाशकत्वात् स चासौ बोधः—ज्ञानं च स एव चिह्नं—लक्षणं यस्य स तं ॥ ८ ॥ अथ बंधकमनुवक्ति—

अर्थ—जे पुरुष शुद्धनयकूं अंगीकार करी निरंतर एकाग्रपणाका अभ्यास करैं हैं कैसा है शुद्धनय ? उद्धतबोध कहिये काहूका दाब्या न दबै ऐसा उज्ज्वलज्ञान सो है चिन्ह जाका सो इसका अवलंबन करनेवाले पुरुष रागादिककरि रहित है मन जिनिका ऐसे निरंतर होते संते, बंधकरि रहित जो समयसार—अपना शुद्ध आत्मस्वरूप, ताहि अवलोकन करैं हैं ॥ भावार्थ—इहां शुद्धनयकरि एकाग्र होना कह्या सो साक्षात् शुद्धनयका होना तो केवलज्ञान भये होय है। अर शुद्धनय है सो श्रुतज्ञानका अंश है सो इसके द्वारे शुद्धस्वरूपका श्रद्धान करना तथा ध्यानकरि एकाग्र होना है सो यह परोक्ष अनुभव है। एकदेश शुद्धकी अपेक्षा व्यवहारकरि प्रत्यक्ष भी कहिये ॥ ८ ॥ फेरि कहै हैं जे यातैं चिगैं हैं ते कर्म बांधै हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालं ॥ ९ ॥

सं० टी०—इह—जगति, ते—प्राणिनः, कर्मबंधं बिभ्रति—दधते किंभूताः ? विमुक्तबोधाः—विमुक्तो बोधो ज्ञानं यैस्ते बोधाद्विमुक्ताः, इति वा 'कृति समासे क्वचित्पूर्वनिपातः' किंभूतं तं ? कृतेत्यादिः—विचित्राः शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषां जालं समूहः, कृतं—निष्पादितं, विचित्रविकल्पजालं येन तं, कैः ? पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः—अनादिनिबद्धपूर्वमिथ्यात्वादिद्रव्यास्रवैः, ते के ? ये तु इति विशेषः, ये पुरुषाः, रागादियोगं रागद्वेषादीनां योगं—संयोगं, उपयांति—प्राप्नुवंति, पुनरेव—पूर्वज्ञानावस्थानात् पश्चादेव. शुद्धनयतः शुद्धस्वरूपात्मनः, प्रच्युत्य च्युत्वा, ॥ ९ ॥ अथ बंधाबंधयोस्तात्पर्यं पंचदशलच्यते—

अर्थ—बहुरि जे पुरुष शुद्धनयतैं छूटिकरि फेरि रागादिके योग कहिये संबंधकूं प्राप्त होय हैं, ते छोड्या है ज्ञान जिनिनैं ऐसे भये संते कर्मबंधकूं धारैं हैं। कैसा कर्मबंधकूं धारैं हैं ? पूर्वे बंधे जे द्रव्यास्रव तिनिकरि कीया है विचित्र अनेक प्रकार विकल्पनिका जाल जानें ॥ भावार्थ—फेरि शुद्धनयतैं चिगैं तौ रागादिकके संबंधतैं द्रव्यास्रवके अनुसार अनेक भेद लिये कर्मनिकूं

बांधे है। नयतैं चिगना यह जो फेरि मिथ्यात्वका उदय आय जाय तब बंध होने लगिजाय। जातैं इहां मिथ्यात्वसंबंधी रागादिकतैं बंध होनेकी प्रधानता कही है अर उपयोगकी अपेक्षा गौण है। शुद्धोपयोगरूप रहनेका काल अल्प है। तातैं ताका छूटनेकी अपेक्षा इहां नाही॥ अन्य ज्ञेयतैं ज्ञान उपयुक्त होय तौऊ मिथ्यात्वविना रागका अंश है, सो ज्ञानीके अभिप्राय-पूर्वक नाहीं। तातैं अल्पबंध संसारका कारण नाहीं। अथवा उपयोगकी अपेक्षा लीजिये तब शुद्धस्वरूपतैं चिगै सम्यक्त्वतैं न छूटै। तब चारित्रमोहका रागतैं किछू बंध होय है, सो अज्ञान की पक्षमें नाहीं गिनिये,अर बंध है ही। ताकूं मेटनेकूं शुद्धनयतैं न छूटनेका अर शुद्धोपयोगमें लीन होनेका सम्यग्दृष्टि ज्ञानीकूं उपदेश है ऐसे जानना॥

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद् बंध एव हि॥ १०॥

सं० टी०—अत्र—यथावद्विचारणे—इदमेव–वक्ष्यमाणलक्षणमेव तात्पर्यं—रहस्य, इद किं? हीति यस्मात्, शुद्धनयः शुद्धात्मा–शुद्धद्रव्यार्थिको वा, न हेयः—न त्याज्यो हितार्थिभिः। बधः—कर्मबंधः, नास्ति–न जायते, कुत.? तदत्यागात् तस्य—शुद्धनयस्य, अत्यागः–अत्यजन, तस्मात्, हि–पुनः, बंध एव कर्मबंधो भवत्येव, कुतः? तत्त्यागात्–तस्य—शुद्धनयस्व त्याग'–त्यजन तस्मात॥ १०॥ अथ शुद्धनयस्या-त्यागमामनुते—

अर्थ–इहां पहले कथनविषै यह तात्पर्य है, जो शुद्धनय है सो त्यागने योग्य नाहीं है यह उपदेश है जातै तिस शुद्धनयके अत्यागतैं तौ कर्मका बंध नाहीं होय है। बहुरि तिसके त्यागतैं कर्मका बंध होय ही है॥ १०॥ फेरि तिस शुद्धनयहीके ग्रहणकूं दृढ करते संते काव्य कहै हैं–

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणां।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः॥ ११॥

सं० टी०—जातु–कदाचित्, न त्याज्य.–न हेय, ध्यानतः क्षणान्न मोक्तव्यः, कः? शुद्धनयः–शुद्ध-परमात्मा, शुद्धद्रव्यार्थिकनयो वा, कैः? कृतिभिः–संसारदशाचक्रं परिपूर्णं कृता विद्यते येषा तैः अथवा कृतं–सुकृतं विद्यते येषां तैः योगिभि., किंभूत' स'? सर्वंकष.–सर्वं–समस्त, कषति—निहंतीति सर्वंकषः, 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इत्यनेन सूत्रेण सिद्धः, केषा? कर्मणा—ज्ञानावरणादि प्रकृतीनां, किंकुर्वन्, निबध्नन् कुर्वन्, का? धृतिं–संतोषं, क? बोधे—ज्ञाने, किंभूते? धीरोदारमहिम्नि–धीर'–अक्षोभ्यत्वात, उदारः उत्कटः कर्मविनाशे बद्धकक्षत्वात् धीरश्चासावुदारश्च वा द्वंद्व महिमा,महिमानौ वा यस्य तस्मिन् पुनः

किम्भूते ? अनादिनिधने-आद्यंतरहिते द्रव्यरूपेण नित्यत्वात् , तत्रस्थाः-तत्र-शुद्धनये, तिष्ठन्तीति तत्रस्थाः योगिनः, महः-धाम, पश्यंति-ईक्षते, किंकृत्य ? अचिरात्-शीघ्रं, संहृत्य-हृत्वा, विनाश्येत्यर्थः, किं ? स्वेत्यादि-स्वस्य-आत्मन. स्वस्मिन् वा मरीचिचक्रं-मृगतृष्णासमूहं, किंभूतं महः ? बहिः बाह्यं. निर्यत् प्रकटीभवत् पूर्णं-परिपूर्णं निरावरणत्वात् , ज्ञानेत्यादि-ज्ञानेन घनो-निरंतरः ओघः-समूहः, यत्र तत्, एकं-अद्वितीयं-ज्ञानसदृशस्यापरस्याभावात् अचल-अक्षोभ्यं. शांत क्रोधादेरभावात् ॥ ११ ॥ अथ रागादीनामभावे किं स्यादित्यध्येति—

अर्थ—पुण्यवान् महंतपुरुषनिकरि शुद्धनय है सो कदाचित्भी छोडनेयोग्य नाहीं है ॥ कैसा है शुद्धनय ? ज्ञानविषै थिरताकूं अतिशयकरि बांधना संता है। कैसा ज्ञानविषैं थिरता बांधै है ? धीर कहिये चलाचलपणेतैं रहित अर उदार कहिये सर्वपदार्थनिमें आप विस्तरता है महिमा जाकी। बहुरि कैसा है ज्ञान ? अनादिनिधन है-जाका आदि अन्त नाहीं है । बहुरि कैसा है शुद्धनय कर्मनिका सर्वंकष कहिये मूलतैं नाश करनहारा है। ऐसे शुद्ध नयके विषैं जे तिष्ठे हैं, ते पुरुष अपनी ज्ञानकी मरीचि कहिये व्यक्तिविशेष, तिनिकूं तत्काल समेटिकरि कर्मके पटलतै बाह्य निसरता अर संपूर्णज्ञानघनका समूहस्वरूप निश्चल जो शांतरूप कहिये ज्ञानमयी तेज प्रतापका पुञ्ज, ताही अवलोकन करै हैं॥ भावार्थ—शुद्धनय है सो आत्माकूं ज्ञानमय तेज प्रतापका पुंज ताहि एक चैतन्यमात्र समस्तज्ञानके विशेषनिकूं गौण करि, अर समस्त-परनिमित्ततैं भये भावनिकूं गौण करि. शुद्ध नित्य अभेदरूप एककूं ग्रहण करै है ॥ सो ऐसे शुद्धनयका विषयस्वरूप अपना आत्माकूं जे अनुभवै हैं-एकाग्र होय तिष्ठै हैं, ते समस्त कर्मका समूहतैं न्यारा संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञानस्वरूप अमूर्तिक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप अपना आत्मा, ताहि अवलोकन करै है ॥ या शुद्धनयके विषै अंतर्मुहूर्त तिष्ठै शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होयकरि केवलज्ञान उपजै है, ऐसा याका माहात्म्य है ॥ सो याकूं अवलंबन करि फेरि जेतैं केवलज्ञान न उपजै तेतैं यातैं चिगना नाहीं, ऐसा श्रीगुरुनिका उपदेश है ॥ ऐसैं आस्रवका अधिकार पूर्ण किया ॥ अब रंगभूमिमैं आस्रवका स्वांग प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान यथार्थ जाणि स्वांग दूरि कराय आप प्रगट भया, ऐसे ज्ञानकी महिमाके अर्थरूप काव्य कहै हैं—

विशेष—पं० जयचंद्रजीने यहां मरीचिचक्रका अर्थ 'व्यक्तिविशेष' किया है जिसका अर्थ मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पर्याय हैं क्योंकि जिससमय केवलज्ञान उत्पन्न होता है उससमय मतिज्ञान आदिज्ञानरूप पर्यायें संकुचित हो जाती हैं ज्ञानकी अकेली केवलज्ञानरूप पर्याय ही विद्यमान रहजाती है शुभचन्द्रजीने उसका अर्थ मृगतृष्णा लिखा है॥ ११ ॥

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।

स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२ ॥

सं० टी०—एतत्-ज्ञानं-बोधः, उन्मग्नं-प्रकटितं, किमपि-अतिशायि, अनिर्वाच्य वस्तु-वसति गुणपर्यायानिति वस्तु, कस्य अंत.-मध्ये सपश्यत.-अवलोकयतो मुनेः, किंभूत ? नित्योद्योत-नित्यं प्रकाशमान यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञानावरणावृतस्य नित्योद्योतत्व न तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्याक्षरानंतभागशक्ते निरावरणत्व—नित्योद्योतत्व आत्मनोऽस्त्येव, पुन.-परम-परा-उत्कृष्टा इन्द्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य तत्, कुतोऽतरवलोकनं ? झगिति शीघ्रं, सर्वतोऽपि-सर्वरूपेणापि रागादीना-रागद्वेषमोहलक्षणभावास्रवाणा प्रत्ययाना, विगमात्-अभावात्, किंभूत ज्ञान ? आलोकांतात्-श्रेणिघनमात्रत्रिलोकमभिव्याप्य, सर्वभावान्-समस्तपदार्थान्, प्लावयत्-सिंचयत्-परिच्छिंदादित्यर्थ., कैः ? स्वरसविसरैः— स्वस्य-आत्मन., रस, तस्य विसरा —सदोहा, तैः, किं भूतैः ? स्फारस्फारैः-स्फारात्-आकाशात्, स्फारैः—विस्तीर्णैः—ज्ञानशक्त्यर्णवे व्योमादीना बिंदुवदल्पत्वात्, पुन. अचल—अक्षोभ्य, अतुल-न विद्यते तुला-मान यस्य तत्, तुलामतिक्रातमिति वा । एकस्मिन् पार्श्वे धर्माधर्माकाशकालानुभाग योगकषायाध्यवसायादीना शक्तिस्तथापि ज्ञानशक्तेरनंतैकभागः ।

अर्थ-रागादिक आस्रवनिका तत्काल क्षणमात्रमें सर्वप्रकार दूरि होनेतैं नित्य उद्योतरूप किछू परम वस्तुकूं अंतरंगविषैं अवलोकन करनवाला पुरुषकै यह ज्ञान है सो उन्मग्न कहिये उदयरूप प्रगट भया कैसा प्रगट भया ? अतिविस्ताररूप फैलते जे अपने निजरसके प्रवाह, तिनिकरि सर्वलोकपर्यंत अन्यभाव, तिनिकूं अन्तर्मग्न करता संता। बहुरि कैसा है ? अचल है—जैसेके तैसे सर्वपदार्थ जामैं सदा प्रतिभासैं हैं चलैं नाहीं है बहुरि कैसा है, अतुलहै, जाकी बराबरी और नाही है ॥ भावार्थ-शुद्धनयकूं अवलंबन करि जो पुरुष अंतरंगविषैं चेतन्यमात्र परमवस्तूकूं एकाग्र अनुभवै हैं, ताके सर्व रागादिक आस्रवभाव दूरि होय, अर सर्वपदार्थनिकूं जाननेवाला निश्चल अतुल केवलज्ञान प्रगट होय है। सो यह ज्ञान सर्वतैं महान् है ॥ ऐसे आस्रवका स्वांग रंगभूमिमें प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान यथार्थरूप जानि लिया, तब निसरि गया ॥

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्य ते आगम गाये ।
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये ॥
जे मुनिराज करैं इनि त्याग, सुरिद्धि समाज लये सिव थाये ।
काय नवाय नमू चित लाय कहूँ जयमाल लहूँ मन भाये ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया चतुर्थोऽकः ॥ ४ ॥
ऐसे इस अध्यात्मतरंगिणीनामा टीकाकी वचनिकाविषैं चौथा अधिकार पूर्ण भया ॥४॥

अथ संवराधिकारः ॥ ५ ॥

दोहा— मोहरागरुष दूरि करि समिति गुप्ति व्रत पारि ।
संवरमय आतम कीयो नमूं ताहि मन धारि ॥

स जयतु जनघनसिन्धु ज्ञानामृतचन्द्र एव सपुष्यत् । शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान् ॥
ॐ नमः, अथ सवरं सूचयति—

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव –
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरं ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुरत्
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते । १ ।

सं० टी०—उज्जृंभते-विलसते-प्रकाशत इत्यर्थः, किं ? चिन्मय ज्ञानमय ज्योतिः-तेजः, किंभूतं ? सवर-कर्मणामागंतुकाना निरोधं, सपादयत्-कुर्वत्, किंभूत सवरं ? प्रतीत्यादि-प्रतिलब्धः-संप्राप्तः, नित्यं-निरतरं, विजयो येन तं, कुतः ? आससारेत्यादिः ससरण-संसार',-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूप', ससारमभिव्याप्य आससार कर्म विरोधयति-विनाशयति इत्येवं शील. आसंसारविरोधी स चासौ सवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जय एवैक.-अद्वितीयः, अंतः-स्वभावः, तेनावलिप्तः-संयुक्तः स चासौ आस्रवश्च तस्य न्यक्कारः-तिरस्कारः-धिक्कार इत्यर्थः, तस्मात्, पुन. किंभूत संवर ? पररूपतः-परः-द्रव्यादि., रागादिर्वा तस्य रूप स्वरूप तत्, व्यावृत्तं-निवृत्तं, तथा चोक्तमाप्तपरीक्षाया—

तेषामागमिना नून विपक्षः सवरो मतः ॥ १११ ॥ इति

पुनः नियमितं-कर्मनिरोधे नियमो जातो यस्य त, किंभूतं ज्योतिः ? सम्यक्स्वरूपे-यथोक्तस्वरूपे आत्म-स्वरूपे इत्यर्थः, स्फुरत्-देदीप्यमान पूर्वोक्तौ व्यावृत्तमित्यादिविशेषणौ द्वौ ज्योतिषो वा, पुनः उज्ज्वलं सदा-वदातं पुनः कीदृक्ष निजरसप्राग्भार-स्वात्मानुभवरसेन प्राक्-पूर्वं भारः भरणं यस्य तत् ॥ १ ॥ अथ ज्ञानरागयोः स्वरूपं वेभिद्यते—

अर्थ—चैतन्यस्वरूपमय स्फुरायमान प्रकाशमान ज्योति है सो उदयरूप होय फैले है। कैसा है ? अनादिसंसारतैं लगाय अपना विरोधी जो संवर, ताकों जीतिकरि एकांतपणे मदकूं प्राप्त भया जो आस्रव ताका तिरस्कारतैं पाया है नित्य विजय जानैं ऐसा संवरकूं निपजावता संता है ॥ बहुरि परद्रव्य तथा परद्रव्यके निमित्ततैं भये भाव, तिनितैं भिन्न है ॥ बहुरि कैसा है अपना सम्यक् कहिये यथार्थस्वरूप, ताविषैं निश्चित है ॥ बहुरि कैसा है ? उज्ज्वल है ? निरा-बाध निर्मल देदीप्यमान प्रकाशरूप है ॥ बहुरि कैसा है ? अपना रस जो ज्ञानरूप प्रवाह, ताका है प्राग्भार जाके-अपना रसका बोझकूं लीयें है, अन्य बोझ उतारि धरचा हे ॥ भावार्थ--अनादि तैं आस्रवका विरोधी संवर है । ताको आस्रव जीतिकरि मदकरि गर्वित तथा ताका तिरस्कार करी जीतिकूं प्राप्त भया जो संवर, ताकूं प्राप्त करता, अर समस्त पररूपतैं न्यारा होय, अपना रूपविषे निश्चल होय, यह चैतन्यप्रकाश है, सो अपना ज्ञानरसरूप भारकूं लिये निर्मल उदय-रूप होय है ॥

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रंतर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः

शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥

स० टी०—उदेति–उदयं गच्छति चकास्तीत्यर्थः ? किं भेदविज्ञानं–क्रकचवद् द्विधाकारक ज्ञानं, कस्य ज्ञानस्य रागस्य च, ज्ञानरागयोः परस्परमत्यंतविलक्षणत्वाद्भिन्नत्वा, किंभूतं ? निर्मल–मिथ्यात्वादिकर्मकालुष्यराहित्यात, किंभूतस्य— चैद्रूप्यं–चिदेव ज्ञानमेव रूप यस्य स तस्य भावश्चैद्रूप्या चेतनत्वमित्यर्थः दधतः–धारयत , च पुनः रागस्य किंभूतस्य ? जडरूपता–अचेतनता दधतः, किंकृत्वा द्वयो –जीवक्रोधयोः, अविभाग–अभेद, अकृत्वा–अविधाय, भेद कृत्वेत्यर्थं , केन ? अतरित्यादि –दारयति कर्मशत्रूनिति दारुण ज्ञान, अत –अभ्यतरं, दारुण–द्विधाकारक तच्च तद्दारुण च तेन कारणभूतेन, सत' ! अहो सत्पुरुषा ! मोदध्वं यूय प्रमोद कुरुध्व, अधुना इदानीं भेदज्ञानोदयं मति, किंभूता सत. ? इद एक–अद्वितीयं भेदज्ञान अध्याश्रिताः–आरूढाः प्राप्ता संत. इत्यर्थ । पुन किंभूता ? द्वितीयच्युता –ज्ञानरागयोर्मध्ये द्वितीयेन रागेण च्युता रहिता , किंभूतमिद ? शुद्धेत्यादि –शुद्ध –निर्मल तच्च तज्ज्ञान बोधश्च तस्य घना–निरतर अस्य, ओघ., समूह , यत्र तत ॥ २ ॥ अथ शुद्धात्मोपलभात् सवर विवृणोति—

अर्थ—यह निर्मल भेदज्ञान है सो उदयकूं प्राप्त होय है। सो याका निश्चय करनेवाले सत्पुरुषनिकूं संबोधन करि कहै हैं-जो,हे सत्पुरुष हो ! तुम याकूं पायकरि,अर अवर द्वितीय जो रागादिक भाव, तिनितैं रहित भये संते, एक शुद्धज्ञानघनका समूहकूं आश्रयकरि, तिसमें लीन भये संते, वडा आनंद मानों। जातैं यह कहा करि, उदय होय है ! चैतन्यरूप ताकूं धरता संता तौ ज्ञान अर जडरूपताकूं धरता राग,तिनि दोऊनिके अज्ञानदशामें एकपणासा दीखै है। तिनिका अंतरंगविषैं अनुभवके अभ्यासरूप वलकरि उत्कृष्ट विदारण करी सर्वप्रकार विभागकरी उदय होय है। भावार्थ—ज्ञान तौ चेतनास्वरूप है अर रागादि पुद्गलविकार जड है। सो अज्ञानतैं एक जडरूप भासैं हैं ॥ सो भेदविज्ञान जब प्रगट होय है तव ज्ञानका अर रागादिकका भिन्नपणाका अंतरंग अनुभवके अभ्यासते प्रगट होय है। तब ऐसे जाने है जो ज्ञानका स्वभाव तौ जाननेमात्र ही है अर ज्ञानमें रागादिककी कलुषता मलिनता आकुलतारूप संकल्प विकल्प भासैं हैं,सो ए सर्व पुद्गलके विकार हैं जड हैं। ऐसा ज्ञानका अर रागादिकका भेदका आस्वाद आवै है। सो यह भेद विज्ञान सर्व विभावभाव मेटनेकूं कारण होय है, अर आत्माकूं परमसंवरभावकूं प्राप्त करै है। तातैं सत्पुरुषनिकूं कहै हैं, जो याकूं पायकरि रागादिकतैं च्युत होय शुद्ध ज्ञानघन आत्माका आश्रय ले आनंदकूं प्राप्त होऊ॥ अब कहै हैं जो ऐसैं यह भेदविज्ञान जिस काल ज्ञानके रागादिविकाररूप विपरीतपणाकी कणिकाकूं न प्राप्त करता अविचलित है, तिसकाल ज्ञान है सो शुद्धोपयोगस्वरूपपणाकरि ज्ञानहीरूप केवल भया संता किंचिन्मात्र भी रागद्वेष मोहभावकूं नाहीं प्राप्त होय है। तातैं यह ठहरी, जो भेदविज्ञानतैं शुद्धात्माकी प्राप्ति होय है। वहुरि शुद्धात्माकी प्राप्तीतैं राग द्वेष मोह जे आस्रवभाव तिनिका अभाव है लक्षण जाका ऐसा संवर होय है॥

विशेष—संस्कृत टीकाकारको 'द्वयतोऽकृत्वाऽविभागं' यह पाठ मिला है इसलिये उन्होंने जडरूपको धारणकरनेवाले क्रोध आदिके और चेतनरूपको धारणकरनेवाले जीवके विभागके अभावको न करके अर्थात् विभाग करके 'यह अर्थ किया है तथा ग्रन्थकारको भी यहां यही अर्थ अभीष्ट है परन्तु साधुपाठ-द्वयतोः कृत्वा विभागं' यही है क्योंकि यहां अर्थमें 'ज्ञानाज्ञानी नहि करनी पड़ती' श्लोकको पढ़ने ही अर्थ हृदयपर अंकित हो जाता है। तथा उपर्युक्त अर्थके बतलानेकेलिये ग्रन्थकार कभी श्लोकमें ऐसे पद भी नहिं डाल सकते ॥ २ ॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामभात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ ३ ॥

सं० टी०—यदि-चेत्, अयं-प्रसिद्धः, आत्मा-चिद्रूपः, आस्ते-अवतिष्ठते, किंभूतः? ध्रुवं-निश्चितं, कथमपि-महता कष्टेन शुद्धं द्रव्यभावनोकर्मकलंकविकलं आत्मानं-स्वस्वरूपं, उपलभमानः-आसादयन्, स्वस्यानुभवगोचरीकुर्वाण इत्यर्थः, केन? बोधनेन बोध्यते-ज्ञायते अनेनेति बोधनं-ज्ञानं तेन, किंभूतेन? धारावाहिना-अनवच्छिन्नप्रवाहेन स्वघुर्णताधारेव वहनशीलेन, ननु नहि, तदा आत्मानं-चिद्रूपं शुद्धमेव-निष्कलंकमेव, अभ्युपैति-प्राप्नोति, कुतः? परपरिणतिरोधात्-परेषु अचेतनादिपदार्थेषु परिणतिः स्वत्वादिलक्षणपरिणामः, तस्य निरोधः तस्मात्, किंभूतं तं? उदयदित्यादि-आत्मनः-आरामः-रमणीयं क्रीडावनं वा उदयत्-उदयं गच्छत् आत्मारामं यत्रासौ तं, इत्येवं संवरप्रकारः ॥ ३ ॥ अथ कर्ममोक्षं कथीकरोति—

अर्थ—जो आत्मा कोई प्रकार बडे भाग्यतैं धारावाही ज्ञानकरि निश्चल शुद्ध आत्माकूं प्राप्त होता संता तिष्ठै है, तो यह आत्मा, उदय होता है आत्मारूप क्रीडावन जाकै, ऐसा अपना आत्माकूं परपरिणति जे राग द्वेष मोह, तिनिका निरोधतैं शुद्धहीकूं पावै है। ऐसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तितैं संवर होय है॥ इहां धारावाही ज्ञान कह्या, ताका अर्थ—यह जो एक प्रवाहरूप ज्ञान होय, सो धारावाही है॥ सो याकी दोय रीति हैं—एक तौ मिथ्याज्ञान बीचिमैं न आवै ऐसा सम्यग्ज्ञान सो धारावाही है॥ बहुरि दूजा उपयोगका ज्ञेयके उपयुक्त होनेकी अपेक्षा है, सो जहांताईं एक ज्ञेयकूं उपयोग उपयुक्त होय रहै तहां ताईं धारावाही कहिये सो याकी स्थिति अंतर्मुहूर्तकी है। पीछैं विच्छेद होय है। सो जहां जैसी विवक्षा होय, तहां तैसा जानना ॥ श्रेणी चढै तब शुद्ध आत्माकूं उपयुक्त होय धारावाही है॥

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः

सं० टी०—नियतं-निश्चितं, शुद्धेत्यादिः-शुद्धतत्त्व-परमात्मतत्त्वं, तस्योपलंभः-प्राप्तिः, भवति जायते, केषां? येषां निजमहिमरतानां-निज-स्वात्मा, तस्य महिमा—माहात्म्यं दर्शनज्ञानादिलक्षणं, तत्र रक्तानां

आसक्ताना, अचल-निश्चलं यथा भवति तथा, स्थिताना-प्रविष्टाना, क ? अखिलेत्यादि.-अखिलानि समस्तानि, तानि च तानि अन्यद्रव्याणि च आत्मव्यतिरिक्तधर्मादिपचद्रव्याणि तेभ्यः दूरात्-दविष्ठे, कया ? भेदेत्यादि.-भेदकारकविज्ञानस्य शक्तिः-सामर्थ्यं तया, चेति भिन्नप्रक्रमे, सति-विद्यमाने, तस्मिन् शुद्धतत्त्वोपलभे, अक्षयः-क्षयातीत', अनतकालस्थायीत्यर्थ , कर्ममोक्ष.-कर्मणा-प्रकृतिस्थित्यादिरूपतया विश्लेषणं-मोक्ष' भवति जायते ॥ ४ ॥ अथ सवर विवृणोति—

अर्थ-जे पुरुष भेदविज्ञानकी शक्तिकरी अपना स्वरूपकी महिमाविषैं लीन है, तिनिकै नियमतैं शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होय है ॥ बहुरि तिस शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होते संते जे निश्चल जैसे होय तैसे समस्त अन्यद्रव्यतै दूरि तिष्ठै हैं, तिनिके कर्मका मोक्ष कहिये अभाव होय है, सो अक्षय होय है-फेरि कर्मबंध नाहीं होय है ॥

संपद्यते संवर एव साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ॥ ५ ॥

सं० टी०—तस्मात्-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानात्, आस्रवभावहेतूनामध्यवसानाना मिथ्यात्वादीनामभावः, तदभावे च रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्याभाव', तदभावे च कर्माभावः, तदभावे च नोकर्माभावः, तदभावे च संसाराभावः इति कारणात् तत्-प्रसिद्ध'-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानं, अतीवभाव्य-अत्यर्तं, भावनीयं, तत् कुत. ? यत.-स-आत्मोपलभ -भेदविज्ञानत एव नान्यत', किलेत्यागमे श्रूयते । शुद्धात्मतत्त्वस्य-अमलपरमात्मस्वरूपस्य, उपलभात्-प्राप्ते., एप-प्रसिद्ध , साक्षात्-प्रत्यक्ष सवरः—आगतुककर्मनिरोधः, सपद्यते जायते, ॥ ५ ॥ अथ-भेदविज्ञानमाज्ञापयति—

अर्थ-जातैं यह संवर है सो निश्चयतैं साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वका उपलंभ कहिये पावनेतैं होय है ॥ बहुरि शुद्धात्मतत्त्वका उपलंभ है, सो आत्मा अर कर्मका भेदविज्ञानतैं होय है-कर्मकूं अर आत्माकू न्यारे जानै तब आत्माकूं अनुभवै । तातैं सो भेदविज्ञान अतिशयकरि भावनेयोग्य है ॥ फेरि कहै हैं, जो, भेदविज्ञान कहां तांई भावना ?

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ६ ॥

सं० टी०—यावत्पर्यंत, ज्ञानं-परमात्मबोध', ज्ञाने-स्वस्वरूपप्रतिभासके बोधे, प्रतिष्ठते-स्थितिं करोति, स्वस्वरूपे—स्वस्वरूपावस्थाने इत्यर्थ किंकृत्वा ? च्युत्वा-त्यक्त्वा, कान् ? परान् अचेतनादिपरपदार्थान्, तावत्कालपर्यंत इद भेदविज्ञान-आत्मकर्मणोर्भेदकारकभावनाज्ञानं, अच्छिन्नधारया अनवच्छिन्नरूपेण, भावयेत-ध्यायेत्, लब्धे स्वरूपे स्वरूपप्राप्तिनिमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगात्, निष्पन्ने पटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविंदादेरनुपयोगित्ववत् ॥ ६ ॥ अथ भेदज्ञानाज्ञानयोः सिद्धिं प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति—

अर्थ—यह भेदविज्ञान है ताहि निरन्तर धाराप्रवाहरूप जामैं विच्छेद न पडे ऐसे तेतैं भावै जेते ज्ञान है सो परभावनितैं छूटि करि अपने स्वरूपज्ञानही विर्षै प्रतिष्ठित होय ठहरी जाय ।।

भावार्थ—इहां ज्ञानका ज्ञानविर्षै ठहरना दोय प्रकार जानना।। एक तौ मिथ्यात्वका अभाव होय सम्यग्ज्ञान होय, फेरि मिथ्यात्व न आवै बहुरि दूजा यह जो शुद्धोपयोगरूप होय ठहरे, ज्ञान अन्यविकाररूप न परिणमै । सो दोऊ प्रकार न बने तेतैं निरन्तर भेदविज्ञानकी भावना राखनी ।। फेरि भेद विज्ञानकी महिमा कहे हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। ७ ।।

सं० टी०—किलेत्यागमोक्ते निश्चये ये-केचन पुरुषसिंहाः, सिद्धाः-सिद्धिं स्वात्मोपलब्धिलक्षणां प्राप्ताः, उपलक्षणात् सिद्ध्यंति-सेत्स्यंते, ते सर्वे भेदविज्ञानतः-आत्मकर्मणोर्भेदज्ञानात् नान्यतस्तपश्चरणादेः सिद्धपदं प्राप्ताः प्राप्नुवन्ति-प्राप्स्यिष्यंति, किलेति-निश्चितं । ये-केचन संसारिणः पुरुषाः बद्धाः-कर्मबंधनबद्धाः, त एव अस्य भेदविज्ञानस्य, अभावतः, बद्धाः-बंधनं प्राप्ताः, नात्र विचारणा ।। ७ ।। अथ ज्ञाने ज्ञानव्यवस्थाकारणं कलयति—

अर्थ—जे केई सिद्ध भये है, ते इस भेदविज्ञानतैं भये हैं । बहुरि जे कर्मतैं बंधे हैं, ते तिसही भेदविज्ञानके अभावतैं,बंधे हैं । भावार्थ—संसार है सो आत्मा अर कर्मके एकताकी माननेतैं है सो अनादितै जेतैं भेदविज्ञान नाही है, तेतैं कर्मतैं बंधे ही है तातैं कर्मबंधका मूल भेदविज्ञान का अभावही है जे बंधे हैं, ते याहीके अभावतैं बंधे हैं बहुरि जे सिद्ध भये है,ते भेदविज्ञान भये ही भये हैं, तातैं प्रथम भेद विज्ञान ही मोक्षका कारण है ।। इहा ऐसा भी जानना, जो, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध तथा वेदांती वस्तूकूं अद्वैत कहै हैं, ते अद्वैतका अनुभवहीतै सिद्धि कहैं है, तिनिका भी इस भेदविज्ञानतै सिद्धि कहनेतै निषेध भया । जातै सर्वथा अद्वैत वस्तुका स्वरूप नाहीं, अर जे माने हैं, तिनिका भेदविज्ञान कहना बने नाही । भेदविज्ञान तो वस्तु द्वैत होय तब कहना बने । सो जीव अजीव दोय वस्तु माने, अर दोयका संयोग माने, तब भेदविज्ञान बने, यातै स्याद्वादीनिकै सर्व निर्बाध सिद्धि होइ है । ७।। आगै संवरका अधिकार पूर्ण भया, सो या संवरको भये ज्ञान कैसा है ऐसे ज्ञानकी महिमाका कलशरूप काव्य कहै हैं—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभाद् रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।

बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।

सं० टी०—नियतं-निश्चितं, एतत् ज्ञानं, परमात्मज्ञानं, ज्ञाने-स्वरूपप्रतिभासे, उदितं-उदयं प्राप्तं, किंभूतं ? तोषं-परमानंदं बिभ्रत्-धारयत्, पुनः किंभूतं ? परमं-परा-उत्कृष्टा, मा-सर्ववस्तुपरिच्छेदिका ज्ञानशक्तिरूपा लक्ष्मीर्विद्यते यस्य तत्, कुतः-भेदेत्यादिः—भेदज्ञानस्य उच्छलनं-प्राकट्यं प्रकाशनमित्यर्थः,

तस्य कलन–अभ्यसनं तस्मात्, पुनः अमलालोकं–अमल.–निर्मल., आलोक–जगत्प्रकाशकप्रकाशो यस्य तत्, कुतः ? शुद्धेत्यादि–शुद्धतत्त्वस्य–परमात्मन., उपलंभः–प्राप्तिः तस्मात्, अम्लानं–कश्मलताच्युतं, कुतः ? रागेत्यादिः–रागस्य–रतेः,ग्रामः–समूहः,तस्य प्रलयकरण–विनाशकरण तस्मात्,पुन' एक कर्मादिव्यतिरिक्तत्वेनाद्वितीय,केन ? कर्मणा संवरेण–आगतुककर्मनिरोधेन अत एव शाश्वतोद्योतं––नित्यप्रकाशं ॥८॥

अर्थ–यह ज्ञान है सो ज्ञानहीविषैं निश्चल नियमरूप उदयकूं प्राप्त भया। कैसे अनुक्रमतै उदय भया ? प्रथम तौ भेदविज्ञानका उदय होना,ताका अभ्यास भया। बहुरि तिस भेदज्ञानके अभ्यासतैं शुद्धतत्त्वका उपलंभ भया। बहुरि तिस शुद्धतत्त्वके उपलंभतैं रागके समूहका प्रलय किया। बहुरि रागग्रामका प्रलय करनेतैं आस्रवके रुकनेते कर्मनिका संवर भया। बहुरि कर्मका संवर होनेकरि परम उत्कृष्ट संतोपकूं धारता संता, ज्ञान प्रगट भया। बहुरि कैसा है ज्ञान निर्मल है आलोक कहिये प्रकाश जाका, क्षयोपशमके दोषतैं मलिनता थी सो अब नाही है। बहुरि अम्लान है, रागादिकतैं कलुपता थी सो अब नाही है, तातैं निर्मल है। बहुरि कैसा है एक है, क्षयोपशमकरि भेद थे, ते अब नाही हैं। बहुरि शाश्वता हैं उद्योत जाका, क्षयोपशमज्ञानमें क्रमतैं होना था, सो अब नाही है। ऐसा रंगभूमीमैं संवरका स्वांग प्रवेश भया था ताकूं ज्ञान जानि लिया, सो नृत्य करि रंगभूमितैं निकसि गया ॥

विशेष–संस्कृत टीकाकारके अनुसार इस श्लोकका अर्थ इसप्रकार है-जो [ज्ञान] भेदज्ञानके अभ्याससे परमानन्दको धारण करनेवाला है शुद्धस्वरूपके उपलंभसे निर्मल प्रकाशका धारक समस्त जगत्को जाननेवाला है। रागसमूहके नष्ट होजानेके कारण मलिनतारहित है और कर्मोंकी संवर अवस्था होनेसे अद्वितीय सदा प्रकाशमान है ऐसा परमात्मज्ञान उदित होता है

भेदविज्ञानकला प्रगटै तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही।
राग द्वेप विमोह सबै ही गलि जाय इमै भठ कर्म रुका ही ॥
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोप धरै परमातममाही।
यों मुनिराज भली विधि धारत केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥ १ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

ऐसे परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं पांचमा संवर अधिकार पूर्ण भया ॥ ५ ॥

अथ निर्जराधिकारः । ६ ।

संवरनिकरविचारोऽमृतचन्द्रो भानुभुवनद्य्वः (?) । श्रीकुन्दकुन्दशाली शुभचन्द्रकरः प्रशस्तेद्धः ॥

ॐ नमः अथ निर्जरानिरूपणमुज्जृंभते—

रागादिककूं मेटि कर, नवे बंध हति संत। पूर्व उदयमें सम रहे, नमूं निर्जरावंत ॥

इहां निर्जरा प्रवेश करै है ॥ भावार्थ–जैसे नृत्यके अखाडेमैं नृत्य करनेवाला स्वांग

वनाय प्रवेश करै है,ऐसे यह तत्त्वनिका नृत्य है तहां रंगभूमिमें निर्जरा का स्वांगका प्रवेश है,तहां प्रथमही सर्व स्वांग देखिकरि यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है ताकूं टीकाकार मंगल जानि प्रगटै करै हैं—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥ १ ॥

सं० टी०—संवरः-संवरनामतत्त्वं. स्थितः-व्यवस्थितः, किं कृत्वा ? धृत्वा-उद्धृत्य. निजधुरां-स्वयोग्यधुर्यं, किंभूतः ? परः-उत्कृष्टः. कर्मागमनिरोधकत्वात्. किं कुर्वन् ? दूरात्-आरात्, निरुंधन्. भरतः-अतिशयेन. किं ? समस्तमेव-निखिलमेव,आगामि आगंतुकं कर्म ज्ञानावरणादिप्रकृतिं, कुतः ? रागेत्यादिः-रागाद्याः-रागद्वेषमोहाः ते च ते आस्रवाः, तु पुनर्भिन्नप्रक्रमे, प्रत्ययाः, तेषां रोधः-निरोधः, तस्मात् । अधुना संवरानंतरं निर्जरा-निर्जीर्यते पूर्वनिबद्धं यया सा भावनिर्जरा पूर्वनिबद्धकर्मणां निर्जरणं निर्जरा इति द्रव्यनिर्जरा सूचिता, विजृंभते-विलसति, किंकर्तुं ? दग्धुं भस्मीकर्तुं विनाशयितुमित्यर्थः । किं ? प्राग्बद्धं पूर्वमास्रवैर्निबद्धं, तदेव-द्रव्यभावकर्मैव सम्यग्दृष्ट्याद्येकादशनिर्जरया कर्मणो निर्जीर्यमाणत्वात् । तथा चोक्तं गोम्मटसारे—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे । दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगे य उवसंते ॥

खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा । तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति ॥६६॥

इति [जीवकांडे] यतः निर्जरादिभिः कर्मविनाशकरणात् हीति स्फुटं न मूर्छति-न मोहं आप्नोति, कैः ? रागादिभिः-रागद्वेषमोहैः किं ? ज्ञान ज्योतिः-बोधतेजः, किंभूतं ? अपावृतं-निर्जरासंवरैर्निरावरणं ॥ १ ॥ अथ ज्ञानसामर्थ्यं समुत्थापयति—

अर्थ— प्रथम तौ उत्कृष्ट संवर है, सो रागादिक जे आस्रव तिनिकै रोकनेतैं,अपनी धुरा जो सामर्थ्यकी हद, ताहि धारिकरि आगामी समस्तही कर्म, ताकूं मूलतैं दूरीही रोकता संता तिष्ठ्या । अब इस संवर भये पहलैं बंधरूप भया था जो कर्म, ताहि दग्ध करनेकूं निर्जरारूप अग्नि फैलै है, सो इस निर्जराके प्रगट होनेतैं, ज्ञानज्योति है सो आवरण रहित भया फेरि रागादिभावनिकरि मूर्छित नाहीं होय है, सदा निरावरण रहै । भावार्थ—संवर भये पीछें नवीन कर्म बंधै नाहीं अर पूर्वं बंधे थे, ते निर्जरे, तब ज्ञानका आवरण दूरि होय, तब ज्ञानका आवरण कैसा है ? सो फेरि रागादिरूप न परिणमैं, सदा प्रकाशरूप रहै ॥

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बद्धयते ॥ २ ॥

सं० टी०—किलेत्यागमोक्तौ. यत् कोऽपि-ज्ञानी न बद्धयते-बंधनं न प्राप्नोति, कैः ? कर्मभिः, किंभूतोऽपि ? भुंजानोऽपि—वेदयमानोऽपि. किं ? कर्म-पूर्वोपात्तं कर्म, सुख-दुःखरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि तत्-

सामर्थ्यं—समर्थता कस्य ? ज्ञानस्यैव, वा—अथवा विरागस्यैव । यथा विष भुंजानोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं तथा कर्मोदीर्यमानमपि भुंजानो न बद्ध्यते ज्ञानी ॥ २ ॥ अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्व सिचयति—

अर्थ—जो कर्मकूं भोगवता संताभी कर्मकरि नाही बंधै है सो यह कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञानका ही है, अथवा विरागका ही है। अज्ञानीकूं तौ आश्चर्य का उपजावनहारा है, ज्ञानी यथार्थ जानै है ।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।

ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३ ॥

स० टी०—तत्—तस्माद्धेतो , असौ—ज्ञानी, सेवकोऽपि—विषय सेवयन्नपि असेवकः—विषयसेवको न भवेत् कश्चित् प्रकारेण व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिकवत्, यत्—यस्माद्धेतोः, नाश्नुते—न भुंजते, किं स्व—स्वकीय फलं—कर्मबंधरूप क. ? ना आत्मा कस्य ? विषयसेवनस्य—सुखदुःखाद्यनुभवस्य, क सति ? विषयसेवनेऽपि, कुतः ? ज्ञानेत्यादि —ज्ञानस्य वैभवं—सामर्थ्यं तेन उपलक्षित विरागतायाः बलं—शक्ति-स्तस्मात् ॥ ३ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेः शक्तिं सयुज्यते—

अर्थ—यह पुरुष है सो विषयनिकूं सेवते संतेभी जो विषयसेवनका निजफल है, ताको नाही पावै है। सो ज्ञानके विभावका अर विरागताका बलतैं यह विषयनिका सेवनहारा है, तौऊ सेवनहारा नाही हैं। भावार्थ—ज्ञानका अर विरागताका कोई अचिंत्य सामर्थ्य ऐसा ही है, जो इन्द्रियनिकरि विषयनिकूं सेवै है, तौऊ ताकूं सेवनहारा न कहिये। जातैं विषयसेवनका सामान्य निजफल संसार है। सो ज्ञानी वैरागीके मिथ्यात्वके अभावतैं संसारका भ्रमणरूप फल नाही होय है। आगैं इसही अर्थकूं प्रगट दृष्टांतकरि दिखावै है—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः

स्वं वस्तुत्व कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।

यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च

स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् । ४ ।

स० टी०—नियत—निश्चित, ज्ञानवैराग्यशक्तिः—ज्ञानवैराग्ययोः सामर्थ्यं, भवति—अस्ति, कस्य ? सम्यग्दृष्टेः—स्वतत्त्वश्रद्धायकस्य, किंकर्तुं स्वं—आत्मानं, वस्तुत्वं—वस्तुस्वरूपं, कलयितुं—अनुभवितुं ध्यातुमित्यर्थः, तत्कुतः ? यस्माद्धेतोः, अयं सम्यग्दृष्टिः, स्वस्मिन्—आत्मनि, आस्ते—अवतिष्ठते—विरमते च—विरक्तिं भजति, कुतः ? सर्वतः—समस्तात्, परात् आत्मनः परस्वरूपात्, रागयोगात्—रागद्वेषमोहसंयोगात्, कया स्वेत्यादिः—स्वः—आत्मा, अन्यः—परद्रव्यादिः, तयोः रूपे—स्वरूपे तयोर्यथाक्रमं, आप्तिः—प्राप्तिः, मुक्तिः मोचनं—स्वरूपप्राप्तिः—परस्वरूपमुक्तिरित्यर्थः, तया, किं कृत्वा ? ज्ञात्वा—अवबुध्य, तत्त्वतः—परमार्थतः, किं इदं स्वं—आत्मीयं—स्वात्मलक्षणं, च—पुनः परं परद्रव्यं, व्यतिकरं—अन्योन्यस्य भिन्नं ॥ ४ ॥ अथ रागिणः सम्यक्त्वराहित्यमुच्यते—

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके नियमतैं ज्ञान अर वैराग्यकी शक्ति होय है जातैं यह सम्यग्दृष्टि अपना वस्तुपणा यथार्थ स्वरूप ताका अभ्यास करने कू अपना स्वरूपका ग्रहण अर परका त्यागकी विधिकरि यह तौ अपना आत्मस्वरूप है अर यह परद्रव्य है ऐसे दोऊका भेद परमार्थ करि जानि अर आप विषैं तो तिष्ठै है अर परद्रव्यतैं सर्वप्रकार रागके योगतैं विरक्त होय है सो यह रीति ज्ञान वैराग्यकी शक्ति विना होय नाहीं ॥

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातुबंधो न मे स्या—
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरंतु ।
आलंबतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगमविरहात् संति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ ५ ॥

सं० टी०—रागिणोऽपि पुरुषाः, न केवलं तत्त्वविदः, इत्यपिशब्दार्थः, आचरंतु पंचमहाव्रतशास्त्राध्ययनादौ प्रवर्तंतां, पुनः समितिपरतां—समितयः—ईर्याभाषैषणादयः समितिस्वभावाः, तत्र परता तत्परतां—उत्कृष्टता वा आलंबंतां आलबनं कुर्वंतां, किंभूतास्ते इति—उक्तप्रकारेण, उत्तानोत्पुलकवदनाः—उत्तानं—ऊर्ध्वावलोकित्वं महाहंकारत्वात्, उत्—ऊर्ध्वाः, पुलकाः—रोमांचाः, यस्य तत्, उत्तानं—उत्पुलकं, वदनं वक्त्रं येषां ते इति किं ? स्वयं—स्वत एव—अयं—प्रत्यक्षोऽहं सम्यग्दृष्टिः—तत्त्वदर्शी, मे—मम, जातु—कदाचित् , बंधः—कर्मणां बंधः न स्यात्—न भवेत् इत्यहंकाररूपं वाक्यं, इति ये दधति ते अद्यापि—इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपिशब्दार्थः, सम्यक्त्वरिक्ताः—तत्त्वश्रद्धानमुक्ताः संति—वर्तंते, कुतः ? आत्मेत्यादिः—आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ स्वपरद्रव्ये तयो. अवगमः—परिज्ञानं, तस्य विरहः—अभावः तस्मात्, सम्यक्त्वरिक्तत्व कुतः ? यतः कारणात् ते पापाः पापकर्मयुक्ताः अहंकाराद्यशुभकर्ममयत्वात् ॥ ५ ॥ अथ रागिणो भ्रांतिं बीभास्यते—

अर्थ—जे पर द्रव्यके विषैं रागद्वेषमोहभावकरि तौ संयुक्त है,अर आपकूं ऐसैं मानैं है जो,मैं सम्यग्दृष्टि हौं, मेरै कदाचित् कर्मका बंध नाही होय है, शास्त्रमें सम्यग्दृष्टिकै बंध नाही कह्या है, ऐसे मानिकरि उत्तान कहिये गर्वसहित ऊंचा किया है अर हर्षसहित उत्पुलक कहिये रोमांचरूप भया है मुख जिनिका ऐसे हैं, ते महाव्रतादि आचरण करो तथा समिति कहिये वचन विहार आहारकी क्रियाविषैं यत्नतैं प्रवर्तना, तिसकी परता कहिये उत्कृष्टता, ताकूं भी आलंबन करो, ते ऐसे प्रवर्तते भी पापी मिथ्यादृष्टि ही है । जातैं आत्माका अनात्माका ज्ञानतैं रहित हैं, तातैं सम्यक्त्वतैं रीते है, तिनिकैं सम्यक्त्व नाही है । भावार्थ—जो आपकूं सम्यग्दृष्टि मानैं अर परद्रव्यतैं रागी होय, तौ, ताकै सम्यक्त्व काहेका ? व्रतसमिति पाले तौऊ आपापरका ज्ञानविना पापीही है । अर आपकै बंध न होना मानि स्वच्छंद प्रवर्तै, तौ काहेका सम्यग्दृष्टि ? जातैं चारित्रमोहका रागतैं बंध तौ यथाख्यातचारित्र जेतै न होय तेतैं होय ही है । सो जेतैं राग रहै तेतैं सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा गर्हा करता ही रहै है, ज्ञान होनेमात्रतैं छूटना नाही, ज्ञान भये पीछे तिसहीमें लीनरूप शुद्धोपयोगरूप चारित्रतैं बंध न कहै हैं । तातैं राग

छतैं बंध न होना मानि स्वच्छंद होना तो मिथ्यादृष्टिही है। इहां कोई पूछै व्रतसमिति तौ शुभकार्य है, तिनिकूं पालतैं पापी क्यों कहे ? ताका समाधान-जो, पाप सिद्धांतमें मिथ्यात्वहीकूं कह्या है, जहां तांई मिथ्यात्व रहै, तहां तांई शुभ तथा अशुभ सर्वही क्रियाकू अध्यात्मविषैं परमार्थकरि पापही कहिये, अर व्यवहारनयकी प्रधानतामैं व्यवहारी जीवनिकूं अशुभ छुडाय शुभमें लगावनेकूं कथंचित् पुण्य भी कहिये है,स्याद्वादमतविषै विरोध नाही। बहुरि कोई पूछे परद्रव्यसूं राग रहै जेतैं मिथ्यादृष्टि कहै, सो या मैं समझो नाही, अविरत सम्यग्दृष्टि आदिकै चारित्र मोहका उदयतैं रागादिभाव होय है, ताकै सम्यक्त्व कैसें है ? ताका समाधान जो इहां मिथ्यात्वसहित अनंतानुबंधीका राग प्रधानकरि कह्या है। जातै आपापरका ज्ञान श्रद्धान विना परद्रव्य तथा तिसके निमित्ततैं भये भाव,तिनिविषैं आत्मबुद्धि होय तथा प्रीति अप्रीतिहोय तव जानिये याकै भेदज्ञान भया नाही। जो,मुनिपद लेकरि व्रतसमिति भी पालै है,तहां परजीवनिकी रक्षा तथा शरीरसंबंधी यत्नतैं प्रवर्तना अपने शुभभाव होना इत्यादि परद्रव्यसम्बन्धी भावनिकरि अपने मोक्ष होना मानै,अर परजीवनिका घात होना अयत्नाचार प्रवर्तना अपना अशुभभाव होना इत्यादि परद्रव्यनिकी क्रियाहीतैं अपने बंध मानै ततैं जानिये-याकै आपापरका ज्ञान नहीं भया बंध मोक्ष तौ अपना ही भावनितैं था, परद्रव्य तो निमित्तमात्र था यामैं विपर्यय मान्या तातैं ऐसैं परद्रव्यहीतैं भला बुरा मानि रागद्वेष करै है, जेतैं सम्यग्द्रष्टि नाहीं है, अर जेतैं चारित्रमोहसंबंधी रागादिक रहै हैं। तिनकूं तथा तिनिका प्रेरचा परद्रव्यसंबंधी शुभाशुभ क्रियामैं प्रवर्तै है तिस प्रवृत्तिकूं ऐसैं माने जो, यह कर्मका जोर है, यातैं निवृत्त भये मेरा भला है, तिनिकूं रोगवत् जानै है, पीडा न सही जाय तव तिनिका इलाज करनेरूप प्रवर्तै है। तौऊ तिनितैं याकै राग न कहिये, रोग मानैं तिनितैं काहेका राग, तिसका मेटनेहीका उपाय करै। सो मेटना भी अपनेही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनेतैं मानैं। ऐसैं परमार्थ अध्यात्मदृष्टिकरि इहां व्याख्यान जानना॥ मिथ्यात्वविना चारित्रमोहसंबंधी उदयका परिणामकूं इहां राग न कह्या है। जातैं सम्यग्द्रष्टिकै ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य होना कह्या है॥ तहां मिथ्यात्वसहित ही रागकूं राग कहै हैं सो सम्यग्दृष्टिकै है नाहीं, अर मिथ्यात्वसहित राग होय सो सम्यग्द्रष्टि नाही, ऐसा विशेषकूं सम्यग्द्रष्टिही जानै है॥ मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्रमें प्रथम तौ प्रवेश नाही अर जो प्रवेश करै तौ विपर्यय समझै है, व्यवहारकूं सर्वथा छोडि भ्रष्ट होय है, अथवा निश्चयकूं नीकै नाही जानि व्यवहारहीतै मोक्ष मानै है, परमार्थतत्त्वविषै मूढ है। तातै यथार्थ स्याद्वादन्यायकरि सत्यार्थ समझै सम्यक्त्वकी प्राप्ति होय है।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ ६ ॥

सं० टी०—भो अंधाः ! हे रागिणः ! ज्ञानदृष्टिपराङ्मुखत्वात् विबुध्यध्वं-यूयं जानीध्वं,अमी रागिणः-परद्रव्येषु रागो रतिर्विद्यते येषां ते यस्मिन्-चिद्रूपे-परद्रव्ये वा सुप्ताः-निद्रायमाणाः, तत्स्वरूपानभिज्ञत्वान्निद्रात्वं स्थिता वा तत् अपदं चिद्रूपे शयनमयुक्तं परद्रव्ये स्थितिः-स्थानं किंभूतं ? अपद-न विद्यते पदं-रक्षणं-स्थानं लक्षणा वा यतः-यत्र यस्य वा तदपदं, किं भूतास्ते ? आसंसारात् पंचप्रकारसंसारमभिव्याप्य, प्रतिपदं,-पद पदं प्रतीति प्रतिपदं, एकेंद्रियद्वींद्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणे पदे वा नित्यमत्ताः-नित्यं दृप्ताः-हर्षं गता वा स्वस्वरूपानभिज्ञत्वात्, इतः-परस्थानात् एत एत—पुनः पुनरागच्छत यूयं, इद-शुद्धचिद्रूपलक्षणं इदमेव नान्यत् इति निर्धारणार्थं वीप्सा, पद—स्थानं ज्ञानिना स्थितियोग्यत्वात्, अथवा इदमिद एकपद, अरय चिद्रूपस्यइदं इदमिद पदं, इतः—आगच्छत, यत्र पदं चेतन्यधातुः चेतनालक्षणो धातुः स्थायिभावत्वं—स्थैर्यं, एति-प्राप्नोति, कुतः ? स्वरसभरतः स्वानुभवातिशयात्, किंभूतः ? शुद्धः-निर्मलः, पुनः किंभूतः ? शुद्धः—परद्रव्यादतीवनिर्मलः, प्रथमशुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितं, द्वितीयशुद्धपदेन स्वसांसारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितं ॥ ६ ॥ अथ तत्पदास्वादनं स्वदते—

अर्थ—संसारी भव्यप्राणीकूं श्रीगुरु संबोधै हैं—जो हे अंधे प्राणी हो, ए रागी पुरुष हैं, ते अनादि संसारतैं लगाय जिस पदविषैं सूतैं हैं—निद्रामैं मग्न है, तिस पदकूं तुम अपद जानो, यह तुमारा ठिकाना नाही। इहां दोय वारंवार कहनेतें अतिकरुणाभाव सूचे हैं।। फेरि कहै है-जो तुमारा ठिकाना यह है यह है। जहां चैतन्यधातु शुद्ध है शुद्ध है। अपने स्वाभाविक रसके समूहतैं स्थायीभावपणाकूं प्राप्त है। इहां दोय शुद्धपद है, सो द्रव्य अर भाव दोऊकी शुद्धताके अर्थि हैं सो सर्व अन्यद्रव्यनितैं न्यारा सो तो द्रव्यशुद्धता हैं। अर परनिमित्ततैं भये अपने भाव तिनितै रहित भाव शुद्ध कहिये सो इतः कहिये इस तरफ आवो—इहां निवास करौ भावार्थ-प्राणी अनादिसंसारतैं लगाय रागादिककूं भला जाणि, तिनिहीकूं अपना स्वभाव मानि, तिनिहीविषै निश्चित तिष्ठै है—सोवै हैं। तिनिकू श्रीगुरु दयालु होय संबोधै है—जगावै हैं-सावधान करे हैं जो, हे अंधे प्राणी हो, तुम जिस पदविषैं सोवौ हौ, सो तुमारा पद नाही है, तुमारा पद तौ चैतन्यस्वरूपमय है,तिसकूं प्राप्त होऊ,ऐसे सावधान करे है जैसे कोई महंत पुरुष मद पीयकरि मलिन जायगां सोता होय ताकूं कोईही आय जगावै कहै है-तेरी जायगा तो सुवर्णमय धातुकी अतिदृढ शुद्ध सुवर्णतैं रची अर बाह्य कजोडाकरि रहित शुद्धकरी ऐसी है। सो हम बतावै हैं, तहां आव, तहां शयनादि करि आनंदरूप होऊ। तैसे इहां भी श्रीगुरु उपदेश करि सावधान किया है, जो बाह्य तौ अन्यद्रव्यनिका मिलाप नाही, अंतरंग विकार नाही ऐसा शुद्ध चैतन्यरूप अपना भावका आश्रय करौ। दोय वार कहनेकरि अतिकरुणा अनुराग सूचे है ॥

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पद ।
अपदान्येव भासंते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ ७ ॥

सं० टी०—हीति व्यक्त,एकमेव तत्–प्रसिद्ध',पदं चैतन्यस्थान,पद्यते–गम्यतेज्ञायतेऽनेनेति पद–ज्ञान वा स्वाद्य –आस्वाद्य'ध्यानविपयीकर्तव्यमिति भाव:, विपदा–ससाराशर्मणा–अपद–अस्थानं, दुःखरहितत्वात् यत्पुरःचैतन्यधातुलक्षणस्थानाग्र , अन्यानि—पराणि, अनात्मस्वभावानि पदानि—व्रतादीनि, अपदान्येव अस्थानानि–अज्ञानस्वरूपाणि निश्चयेन भासते चकासति ॥ ७ ॥ अथात्मज्ञानयोरेकत्व नेनीयते–

अर्थ–सोही एक पद आस्वादने योग्य है। कैसा है ? विपद जो आपदा, तिनिका पद नाही है, जिस पदमें किछु भी आपदा प्रवेश नाही करे है। जाकै आगे अन्य सर्वही पद हैं ते अपद प्रतिभासे हैं। भावार्थ–एक ज्ञान ही आत्माका पद है, यामें किछूभी आपदा नाही, याके आगे अन्य सर्वही पद आपदास्वरूप आकुलतामय अपद भासे हैं ॥ फेरि कहै है, जो आत्मा ज्ञानका अनुभव करे है, तब ऐसे करे है–

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वाऽवस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकतां ॥८॥

सं० टी०—किल–इत्यागमोक्तौ, एप आत्मेत्यादि.–आत्मनश्चिद्रूपस्य—आत्मना–स्वरूपेण सहानुभव:–अनुभवन, तस्य अनुभाव.–प्रभाव', तेन–उपलक्षितोविशिष्टो वशः—ज्ञातृता, "वशा स्त्री करिणी च स्याद्दृग्ज्ञाने ज्ञातरि त्रिपु" इत्यनेकार्थः, सकल ज्ञान–आभिनिवोधिकश्रुतावधिमन.पर्यायकेवलं ज्ञान एकता एकत्व, नयति–प्राप्नोति, ज्ञानमात्मा चैक एव पदार्थ इत्येकता प्राप्नोति, किंभूत. ? समासादयन्–प्राप्नुवन्, क ? एकेत्यादि:–एक –अद्वितीय:, ज्ञायकभाव'–ज्ञातृस्वभाव', तस्य निर्भरः–अतिशयः, स एव महास्वादः, त । पुन. किंभूतः ? असह –अक्षम , किंस्तु द्वंद्वमया–आत्मक्रोधयोर्युग्मनिवृत्त्या स्वादं विधातुं–आस्वादयितुं, किं कुर्वन् ? स्वावस्तुवृत्तिं—स्वे–आत्मनि, अवस्तुन. क्रोधादे'–वृत्ति–वर्तना, विदन्—जानन् स्वां वस्तुवृत्तिमिति च क्वचित्पाठ –स्वकीया वस्तुवृत्ति—यथाख्यातचारित्रवृत्ति जानन् , पुन. किंकुर्वन् ? सामान्यं–पूर्वोत्तरविवर्तव्यत्येकत्वलक्षण ज्ञानस्वरूपमूर्च्छितासामान्य, कलयन्–कलना कुर्वन्, किंभूत तत् ? भ्रश्यद्विशेषोदय–भ्रश्यन्–गलन विशेषाणा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलरूपाणा, उदय –प्राकट्य यत्र तत् , सामान्ये विवक्षिते विशेपाणा विवक्षाभाव: ॥ ८ ॥ अथ सवेदनव्यक्तिमवनीस्वद्यते—

अर्थ–यह आत्मा है सो ज्ञानके विशेषनिका उदयकूं गौंण करता संता सामान्यज्ञानमात्रकूं अभ्यास करता संता समस्तज्ञानकूं एक भावकूं प्राप्त करै है। कैसा भया संता ? सो कहै हैं,एक ज्ञायकमात्र भावकरि भरया जो ज्ञानका महास्वाद ताकूं लेता संता है। बहुरि कैसा है ? द्वंदमय जो वर्णादिक रागादिक तथा क्षायोपशमरूपज्ञानके भेदरूप स्वाद,ताही करनेकूं लेनेकूं

असमर्थ हैं। ज्ञानहीमें एकाग्र होय तब दूजा स्वाद नाही आवै। बहुरि कैसा है ? अपनी जो वस्तूकी प्रवृत्ति ताही जानता है,आस्वादै है। जातै कैसा है ? आत्माका जो अनुभव,आस्वाद, ताके प्रभावकरि विवश हैं, तिसही स्वादके आधीन है–तहांतै चिगनेकूं असमर्थ है। अद्वितीय स्वाद लेता बाहरी काहेकूं आवै ? भावार्थ–इस एकस्वरूप ज्ञानके रसीले स्वादके आगैं अन्य-रस फीके हैं। अर भेदभाव सब मिटि जाय है। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्ततै हैं सो जब ज्ञानसामान्यका स्वाद ले तब सर्व ज्ञानके भेद भी गौण होय जाय हैं। एकज्ञानही ज्ञेयरूप होय है॥ इहां कोई पूछै, छद्मस्थकै पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसे आवै ? ताका उत्तर तौ पूर्वें कथन शुद्धनयका किया तहां ही भया। जो शुद्धनय आत्माका शुद्ध पूर्णरूप जनावै है, सो इस नयके द्वारे पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आवै है ऐसे जानना ॥८॥

विशेष-संस्कृत टीकाकारने 'स्वां वस्तुवृत्तिं' का अर्थ 'अपनी निज चारित्रवृत्तिको' किया है और 'स्वावस्तुवृत्तिं' का 'अपनेमें परपदार्थ क्रोध आदिकी विद्यमानताको' यह अर्थ किया है।

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः॥ ९ ॥

सं॰ टी–वल्गति–उल्लसति, कः ? स एषः, चैतन्यरत्नाकरः–चैतन्यमेव रत्नं–मणिः तस्य आकरः–स्थानं आत्मा पक्षे समुद्रः,काभिः ? उत्कलिकाभिः–ऊर्ध्वांशैः–ज्ञानलक्षणैः, पानीयलक्षणैर्वा सवेदनशक्तिभिः,अन्यत्र ऊर्मिभिरित्यर्थः, किंभूतः ? अद्भुतनिधिः–अद्भुताः, आश्चर्यदाः, निधयः ज्ञानादिरूपा वा यत्र सः, पुनः–अभिन्नरस –अभिन्नः भेत्तुमशक्यः, रसो यत्रोभयत्र स भगवान्—भग ज्ञान पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान् 'भगं श्रीज्ञानमाहात्म्यवीर्यप्रयत्नकीर्तिषु' इत्यनेकार्थः, एकोपि–आत्मत्वसामान्येन समुद्रत्वेन चाद्वितीयोऽपि, अनेकीभवन्–मतिश्रुतादिज्ञानेन मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी पक्षे पूर्वापरादिभागेन–पूर्वसमुद्रः पश्चिमसमुद्रः इत्यादिरूपेणानेकतां भजन्, कुतः ? यत् यस्मात्कारणात् यस्य- आत्मनः संबंधिन्यः इमाः–संवेदनव्यक्तयः, ज्ञानविशेषाः—मतिज्ञानादयः, स्वयं स्वतः, उच्छलति—उत्कर्षं गच्छति, अन्या अपि जलव्यक्तयः उच्छलति, किंभूताः ? अच्छाच्छाः—निर्मलपदार्थनैर्मल्यान्निर्मलाः, उत्प्रेक्षा दर्शयति–अत उत्प्रेक्ष्यते–निष्पीतेत्यादि–निष्पीतं–क्रोडीकृत ज्ञायकस्वभावेन अखिलभावाना–समस्तज्ञानज्ञेयपदार्थानां मंडल समूहः,स एव रसः—अनुभवस्वभावः, पानीयं वा स चासौ रसश्चेति वा मदिरारूपो रस मदहेतुत्वात् तस्य प्राग्भारः—पूर्वातिशयः, तेन मत्ताः–मदं नीताः, इव–यथा केचित् मैरेयमत्ता उच्छलंति तथा एता अपि ॥ ९ ॥ अथ ज्ञानान्येषां कर्मणां क्लेशत्वमाकर्णोति—

अर्थ–जिस आत्माकी जो ए संवेदनकी व्यक्ति कहिये अनुभवमें आवते ज्ञानके भेद हैं, ते निर्मलतै निर्मल आपैआप उछलै है-प्रगट अनुभवमें आवै हैं। कैसे हैं ते ? निष्पीत कहिये पीया जो समस्तपदार्थनिका समूहरूप रस, ताका प्राग्भार कहिये बहुतभार, ताकरि मानूं

भांतीही है। सो यह भगवान् चैतन्यरूप रत्नाकर समुद्र, सो उठती जे लहरी तिनिकरि आप अभिन्न है रस जाका ऐसा एक है तौऊ अनेकरूप होता दोलायमान प्रवर्ते है। कैसा है? अद्भुत हैं निधि जाका ॥ भावार्थ—जैसा समुद्र है सो बहुत रत्ननिकरि भरया होय है, सो एक जलकरि भरया है, तौऊ तामैं निर्मल छोटी बडी अनेक लहरी उठै हैं, ते सर्व एकजलरूपही हैं। तैसा यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एकही है, यामैं अनेक गुण हैं अर कर्मके निमित्ततैं ज्ञानके अनेक भेद आपैआप व्यक्तिरूप होय प्रगट होय हैं,ते व्यक्ति एकज्ञानरूपही जाननी—खंडखंडरूप नाही अनुभव करनी ॥ ९ ॥ अब और विशेषकरि कहै हैं—

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते नहि ॥१०॥

स० टी०—केचित् स्वयमेव गुरूपदेशादिना विना क्लिश्यतां—क्लेशं कुर्वंतां, कैः ? दुष्करतरैः—दुःसाध्यैः, कर्मभिः—शीतातापनवर्षायोगप्रतिक्रमणादिक्रियाभिः, किंभूतैः ? मोक्षोन्मुखैः—कर्ममोचनं प्रति सन्मुखैः—निर्जराहेतुत्वात्, च—पुनः, परे—पुरुषाः, चिरं—दीर्घकालं, क्लिश्यतां—कायादिक्लेशं कुर्वंतां, किंभूताः संतः ? भग्नाः संतः, केन ? महेत्यादि—महाव्रतानि—अहिंसादीनि, तपांसि—अनशनादीनि, तेषां भारः, तेन, कर्मणां महाव्रतादिभिः निर्जरासद्भावेऽपि ततो बहुतरकर्मास्रवं ज्ञानाभावात्, हीति—यस्मात् कथमपि—केनापि प्रकारेण ज्ञानगुणं—ज्ञानं महात्म्यं विना, प्राप्तुं—मोक्षमवाप्तुं, न क्षमते—न समर्था भवंति। ततः साक्षात्—प्रत्यक्षं, इदं ज्ञानं आत्मपरिज्ञानं मोक्षः तदन्यतमस्य तत्रानुपलभ्यमानत्वात् किंभूतं ? निरामयपदं—निर्गतं आमयं—रोगं, उपलक्षणात् क्षुत्तृष्णाजन्मजरामरणाधिदुःशर्मास्वाध्योद्वेगादिर्गृह्यते यस्मात्तत्पदं स्थानं, स्वयं स्वेन—आत्मना संवेद्यमानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण ज्ञायमानं ॥ १० ॥ अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्वं प्रथयति—

अर्थ—केई तो कठिन दुःखकरि करे जांय ऐसे मोक्षतैं पराङ्मुख कर्म तिनिकरि स्वयमेव जिन आज्ञाविना क्लेश करो, अर केई पर कहिये मोक्षके सन्मुख कथंचित् जिनाज्ञामैं कहे ऐसे महाव्रत तथा तपके भारकरि बहुतकालपर्यंत भग्न भये पीडित भये कर्मनिकरि क्लेश करो, तिनि कर्मनितैं तौ मोक्ष होय नाहीं। जातैं यह ज्ञान है, सो साक्षात् मोक्षस्वरूप है अर निरामय पद है-जामैं किछू रोगादिकका क्लेश नाही है अर आपहीकरि आप वेदनेयोग्य है सो ऐसा ज्ञान तौ ज्ञानगुणविना कोईही प्रकारके कष्टकरि पावनेकूं समर्थ न हूजिये हैं। भावार्थ—ज्ञान है सो साक्षात् मोक्ष है, सो ज्ञानहीनैं पाइये है अन्य किछू क्रियाकर्मकांडतैं न पाइये है ॥१०॥

विशेष—पं० जयचंद्रजीने 'मोक्षोन्मुखैः' को कर्मभिः' का विशेषणकर मोक्षके पराङ्मुख

कर्मोंसे' यह अर्थ किया है और भट्टारक शुभचंद्रजीने कर्मका शीत आतप आदि खुलासा अर्थकर और उसका मोक्षोन्मुखैः विशेषणकर मोक्षके सन्मुख, यह अर्थ किया है तथा जिन आज्ञाके बाह्य शीत आदि कर्म मोक्षके सन्मुख कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान भी यह दिया है कि शीत आदि दुखोंके सहनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

सं० टी०—ननु-इति वितर्के, किलेति—निश्चितं इदं पदं मोक्षलक्षणं कर्मदुरासदं कर्मणा क्रियाकांडतपश्चरणादिना दुरासदं दुष्प्राप्यं ततः-तस्मात्कारणात् जगत्-त्रिभुवनं, इदं पदं, कलयितुं-अवगाहयितुं यततां—यत्नं कुरुतां, कुतः? निजेत्यादिः-निजबोधः-स्वात्मज्ञानं, तस्य कला-कलनं, तस्य बलं-सामर्थ्यं, तस्मात्, कुतस्तत्र यत्नं ? यत इदं पदं सहजेत्यादि—सहजबोधः—स्वस्वरूपज्ञानं तस्य कला-कलनं-अभ्यसनं तया सुलभं सुप्रापं ॥ ११ ॥ अथ ज्ञानिनोऽपरस्याकिंचित्करत्वं युनक्ति-

अर्थ—अहो भव्यजीव हो ! यह ज्ञानमय पद है सो कर्मकरि तो दुष्प्राप्य है, बहुरि स्वाभाविकज्ञानकी कलाकरि सुलभ है, यह प्रगटकरि निश्चय जाणो। तातैं अपने निजज्ञानकी कलाके बलतैं इस ज्ञानका अभ्यास करनेकूं समस्त जगत् अभ्यासका यत्न करो। भावार्थ—सकलकर्मकूं छुडाय ज्ञानका अभ्यास करनेका उपदेश कीया है। बहुरि ज्ञानकी कला कहने करि ऐसा सूचै है, जो, जेतैं पूर्णकला प्रगट न होय, तेतैं ज्ञान है सो हीनकलास्वरूप है-मतिज्ञानादिरूप है। तिस ज्ञानकी कलाके अभ्यासतैं पूर्णकला जो केवलज्ञान संपूर्णकला सो प्रगट होय

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १२ ॥

सं० टी०— अन्यस्य-परद्रव्यस्य परिग्रहेण-ममत्वरूपांगीकारेण, ज्ञानी—सुज्ञः, किं विधत्ते ? न किमपि तत्र ममत्वाभावात्, कुतः ? यस्मात्कारणात् एष ज्ञानी—आत्मा, सर्वेत्यादिः-सर्वार्थैः सिद्धः-निष्पन्नः, आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावः तत्ता तया, विधत्ते स्वकार्यं करोतीत्यर्थः. किंभूतः ? अचिंत्यशक्तिः-अचिंत्या-चिंतितुमशक्या शक्तिः-सामर्थ्यं यस्य सः, स्वयमेव-स्वरूपेणैव, देवः दीव्यति-क्रीडति स्वस्वरूपेणेति देवः, पुनः किंभूतः ? चिदित्यादिः-चैतन्यनिर्वृत्तचिंतामणिः ॥ १२ ॥

अर्थ-जातैं यह चैतन्यमात्रही है चिंतामणि जाकै ऐसा ज्ञानी है। सो स्वयमेव आप देव है। कैसा है ! अचिंत्य कहिये काहूके चिंतवनमें न आवै ऐसी है शक्ति जामैं। सो ऐसा ज्ञानी सर्व प्रयोजन जाकै सिद्ध हैं ऐसे स्वरूप भया अन्यके परिग्रहकरि कहा करै ? किछूही करना नाहीं ॥ भावार्थ—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अनंतशक्तिका धारक वांछितकार्यकी सिद्धि करनेवाला आपही देव है। तातैं सर्व प्रयोजनके सिद्ध पणाकरि ज्ञानीके अन्यपरिग्रहके सेवनेकरि कहा

साध्य है ? यह निश्चयनयका उपदेश जानूं ॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः॥१३

सं० टी०—भूय—पुनः, अधुना-इदानीं,—सप्रति, अय-ज्ञानी तमेव-परिग्रहमेव, परिहर्तुं—त्यक्तुं, प्रवृत्त.-सोद्युक्तो बभूव, विशेषात्-पूर्वं ज्ञानभावेन विमुक्तोपधिरपि इदानीं पुनर्विशेषत, किंभूतः ? उज्झितुमना.—उज्झितुं त्यक्तुं, मन-चित्त, यस्य स, किं ? अज्ञान-अहमस्य ममेद रूपमज्ञान, किंभूत ? स्वपरयोः-जीवपुद्गलयो अविवेकहेतु—अविवेकस्य-अविवेचनस्य, हेतु-कारण, किंकृत्वा ? इत्थ-नाहमस्य नेद मम, अहमेव मम स्व, अहमेव मम स्वामीत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण, सामान्यत -स्वपरपरिग्रहस्य भेदविवक्षामतरेण, समस्तमेव—चेतनाचेतनादिक, उपधि अपास्य परिग्रह त्यक्त्वा, ॥ १३ ॥ अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्वमुल्लिखति—

अर्थ—या प्रकार परिग्रहकूं सामान्यकरि समस्तहीकूं छोडिकरि, अब आप अर परका अविवेकका कारण अज्ञानकूं छोडनेका है मन जाका, ऐसा जो यह ज्ञानी, सो तिस परिग्रहकूं विशेषकरि न्यारा न्यारा परिहार करनेकूं फेरि प्रवर्तें है। भावार्थ—जातैं स्वपरका एकरूप जाननेका कारण अज्ञान है, ताहीतैं परद्रव्यका परिग्रहण है। तातें ज्ञानीकै परिग्रहका त्याग करनो कह्या ॥ १३ ॥

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावं ॥ १४ ॥

सं० टी०—यदि-यदा, ज्ञानिन पुम, उपभोगः-कर्मोदयजनितसुखदु खादिनोवमोद्युपभोग, भवति-अस्ति, कुत ? पूर्वेत्यादि.—पूर्व-ज्ञानावस्थात. प्राग्बद्धानि-योगकषायवशादात्मसात्कृतानि तानि च तानि कर्माणि च तेपा विपाक—उदयः, तस्मात् तत्-तर्हि, भवतु-अस्तु, उपभोग, अथ च उपभोगकथनादनंतरं नून—निश्चित ज्ञानिन उपभोग इत्याध्याहार्यं, परिग्रहभाव कर्मबंधनाद्युपाधिस्वभाव नैति-न प्राप्नोति, कुतः ? रागवियोगात्—रागस्य-ममत्वादिपरिणामस्य वियोग.—राहित्य तस्मात्, कर्मोदयोपभोगस्तावत् ज्ञानिन. अतीतो न स्यात् प्रनष्टत्वात् प्रत्युत्पन्नानागतौ न स्तः, तत्र ममत्वाभावात् इति तात्पर्यं ॥ १४ ॥ अथ विरक्ति गृह्णाति—

अर्थ—ज्ञानीकै जो पूर्वें बंधे अपने कर्मका विपाक कहिये उदयतैं उपभोग होय है, सो होऊ परंतु रागके वियोगतैं निश्चयतैं सो उपभोग परिग्रहभावकूं नाहीं प्राप्त होय है ॥ भावार्थ—पूर्वैं बंधे कर्मका उदय आवै तब उपभोगसामग्री प्राप्त होय, ताकूं अज्ञानमय रागभावकरि भोगवै तब तौ सो परिग्रहभावकूं प्राप्त होय सो ज्ञानीकै अज्ञानमय रागभाव नाहीं है। उदय आया है, ताकूं भोगवै है। यह जानैं है—जो पूर्वैं बांध्या था उदय आय गया, पिंड छूटया, आगामी नाहीं वांछूं हैं। ऐसैं तिनिकै रागरूप इच्छा नाहीं, तब ते परिग्रह भी नाहीं ॥

विशेष—संस्कृत टीकाकारने इस श्लोकका भाव यह लिखा है कि—ज्ञानीके अतीत कर्मोंका उपभोग इसलिये नहिं होता कि वे नष्ट होगये और वर्तमान एवं भविष्यत् कर्मोंका उपभोग उनमें ममत्व न होनेसे नहिं होता ॥ १४ ॥

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१५॥

सं० टी०—तेन-कारणेन, विद्वान्-धीमान्, किंचन-किमपि, शुभाशुभं न कांक्षति-आकांक्षाविषयं न करोति, अपि पुन. विद्वान् सर्वतः-संसारदेहभोगतः, अतिविरक्ति-अतिवैराग्यं, उपैति-भजते-प्राप्नोतीति यावत्. तेन केन ? येन खल्विति वाक्यालङ्कारे कांक्षित-वाञ्छित भावं, न वेद्यते-नानुभूयते, कुतः ? वेद्येत्यादि.-वेदनयोग्यो वेद्य., वेद्यते अनेनेति वेदक, तौ च तौ विभावौ च तयोश्चलत्वं-क्षणिकत्वं तस्मात् । तथाहि-यौ वेद्यवेदकभावौ तौ क्षणिकौ स्त. विभावभावानामुत्पन्नप्रध्वंसित्वात् अथ च यो भाव. वेद्य भावं वेदयते स वेदको यावद्भवति तावत्काद्यो वेद्यो भावो नश्यति तद्विनाशे वेदकभाव कि वेदयते ? अथ काद्यवेद्यभावानन्तरभाविनमपरं भावं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेदको नश्यति तदा को वेदयते ? अथ वेदकभावानन्तरभावी भावोऽपरस्त वेदयते तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो नश्यति स कि वेदयते इति चलत्वान्न कांक्षति ॥ १५ ॥ अथ ज्ञानिनोऽपरिग्रहित्वं चेतति—

अर्थ—वेद्यवेदकभाव है ते कर्मके निमित्ततैं होय है। तातैं ते स्वभाव नाहीं, विभाव हैं, बहुरि चलायमान हैं, समय समय विनसे हैं। तातैं वांछितभावकूं नाहीं वेदीये हैं। तिस कारणकरि विद्वान् ज्ञानी है सो किछूभी आगामी भोग नाहीं वांछै है। सर्वहीतैं अतिविरक्तभाव वैराग्यभावकूं प्राप्त होय है॥ भावार्थ—अनुभवगोचर जो वेद्यवेदक विभाव तिनिहींकि कालभेद है, तातैं मिलाप नाहीं, विथि मिले नाहीं तब आगामी बहुत कालसंबंधी की वांछा ज्ञानी काहेकूं करै ?

ज्ञानिनो नहि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतेव हिं बहिर्लुठतीव ॥ १६ ॥

सं० टी०—हि-निश्चितं. ज्ञानिन.-पुंस, कर्म परिग्रहभाव स्वपरिग्रहभाव नैति-न प्राप्नोति, कया ? रागेत्यादि.-रागः-रसिकत्वं, तेन रिक्तस्तस्य भावस्तया हीत्यत्रार्थान्तरोपन्यासे इह-लौकिक्युक्तौ, रंगयुक्ति:-लोहितादिरागयोग, अकषायितवस्त्रे-विभीतकादिकषायद्रव्यैरकषायीकृते चीवरे स्वीकृता-गृहीता-आरोपिता. रंगयुक्ति.-लोहितरागयोगः, बहिर्लुठति अन्तर्भेत्तुमशक्यत्वात्कषायरागादिकारणाभावात् ॥ १६ ॥ अथ ज्ञानिन कर्म न लिपति—

अर्थ—ज्ञानी तिनि परिग्रहभावनिकरि रिक्त है रहित है अर ज्ञानी रागरूपी रसकरिभी रिक्त है रहित है। तिसपणाकरि कर्म है सो परिग्रहभावकूं नाहीं प्राप्त होय है॥ जैसे लोद फिटकडीकरि कसायला न किया जो वस्त्र ताविषैं रंगका लगना है, सो अंगीकार न भया संता बाह्यही

छुटै हैं, वस्त्रमाही प्रवेश नाही करै है ॥ भावार्थ-जैसे लोद फिटकडी लगायेविना वस्त्रकै रंग चढै नाही, तैसे ज्ञानीकै रागभावविना कर्मका उदयका भोग नाही, सो परिग्रहपणाकूं नाही प्राप्त होय है ॥१६॥ फेरि कहै हैं-

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १७ ॥

सं० टी०—तत-तस्मात्कारणात, एप.-ज्ञानी, सकलकर्मभि-समस्तद्रव्यभावनोकर्मभि, न लिप्यते-नोपदह्यते, नाश्रयत इत्यर्थ, कीदृशोऽपि कर्ममध्यपतितोऽपि-कर्मणा-उदयादिरूपाणा मध्ये-अत पतितोऽपि अपिशब्दात्तत्रापतितस्य कथ बधः । यथा कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेप । कुत. ? यत. यस्मात्कारणात, स्वरसतोऽपि-स्वभावत एव, ज्ञानवान् पुमान् सर्वेत्यादि-सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेपमोहा. तेपा रस., तस्य वर्जने शील स्वभावो यस्य स, ईदृगिव स्यात-भवेत् ॥ १७ ॥ अथ वस्तुस्वभाव निर्णयेनेक्ति—

अर्थ-जातैं ज्ञानवान है सो अपने निजरसहीतैं सर्व रागरसकरि वर्जित स्वभाव है । तातैं कर्मकै मध्य पड्या है तौऊ समस्तकर्मकरि नाही लिपै है ॥

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत् संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १८ ॥

सं० टी०—इह-जगति, यस्य-वस्तुन., यादृक्-यादृश., स्वभावः-स्वरूप अस्ति-वर्तत, हीति स्फुट तस्य वस्तुनः, वशतः-ज्ञानस्य नियमवशाद्वा तादृक्-तादृश एव स्वभावो भवेत-नान्यथा । हीति-यस्मात यः-एप स्वभाव स परै.-अन्यपदार्थै., कथचनापि-केनापि प्रकारेण देशातरे कालातरे द्रव्यातरमयोगे, अन्यादृश.-अन्यस्वभावसदृश., कर्तुं न शक्यते । हीति यस्मात सतत-निरंतर, कदाचनापि-कस्मिन्नपि काले भवत-विद्यमान, ज्ञान-बोधः, अज्ञान न भवेत-न जायेत, हे ज्ञानिन् ! भुंक्ष्व-परद्रव्यमनुभव, कुत ? यतः,-इह-जगति परेत्यादि-परेषा-पुद्गलद्रव्याणा, अपराधः-आगः तेन जनितः-उत्पादित, तव-ज्ञानिनः बंध.-कर्मबंध.-नास्ति न भवत्येव ॥ १८ ॥ अथ ज्ञानिन. कर्मक्रिया प्रतिरुणद्धि—

अर्थ-जिस वस्तुका जैसा इसलोकमे जो स्वभाव है, ताका तैसाही स्वाधीनपणा है, यह निश्चय है । सो तिसस्वभावकूं अन्य कोऊ अन्यसारिखा कीया चाहै, तो कदाचित्हू अन्यसारिखा करिसकै नाही । इस न्यायतैं ज्ञान है सो निरंतर ज्ञानस्वरूपही होय है । ज्ञानका अज्ञान कदाचित भी होय नाही है, यह निश्चय है । तातैं हे ज्ञानी, तं कर्मकै उदयजनित उपभोगकूं भोगि । तेरै परकै अपराधकरि उपज्या ऐसा इस लोकमे बंध नाही है ॥ भावार्थ-वस्तुस्वभाव मेटनेकूं कोई समर्थ नाही, यह निश्चयनय है । तातैं ज्ञानीकूं कह्या है, जो, तेरै परकै कीये

अपराधतैं तौ बंध नाही है, तौ तू उपभोगकूं भोगि । उपभोगनिके भोगनेकी शंका मति करै । शंका करैगा तौ परद्रव्यतैं बुरा होना माननेका प्रसंग आवेगा । ऐसैं परद्रव्यतैं अपना बुरा माननेकी शंका मेटी है । ऐसा मति जानू—जो, भोग भोगनेकी प्रेरणाकरि स्वच्छंद कीया है । स्वेच्छाचारी होना तौ अज्ञानभाव है, सो आगे कहेंगे ॥१८॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्ष्ये हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवं ॥ १९ ॥

स० टी०—हे ज्ञानिन् ! जातु-कदाचित्, तव किंचित्-किमपि, कर्म-शुभाशुभलक्षणं कार्यं, कर्तुं-विधातु, उचित-युक्त न तथापि-कर्माचरूं रवेऽपि, उच्यते-अस्माभि किंचित् प्रतिपाद्यते यदि-चेत्, जातु-कदाचित्, मम कर्म न हत इति निश्चयेन भुदये कर्मफलं भुदयामि तर्हि भो ज्ञानिन् ! पर-केवलं, दुर्भुक्त एव बाधनमतरेण तत्फलानुभवनाद् दुर्भोजक., असि भवसि न तु अस्माक तत्फलानुभवनात्कर्मबाध इति यदि-उपभोगतः-कर्मफलानुभवनात्, बंधः-कर्मसंश्लेपः, ते न स्यात्-न भवेत्, तत् तर्हि ते तव कामचारः कामं चरतीति कामचारः-स्वेच्छाचारः किमस्ति अपि तु नास्ति, हे ज्ञानिन् ! ज्ञानं सन्-ज्ञानस्वरूपेण भवन् सन्, वस-तिष्ठ, अपरथा-अन्यथा-ज्ञानस्वरूपेण न स्थास्यसि चेत् ? तदा ध्रुवं-निश्चितं, बंधं कर्म-संश्लेष-एषि-प्राप्नोपि कुत. ? स्वस्य-आत्मनः—अपराधात्-ज्ञानाभावलक्षणदोषतः ॥ १९ ॥ अथ कर्मयोजन वियोजयति—

अर्थ—ज्ञानीकूं संबोधै हैं, जो, हे ज्ञानी, तोकूं कर्म कदाचित् किछू भी करना योग्य नाही है । तोऊ तू कहै, जो पर द्रव्य मेरा तो कदाचित् भी नाही है, अर मैं भोगऊ हौं । तौ आचार्य कहै है-यह बडा खेद है, जो तेरा नाही ताकूं तू भोगवै है ! ऐसा तौ तू दुर्भुक्त है-खोटा खानेवाला है ॥ रे भाई, जो तू कहै—परद्रव्यके उपभोगतैं बंध न होय है ऐसा कह्या है, तातैं भोगऊं हौं । तहां तेरे कहा कामचार है ? भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूपहुवा संता अपने स्वरूपमें निवास करै तौ बंध नाहि है अर भोगनेकी इच्छा करेगा, तौ तू आप अपराधी भया, तब अपने अपराधतैं नियमकरि बंधकूं प्राप्त होयगा ॥ भावार्थ—ज्ञानीकूं कर्म तो करना ही उचित नाही है । अर जो परद्रव्य जानिकरि भी ताकूं भोगवै, तौ योग्य नाही । परद्रव्यका भोगनेवालाकूं तौ लोकमें चोर अन्यायी कहैं॥ बहुरि उपभोगतैं बंध न कह्या है, सो तौ ज्ञानी विनाइच्छा परकी बरजोरीसूं उदय आयाकूं भोगवै ताकै बंध न कह्या है । अर आप जो इच्छाकरि भोगवेगा तौ आप अपराधी भया, तब बंध क्यों न होयगा ? ॥१९॥ आगै फेरि इसही अर्थको दृढ करनेकूं काव्य कहै है—

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बद्ध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥२०॥

स० टी०—किल-इत्यागमोक्तौ यत्-प्रसिद्धं कर्म, बलात्-हठात्, एव-निश्चयेन, स्वफलेन-स्वस्य स्वकार्यस्य, फलेन-सुखदुःखरूपेण, कर्तारं-पुरुषं, न योजयेत्-न संयोजयेत्-स्वफलभाजिनं न कुर्यात् इत्यर्थः, तर्हि कथं फलं प्राप्नोति ? हीति स्फुटं, यत्कर्म, कुर्वाणः—चेक्रीयमाणः सन् पुरुषः, कर्मणः-शुभाशुभप्रकृतेः, फलं-सुखदुःखरूपं, प्राप्नोति-लभते, हेतुगर्भितविशेषणमाह-फललिप्सुरेव,—फलं कर्मणः सुखदुःखरूपं फलं, लिप्सुः-लब्धुं-प्राप्तुमिच्छुरेव, नान्यः, तत्-तस्माद्धेतो ज्ञानं—ज्ञानस्वरूपं सन् भवन् कर्मणा न बध्यते, किंभूतः सन्, अपास्तेत्यादि —अपास्ता—निराकृता रागस्य रचना येन सः, हीति स्फुटं कर्म क्रियाकाण्डं, ज्ञानावरणादि-वा, कुर्वाणोऽपि वा निर्मापयन्नपि अकुर्वाणस्य का कथा ? मुनिः-ज्ञानवान् यतिः, तदित्यादिः—तेषां कर्मणां फलं अनुभागं, तस्य परित्यागे एक-अद्वितीयः, शीलं-स्वभावो यस्य सः, रागद्वेषाभावात् ॥२०॥ अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते—

अर्थ—निश्चयकरि यह जानो—जो कर्म है सो अपने करनेवाले कर्ताकूं अपना फलकरि बरजोरीतैं तौ नाहीं जोडै है जो मेरा फलकूं तू भोगि । जो कर्मकूं करता संता तिस फलका इच्छुक हुवा करे है, सोही तिस कर्मका फल पावै है ॥ तातैं ज्ञानरूप हुवा संता कर्मविषैं दूरी भया है रागकी रचना जाकी ऐसा मुनि है, सो कर्मकूं करता संता भी, कर्मकरि नाहीं बंधै है । जातैं कैसा है यह मुनि ? तिस कर्मके फलका परित्यागरूपही है एकस्वभाव जाका ॥ भावार्थ—कर्म तो कर्ताकूं जबरीतैं अपना फलतै जोडै नाहीं । अर जो कर्मकूं करता संता, ताका फलकी इच्छा करै, सोही ताका फल पावै है ॥ तातैं जो ज्ञानी ज्ञानरूप हुवा प्रवर्तै अर कर्मके करने विषैं राग न करै अर तिसके फलकी आगामी इच्छा न करै सो मुनि कर्मकरि बंधै नाहीं है ॥

अब इहां आशंका उपजी है—जो फलकी वांछाविना कर्म काहेकूं करै ? ऐसी आशंका दूरि करनेकूं काव्य कहे हैं—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

सं० टी०—इति-एवं, वयं-ज्ञानार्थिन, प्रतीम -प्रतीति कुर्मः, इति किं ? येन ज्ञानिना पुंसा, फलं-कर्मानुभाग', त्यक्त ज्ञानभावाद्विमुक्तं, सः-ज्ञानी, कर्म क्रियाकाण्ड ज्ञानावरणादि वा न कुरुते न विधत्ते, किन्तु विशेषोऽस्ति अस्यापि ज्ञानिनोपि, कुतोऽपि बहिरभ्यन्तरकारणकलापात्, अवशेन अनीहितवृत्त्या, तत्प्रसिद्धं किंचिदपि अनिर्दिष्टं, शुभाशुभ, कर्म, आपतेत् आगच्छेत्, तु पुन. तस्मिन् कर्मणि, आपतिते उदयागते सति, ज्ञानी पुमान् तत्परिहारार्थं किं कर्म क्रियाकाड, कुरुते विधत्ते अथवा किं न कुरुते किं न विधत्ते, इति एवं, कर्तव्याकर्तव्यं, कः अपर', पुरुष जानाति वेत्ति तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, किंभूतो ज्ञानी ? अकंपेत्यादिः अकंप केनापि चालयितुमशक्यत्वात् अचल, परम उत्कृष्ट, तच्च तज्ज्ञानं च तस्य स्वभावे स्वरूपे स्थितः लयं प्राप्त' ॥ २१ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेः माहात्म्यं कलयति—

अर्थ-जाणैं कर्मका फलकूं छोडया अर कर्मकूं करै है यह तौ हम नाही प्रतीतिरूप करैं हैं, परन्तु यामैं किछू विशेष है-जो,या ज्ञानीकै भी कोई कारणतैं किछू जो कर्म याके वशविना आय पडै है, ताकूं आय पडते संते भी यह ज्ञानी निश्चल परमज्ञानस्वभावविषैं तिष्ठया किछू कर्म करै है कि नाही करै है यह कौन जाने ? भावार्थ-ज्ञानीकै परवशतैं कर्म आय पडै हैं, ताविषैं भी ज्ञानी ज्ञानतैं चलायमान न होय है। तहां यह ज्ञानी है सो, न जानिये कर्म करै है कि नाही करै है, यह कौन जानै ? ज्ञानीही ज्ञानीकी जानै। अज्ञानीका ज्ञानीके परिणामकूं जाननेकूं बल नाही इहां एसा जानना, जो ज्ञानी कहनेतैं अविरत सम्यग्दृष्टीतैं लगाय ऊपरके सर्वही ज्ञानी हैं, तहां अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशविरत तथा आहारविहार करते मुनि, तिनिकै बाह्यक्रियाकर्म प्रवर्तै हैं, तौऊ अंतरंगमिथ्यात्वके अभावतैं तथा ते यथासंभव कषायके अभावतैं उज्वल है। तातैं तिनिकी उजलाईकूं तेही जानैं हैं। मिथ्यादृष्टि तिनिकी उजलाईकूं जानैं नाही मिथ्यादृष्टि तौ बहिरात्मा है, बाह्यहीकूं बुरा मानै हैं अंतरात्माकी गति मिथ्यादृष्टि कहा जानै ? आगैं ज्ञानीकै निःशंकित नामा गुण होय है, ताकौं कहै है—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥२२॥

सं० टी०—क्षमंते—सहते-समर्था भवंतीत्यर्थः, किंकर्तुं ? इदं वक्ष्यमाणलक्षण साहसं-लक्षणया धैर्यं, के ? सम्यग्दृष्टय'—निश्चय सम्यक्त्व प्राप्ताः एव-निश्चयेन, किंभूतं साहसं ? परं-उत्कृष्ट पर केवलमिति व्याख्येय वा यत्-यस्मात् कारणात्, अमी-सम्यग्दृष्टयः, हि-निश्चितं, न च्यवते न क्षरते, कुतः ? बोधात्-ज्ञानात् उपलक्षणात् ध्यानतपोऽनुष्ठानादेः ज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्र वर्तंते क सति ? वज्रे अशनौ, पतति मूर्ध्नि पात कुर्वति सत्यपि किंभूते ? भयेत्यादि. भयेन तदुद्योपपाताद्युत्थभीत्या, चलत् स्वस्थानात् इतस्ततः परिलुठत् च तत्त्रैलोक्यं च भुवनत्रयवासी जनः, तेन मुक्त'—त्यक्तः, अध्वा—मार्गः, स्थानं च यस्मिन् तस्मिन्, किंभूता अमी स्वयं—स्वेन आत्मना,स्व—आत्मानं,जानन्तः—निश्चिन्वंतः, कीदृश स्वं ? अवध्येत्यादिः—अवध्याः

न केनापि हंतुं शक्यते, शाश्वत इत्यर्थः स चासौ बोधश्च स एव वपुः शरीरं यस्य स । किंकृत्वा ? विहाय, त्यक्त्वा, कां ? सर्वां—समस्तां, इहलोकादिभवां, एव–निश्चयेन शंका–पराशंकां, कया ? नीत्यादि.–निसर्गेण स्वभावेन निर्भयता–साध्वसाभावता तया ॥ २२ ॥ अथ भयसप्तकनिवारणार्थं ज्ञानिन इहपरलोकभयमुत्त्रस्यति–

अर्थ–यह साहस केवल एक सम्यग्दृष्टि हैं तेही करनेकूं समर्थ है । जो भयकरि चलायमान भया जो तीन लोकका जन, तिनने छोड्या है अपना मार्ग ज्याकरि ऐसा वज्रपात पडते संते भी अपने ज्ञानतैं नाहीं चलायमान होय है । कैसे हैं सम्यग्दृष्टि ? स्वभावहीकरि निर्भयपणातैं सर्वहीं शंका छोडिकरि अपना आत्माकूं ऐसा जानैं हैं–जो नाहीं वध्या जाय है ज्ञानरूप शरीर जाका ऐसा आपहीकरि जानते संते प्रवर्तैं हैं ॥ भावार्थ–सम्यग्दृष्टि निःशंकितगुणसहित होय है । सो ऐसा वज्रपात पडै, जो, जाके भयकरि तीन लोकके जन मार्ग छोडि दें तौऊ सम्यग्दृष्टि अपना स्वरूपकूं निर्बाध ज्ञानशरीर मानता ज्ञानतैं चलायमान न होय हैं । ऐसी शंका नाहीं ल्यावै है, जो, इस वज्रपाततैं मेरा विनाश होयगा पर्याय विनसै तौ याका विनाशीक स्वभावही है ॥२२॥

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्याऽस्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ २३ ॥

सं० टी०—एष–शास्त्रादिना प्रसिद्धः, लोकः—श्रेणिघनप्रचयरूपस्त्रिलोकः, शाश्वतः–नित्यः इतीश्वरकर्तृत्वं निरस्तं, अविनाशित्वं च सूचितं, एकः–अद्वितीयः, इत्यनेन ब्रह्मण प्रतिलोमानेकब्रह्माण्डप्रतिपादनं प्रत्याख्यातं, विविक्तात्मनः–सर्वज्ञस्य, सकलव्यक्तः–समस्तो विशदः, इत्यनेन तस्य गहनत्वं अपास्तं, अथ चित्–ज्ञानं स्वयमेव–स्वभावादेव यं प्रसिद्धं लोकं–भुवनत्रयं, केवलं–परं—लोकयति–पश्यति, कीदृक् ? एककः–शरीरदारदरकागाराहारादिनिरपेक्षः एक एव अयं–प्रत्यक्षः–चराचररूपो लोकः–लोकनिवासी जनः, त्रिलोको वा, इहलोक इत्यर्थः, अपरः–त्वत्तो भिन्नः, तव–ते, न भवेत्, तदपरः—तस्मादिह लोकादपरः–परलोकः तस्य–आत्मनः नास्ति तद्भीः –ताभ्यामिहपरलोकाभ्यां, भीः–भयं, कुतः –कस्मात् न कुतोऽपि तयोरात्मनो भिन्नत्वस्थापनात्, स ज्ञानी, सदा–नित्यं स्वयं स्वरूपेण, सहजं—स्वाभाविकं, ज्ञानं–बोधं, विंदति–जानाति, सततं निरंतरं, निश्शंकः–इहपरलोकभयशंकारहितः इति भयद्वयस्य ज्ञानिनो निरासः ॥ २३ ॥ अथ वेदनाभयं बध्नाति–

अर्थ–यह भिन्न आत्माका चैतन्यस्वरूप लोक है सो शाश्वत है, एक है, सकलजीवनिकै प्रगट है, जाकूं यह ज्ञानी आत्माही स्वयमेव एकाकी केवल अवलोकन करै है । तहां ज्ञानी ऐसैं विचारै है, जो यह चैतन्यलोक है सो तेरा है बहुरि तिसतैं अन्य लोक है सो परलोक है, तेरा

नाही। ऐसा विचारता तिस ज्ञानीकै इसलोक अर परलोकका भय काहेतैं होय ? नाही होय। तातैं सो ज्ञानी है सो निःशंक भया संता निरंतर आपकूं स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभवै है ॥ भावार्थ—जो इस भवतैं लोकनिका डर होय, जो यह लोक मेरा न जानिये कहा विगाड करेगा सो ऐसा तौ इहलोकका भय है ॥ बहुरि परभवमें न जानिये, कहा होयगा ? ऐसा भय रहै सो परलोकका भय है ॥ सो ज्ञानी ऐसैं जानै है-जो मेरा लोक तौ चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है यह सर्वकै प्रगट है बहुरि इस लोक सिवाय है सो परलोक है सो मेरा लोक तौ काहूका विगाडया विगडै नाही। ऐसैं विचारता ज्ञानी आपकूं स्वाभाविक ज्ञानरूप अनुभवै ताकै इसलोक का भय काहेतैं होय ? कदाचित् न होय ।। २३ ॥ वेदनाका भयका काव्य ।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥२४॥

सं० टी०—यत्-प्रसिद्धं ज्ञानं स्वयं वेद्यते-ज्ञायते, कैः ? अनाकुलैः-आकुलतारहितैः-ज्ञानिभिः एषा-प्रसिद्धा, एका-अद्वितीया, वेदना-वेद्यते ज्ञायते आत्मा अनया इति वेदना—आत्मानुभवं एव नान्या, किंभूतं ? अचलं-निश्चलं, पुनः कीदृशं ? एकं-द्रव्यार्पणात् तत्कुतः ? निरित्यादिः-वेद्यते ज्ञायत इति वेद्यं, स्वरूपं वेदयतीति वेदकः-आत्मा, द्वंद्वः, निर्भेदेन यो वेद्यः स एव वेदकः, इत्येकत्वेन उदितौ उदयं प्राप्तौ वेद्यवेदकौ तयोर्बलं तस्मात्, हि-स्फुटं, अन्य आत्मनः सकाशात् एव-निश्चयेन, आगतवेदना-पुद्गला-दागतवेदना रोगः, न भवेत् आत्मनो भिन्नत्वादेव ज्ञानिनः-पुंसः, तद्भीः-वेदनाभयं कुतः ? न कुतोऽपि, तुर्यं चरणं पूर्ववत् ॥ २४ ॥ अथात्राणभयं निरस्यति—

अर्थ—ज्ञानी पुरुषनिकै याही एक वेदना है जो निराकुल होयकरि आप अपना एक ज्ञान-स्वरूपकूं अपना ज्ञानभावहीतैं वेदनेयोग्य अर आपही वेदनेवाला ऐसा अभेदस्वरूप वेद्यवेदक भावके बलतैं निरंतर निश्चल वेदिये है-अनुभवन कीजिये है ॥ बहुरि ज्ञानीकै अन्यतैं आई ऐसी वेदना ही नाही है तातैं तिसकै तिस वेदनाका भय काहेतैं होय ? नाही होय। यातैं ज्ञानी निःशंक भया संता अपना स्वाभाविक ज्ञानभावकूं सदा निरन्तर अनुभवै है ॥ भावार्थ-वेदना नाम सुखदुःखकूं भोगनेका है सो ज्ञानीकै एक अपना ज्ञानमात्र स्वरूपका भोगना ही है। यह अन्यकरि आई वेदनाकूं ही नाही जानै है। तातैं अन्यागतवेदनाका भय नाही है तातैं सदा निर्भय भया ज्ञानका अनुभवन करै है ॥२४॥ अब अरक्षाका भयका काव्य कहै हैं-

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-

ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ २५ ॥

सं० टी०—इति-अमुना प्रकारेण, वस्तुस्थितिः-वस्तुव्यवस्था, व्यक्ता-स्पष्टा, इति किं ? यत्-वस्तु सत्-द्रव्यरूपेण सत्ताप्रतिबद्धं, तत्-वस्तु नियतं निश्चितं, नाशं—विनाशं, न उपैति—न प्राप्नोति, द्रव्यार्पणया वस्तुनो नित्यत्वाभ्युपगमात्, तत् प्रसिद्धं, ज्ञानं, स्वयमेव-स्वरूपत एव-स्वस्वरूपचतुष्टयापेक्षयैव न परचतुष्टयापेक्षया सत् सत्स्वरूपं-विद्यमानं किल-अहो ततः स्वरूपेणास्तित्वात् अपरैः—कोशेयककुंतमुद्गराश्वगजपदातिस्वजनादिभिः पुद्गलपर्यायैः, अस्य-ज्ञानस्य, किं त्रातं-त्राणं, किं रक्षणं न किमपीत्यर्थः अतः कारणात्, अस्य ज्ञानस्य किंचन-किमपि अत्राणं-कुतोऽपि रक्षणं न भवेत्, ज्ञानिनः तद्भीः-अत्राणभयं कुतः न कुतोऽपि शेषं पूर्ववत् ॥ २५ ॥ अथास्यागुप्तिभयं गोपयति—

अर्थ—ज्ञानी ऐसे विचारै है, जो, सत्स्वरूप वस्तु है, सो नाशकूं प्राप्त नाहीं होय है, यह नियमतें वस्तुकी मर्यादा है ॥ बहुरि ज्ञान है सो आप सत्स्वरूप वस्तु है, ताका निश्चयकरि अन्यकरि कहा राख्या ? तातैं तिस ज्ञानकै अरक्षा करनेस्वरूप किछू भी नाहीं है ॥ तातैं तिस अरक्षाका भय ज्ञानीकै काहेतैं होय है । ज्ञानी तौ अपना स्वाभाविक ज्ञानस्वरूपकूं निःशंक भया संता सदा आप अनुभवै है ॥ भावार्थ—ज्ञानी ऐसे जानै है, जो सत्तारूपवस्तुका कदाचित् नाश नाहीं अर ज्ञान आप सत्तास्वरूप है । सो याका किछू ऐसा नाहीं है—जाकी रक्षा कीयेै रहै, नातरि नष्ट होय जाय । तातैं ज्ञानीकै अरक्षाका भय नाहीं, निःशंक भया संता आप स्वाभाविक अपना ज्ञानकूं सदा अनुभवै है ॥२५॥ अब अगुप्तिभयका काव्य है—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपेण य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥२६॥

सं० टी०—किल—इत्यागमोक्तौ, वस्तुनः—आत्मादिद्रव्यस्य, यत् स्वं आत्मीयं, रूपं स्वरूपं, अस्ति-विद्यते, सा परमा निस्सीमा, गुप्तिः गोपनं स्वरूपांतरेण गोपनाभावात्, कोऽपि-कश्चिदपि, परः-पुद्गलादिः प्रवेष्टुं-ज्ञानस्वरूपे प्रवेशं कर्तुं, शक्तः—समर्थः, अपि तु न समर्थः, स्वरूपे स्वरूपांतरस्य प्रवेशाभावात्, च-पुनः, ज्ञानं नुः-आत्मनः अकृतं स्वाभाविकं-स्वरूपं स्वभावः, स्वरूपं द्वेधा-कृतमकृतं च कृतं तावन्मतिज्ञानादिस्वरूपमात्मनः दंडी देवदत्त इत्यादिवत् पुद्गलादिभिः क्रियमाणत्वात्, अकृतं—ज्ञानसामान्यं, अग्नेरौष्ण्यं च अतः कारणात् अस्य-आत्मनः, काचन—कापि, निर्दिष्टा वा, अगुप्तिः-अगोपनं न भवेत् तद्गोपकस्य चिद्भावात् तद्भीः—तस्या अगुप्तेः, भीः भयं, कुतः-न कुतोऽपि शेषं पूर्ववत् ॥ २६ ॥ अथ ज्ञानिनो मरणभयं हरति—

अर्थ—ज्ञानी विचारै है, जो वस्तूका निजरूप है सो ही परमगुप्ति है सो ताविषै पर है सो कोई भी प्रवेश करनेकूं समर्थ नाही है बहुरि ज्ञान है सो पुरुषका स्वरूप है सो अकृत्रिम है, यातैं याकै अगुप्ति किछू भी नाही है तातैं तिस अगुप्तिका भय ज्ञानीकै नाही है। याहीतैं ज्ञानी निशंक भया संता निरंतर आप स्वाभाविक अपना ज्ञानभावकूं सदा अनुभवै है॥ भावार्थ—गुप्ति नाम जामैं काहुका प्रवेश नाही ऐसा गूढ दुर्गादिकका है। तहां यह प्राणी निर्भय होय बसै ऐसा गुप्त प्रदेश न होय चौडा होय ताकूं अगुप्ति कहिये। तहां बैठे प्राणीकै भय उपजै॥ तहां ज्ञानी ऐसा जानै है, जो वस्तूका निजस्वरूप है, तामैं परमार्थकरि दूजे वस्तूका प्रवेश नाहीं, यहही परमगुप्ति है। सो पुरुषका स्वरूप ज्ञान है। तामैं काहुका प्रवेश नाही। तातैं ज्ञानीकै काहेतैं भय होय ? ज्ञानी अपना स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप कूं निःशंक भया संता निरंतर अनुभवै है।२६।

अब मरण भयका काव्य है—

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः संततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥ २७॥

सं० टी०—प्राणोच्छेदं-पचेंद्रियमनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणानां उच्छेदं-विनाशं, मरणं-पंचत्वं, उदाहरंति-प्रतिपादयंति पूर्ववृद्धा., आबालगोपालादयश्च, अस्यात्मन. चिद्रूपस्य, किल-निश्चितं, सत्तादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्द., ज्ञान-बोधः प्राणाः-असवः तत्-ज्ञानं-स्वयमेव-स्वरूपेणैव जातुचित् कदाचिदपि-कालत्रयेऽपि, नोच्छिद्यते-नोच्छेदं याति-द्रव्यार्पणया न विनश्यतीत्यर्थ., कया शाश्वततया-नित्यत्वात् अतः कारणात तस्य-आत्मनः. किंचन-किमपि,-मरणं-प्राणोच्छेदं न भवेत् ज्ञानलक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावात् ज्ञानिन -पुंस', तद्भी.-मरणभयं कुतः, न कुतोऽपि, शेषं पूर्ववत्॥ २७॥ अथाकस्मिकभयं कथयति—

अर्थ—ज्ञानी विचारै है, जो प्राणनिका उच्छेद होना, तिसकूं मरण कहै हैं। सो आत्माका ज्ञान है सो निश्चयकरि प्राण है सो स्वयमेव शाश्वता है, यातैं याका कदाचित् भी उच्छेद नाही होय है। यातैं तिस आत्माकै मरण किछूभी नाहीं है सो ज्ञानीकै ऐसे विचारतैं तिस मरणका भय काहेतैं होय ? तातैं सो ज्ञानी निःशंक भया संता, निरंतर अपना स्वाभाविक ज्ञानभावकूं आप सदा अनुभवै है। भावार्थ—इन्द्रियादिक प्राण विनसे ताकूं लोक मरण कहै हैं सो आत्माकै इन्द्रियादिक प्राण परमार्थस्वरूप नाही, निश्चयकरि ज्ञान प्राण है, सो अविनाशी है, ताका विनाश नाही। तातैं आत्माकै मरण नाही, यातैं ज्ञानीकै मरणका भय नाहीं। यातैं ज्ञानी अपना ज्ञानस्वरूपकूं निःशंक भया संता निरंतर आप अनुभवै है॥२७॥ अब आकस्मिक भयका काव्य है—

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ २८ ॥

स० टी०—किल इत्यागमोक्तौ यावत्पर्यंतं, तत्–प्रसिद्धं, एकं कर्मादिद्वितीयरहितं, ज्ञानं–बोधं, स्वतः स्वभावेन, सिद्धं निष्पन्नं कृतकृत्यं च, किं भूतं ? अनाद्यनंतं–उत्पत्तिविनाशरहितं, अचलं–अक्षोभ्यं, हि स्फुटं, तावत्पर्यंतं इदं–ज्ञानं, सदैव–अविच्छिन्नं भवेत्, अत्र–ज्ञाने, द्वितीयोदयः–सहसा द्वितीयस्य द्रव्यभवनायननाद्विदर्शनादिपौद्गलिकस्योदयः, न भवेत्, तत् तस्मात् कारणात् अत्र–आत्मनि किंचन–किमपि, आकस्मिकं–अकस्मात्–सहसा भवं आकस्मिकं भयं न भवेत् ज्ञानिनः पुंसः, तद्भीः—तस्य–आकस्मिकस्य, भीः–भयं कुतः; न कुतोऽपि, सः–ज्ञानी, निश्शंकः–सप्तभयशंकारहितः सन्, सततं–नित्यं, सहजं स्वाभाविकं, ज्ञानं, सदा नित्यं, विंदति–जानाति । इति ज्ञानिनः, इहपरलोकवेदनाऽत्राणागुप्तिमरणाकस्मिकभयसप्तकाभावात् सदा निर्जरैव ॥ २८ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेर्निर्जराप्रकारं प्रणीते—

अर्थ—ज्ञानी विचारै है जो ज्ञान है सो एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है, सो यह आपहीतैं सिद्ध है। सो जेते है तेतैं सदा सो ही है, या विषै दूजेका उदय नाहीं है, तातैं याविषै अकस्मात् नवा किछू उपजै ऐसा किछू भी नाहीं है। ऐसे विचारतैं तिस अकस्मात् होनेका भय काहेतैं होय ? नाहीं होय है यातैं सो ज्ञानी निःशंक भया संता निरंतर अपना स्वाभाविक ज्ञानस्वभावकूं सदा अनुभवै है। भावार्थ—जो कबहू अनुभवमें न आया ऐसा किछू अकस्मात् प्रगट हुआ भयानक पदार्थ, ताकरि प्राणीकै भय उपजै, सो आकस्मिकभय है। सो आत्माका ज्ञान है सो अविनाशी अनादि अनंत अचल एक है। सो याविषै दूजेका प्रवेश नाहीं, नवीन अकस्मात् कछू होय नाहीं, सो ऐसा ज्ञानी आपकूं जानै, तातैं अकस्मात् भय काहेतैं होय। तातैं ज्ञानी अपना ज्ञानभावकूं निःशंक निरंतर अनुभवै है। ऐसे सप्त भय ज्ञानीकै नाहीं है। इहां प्रश्न—जो अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकूं भी ज्ञानी कह्या है—भयप्रकृतिका उदय है, ताके निमित्ततैं भय भी देखिये है। सो ज्ञानी निर्भय कैसा है ? ताका समाधान—जो, भयप्रकृतिके उदयके निमित्ततैं भय उपजै है ताकी पीडा न सही जाय है तातैं अंतरायके प्रबल उदयतैं निर्बल है, तातैं तिस भयका इलाज भी करै है॥ परन्तु ऐसा भय नाहीं—जाकरि स्वरूपका ज्ञान श्रद्धानतैं चिगि जाय। बहुरि भय उपजै है सो मोहकर्मकी भयनामा प्रकृतिका उदयका दोष है, ताका आप स्वामी होय, कर्ता न बनै है ज्ञाता ही है ॥२८। आगे कहै है सम्यग्दृष्टिकै निःशंकित आदि चिह्न हैं ते कर्मकी निर्जरा करै हैं। शंकादिककरि कीया बंध नाहीं होय है ताकी सूचनिकाका काव्य है—

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥२९॥

सं० टी०—यत्-यस्मात्कारणात्, इह-जगति, घ्नंति-विनाशयंति, किं ? सकलं-सकलं, कर्म-मिथ्यात्वादि, कानि ? लक्ष्माणि-चिह्नानि-संवेगनिर्वेदनिंदागर्होपशमभक्तिवात्सल्यानुकंपालक्षणानि-निःशंकितादीनि वा, कस्य ? सम्यग्दृष्टेः-निश्चयसम्यक्त्वधारिणः किंभूतस्य ? टंकोदित्यादिः-टंकोत्कीर्णश्चासौ स्वरस-आत्मा, तस्य रसः-अनुभवः, तेन निचितं-युक्तं तच्च तज्ज्ञानं च तस्य सर्वस्वम्-साकल्यं भजति सेवते, इति टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाक् तस्य तत्-तस्मात्कारणात् कर्मघातनानंतरं तस्य ज्ञानिनः, पुनः-भूयः अस्मिन् पूर्वोक्तस्वरूपे मनागपि-एकांशेनापि, कर्मणः बंधः-संश्लेषः, नास्ति-न विद्यते तत् कर्म, पूर्वोपात्तं-पूर्वं-सम्यग्दृष्टेः प्राक् उपात्तं-बद्धं चानुभवतः सुखदुःखादिरूपेणाहुंजतः, निश्चितं नियमेन निर्जरैव-खलु निर्जरा भवत्येव कर्मणां ॥ २९ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेरंगानि लक्षयति—

अर्थ—जातें सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदि चिन्ह हैं ते समस्तकर्मकूं हनै हैं-निर्जरा करै हैं तातैं फेरि भी इसका उदय होतैं नवीन कर्मका किंचिन्मात्रभी बंध नाहीं होय है। जिस कर्मका पहले बंध भया था, ताकै उदयकूं भोगवता संताकै ताकी नियमकरि निर्जराही होय है ॥ कैसा है सम्यग्दृष्टि? टंकोत्कीर्णवत् एकस्वभावरूप जो अपना निजरस, तिसकरि परिपूर्ण भया जो ज्ञान, ताका सर्वस्वका भोगनहारा है-आस्वादक है ॥ भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पहलें भयादि प्रकृति बांधी थी ताका उदयकूं भोगवै है, तोऊ ताकै निशंकितादि गुण प्रवर्तैं हैं, ते पूर्वकर्मकी निर्जरा करै हैं। अर शंकादिककरि कीया बंध नाहीं होय है ॥२९॥ अब निर्जरा अधिकारकूं पूर्ण कीया, सो निर्जराका स्वरूप यथार्थ जाननेवाला अर कर्मका नवीन बंध रोकि निर्जरा करनेवाला जो सम्यग्दृष्टि, ताकी महिमा कहै हैं—

रुन्धन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानंभूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ ३० ॥

सं० टी०—सम्यग्दृष्टिः-आत्मश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वपरिणतो मुनिः, कर्ता-ज्ञानरूपेण, ज्ञानं भूत्वा ज्ञानमयो भूत्वा, नटति नृत्यं करोति,-आनंदेन सह तन्मयत्वं प्राप्नोतीति यावत्. किंकृत्वा ? गगनाभोगरंगं गगनम्-व्योम, तस्य आभोगः-परिपूर्णता स एव रंगः—नाट्यावतारस्थानभूमिः, तं विगाह्य-व्याहयित्वा-ज्ञानेन सर्वं गगनमंडलमभिव्याप्य, हर्षतो नृत्यविशेषवान्, कुतः ? अतिरसात्-स्वानुभवजनितरसोद्रेकेण, आद्योऽपि

यो नटति। स रंगमवगाह्य शृंगारादिनवरसोद्रेकत यत्र इत्युक्तिलेश' तु-पुनः, प्राग्बद्ध—प्राक्-सम्यक्त्वोत्पत्तेः, पूर्वं बद्ध-कर्मरूपेणात्मसात्कृतं, क्षय—विनाश, उपनयन् प्रापयन् सन्, केन ? निर्जरोज्जृम्भणेन असंख्यात-गुणनिर्जराया उज्जृंभण-उत्सर्पण-प्राकट्य तेन, अष्टाभिः-वसुसंख्यै., अगै-निःशंकितादिसम्यक्त्वावयवैः सगतः युक्त', किंभूतै ? निजै-निश्चयसम्यक्त्वसबंधीयैः, इति-पूर्वोक्तप्रकारेण नव-नवीन, बन्ध कर्मबंधं, रुंधन्—निवारयन् । प्रत्यधिकार नटतीत्यादिशब्दः नाटकत्वमुद्योतयति ॥ ३० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव है सो आप स्वयमेव अपने निजरसमें मग्न भया संता आदि मध्य अंतकरि रहित सर्वव्यापक एकप्रवाहरूप धारावाहीज्ञानरूप होयकरि अर आकाशका मध्यरूप जो रंगभूमि अतिनिर्मल ताविषैं अवगाहन करि नृत्य करै है। कैसा सम्यग्दृष्टि ? नवीन बंध कूं तौ पूर्वोक्तप्रकार रोकता संता है, बहुरि पहिली बांध्या था ताकूं अपने अष्ट अंगनिकरि सहित भया संता निर्जराके प्रगट होनेकरि नाशकूं प्राप्त करता संता है ॥ भावार्थ—सम्यग्दृष्टि कैं शंकादिककरि कीया नवीन बंध तौ होय नाहीं अर आठ अंगनिकरि सहित है, तातैं निर्जरा का उदय होनेकरि पूर्वबंधका नाश होय है। सो एकप्रवाहरूप ज्ञानरूप रसका आप पान करि, जैसे कोई मदकरि मग्न भया नृत्यके आखाडेमें नृत्य करै है तैसे निर्मल आकाश रूप इस भूमिमें नृत्य करै है ॥ इहां कोई कहै—सम्यग्दृष्टिकै निर्जरा होना तौ कहते आये अर बंध होना न कह्या। सो गुणस्थाननिकी परिपाटीमें सिद्धांतमे अविरतसम्यग्दृष्टितैं लगाय बंध कह्या है, अर घातिकर्मनिका कार्य आत्माका गुण घात करना है, सो दर्शन ज्ञान सुख वीर्य इनि गुणनिका घातभी विद्यमान है, सो चारित्रमोहका नवीन बंध भी करै ही है, अर मोहके उदयमें भी बंध न मानिये तौ मिथ्यादृष्टिकै मिथ्यात्व अनंतानुबंधीका उदय होते भी बंधका न होना क्यौं न मानिये ? ताका समाधान—जो, बंध होनेमे प्रधान मिथ्यात्व अनंतानुबंधीका उदयही है सम्यग्दृष्टीकै तिनिका उदयका अभाव है, सो चारित्रमोहके उदयतैं यद्यपि सुखगुणका घात है अर अल्प स्थिति अनुभाग लिये मिथ्यात्व अनंतानुबंधीविना तथा तिनिका लारकी अन्यप्रकृति-विना घातिकर्मकी प्रकृतिनिका तथा अघातिकर्मकी प्रकृतिनिका बंध भी होय है। तोऊ जैसा मिथ्यात्व अनंतानुबंधीसहित होय, तैसा होय नाहीं। अनंतसंसारका कारण तौ मिथ्यात्व अनंतानुबंधी है, तिनिका अभाव भये पीछे तिनिका बंध होय नाहीं। अर आत्मा ज्ञानी भया तब अन्य बंध की कौन गिनती करै ? वृक्षकी जड कटैं पीछैं हरेमान रहनेका कहा अवधि ? तातैं इस अध्यात्मशास्त्रविषैं तौ सामान्यपणैं ज्ञानी अज्ञानी होनेका प्रधान कथन है। ज्ञानी भये पीछे किछू कर्म रहे ते सहजही मिटते जांयगे। जैसे कोई पुरुष दरिद्री था, सो झूपड़ीमें वसै था, ताकूं भाग्य उदयकरि वडा महलकी धनसहित प्राप्ति भई। तामे बहुतदिनका कजोडा भर्या था, सो या पुरुषने आय प्रवेश किया तिसही दिनतैं यह तौ महलका धनी संपदावान् बणीगया। अब कजोडा झाडना है, सो अनुक्रमतैं अपना बलके अनुसार झाडै है। जब सब

झडि जायगा उज्ज्वल होय जायगा, तब परमानंद भोगैहीगा, ऐसा जानना ।३०। ऐसैं रंगभूमी मैं निर्जराका प्रवेश भया था सो अपना स्वरूप प्रगट दिखाय निकसि गया ॥

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहैं दुख संकट आये ।
कर्म नवीन बंधैं न तबैं अर पूरव बंध झडे विन भाये ॥
पूरब अंग सुदर्शनरूप धरैं नितिज्ञान बढैं निज पाये ।
यो शिवमारग साधि निरंतर आनंदरूप निजातम थाये ॥ १ ॥

इति श्रीसमयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

इस प्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं छठा निर्जरा अधिकार पूर्ण भया ॥ ६ ॥

अथ बंधाधिकारः ॥ ७ ॥

वारयति निर्जरयं तामस्यं भव्यजीवनिचयस्तु ।
अमृतेंदुवाड् मयमयूखैः श्रीकुंदसनैः परैः सारैः ॥

ननु संवरनिर्जरे निरंतरं ज्ञानिनो निरूपिते पुनः कस्य तु ते द्वे ? प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वात् इति चिंचिदेव बंधतत्त्वं निबध्यते ।

दोहा—रागादिकतैं कर्मको बंध जानि मुनिराय ।
तजै तिनहि समभाव करि नमूं सदा तिनि पाय ॥

अब टीकाकारके वचन हैं, जो, अब बंध प्रवेश करै है ॥ जैसैं नृत्यके अखाडेमें स्वांग प्रवेश करै हैं, तैसें रंगभूमिमैं बंधतत्त्वका स्वांग प्रवेश करै है । तहां प्रथमही सर्व तत्त्वका यथार्थ जाननेवाला जो सम्यग्ज्ञान, सो बंधकूं दूरि करता संता प्रगट होय है ऐसे अर्थकूं ले मंगल रूप काव्य कहै हैं—

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटय-
द्धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१॥

सं० टी०—समुन्मज्जति-समुच्छलति चकास्तीत्यर्थः, किं ? ज्ञानं-आत्मबोधः, किंभूतं ? निरुपधि निर्गत उपाधिः—ममत्वादिविकृतिर्यस्मात्तत्, पुनः कीदृशं ? अनाकुलं—उपाधिविजृंभितचिंताच्युतं, धीरं धैर्यगुणयुक्तं तच्च तदुदारमुत्कृष्टं च, सहजावस्था—स्वाभाविकदशां, स्फुटं व्यक्तं यथा भवति तथा नाटयत् प्रकाशयत् धातूनामनेकार्थत्ववचनात् द्योतकत्वमत्र । पुनः—आनंदेत्यादिः, आनन्द—स्वात्मोत्थं सुखं तदेवामृतं सुधां नित्यं—अनवच्छिन्नतया, भुनक्तीत्येवं शीलं । पुन—बंधं—कर्मश्लेषं, धुनत् स्फोटयन्, किंभूतं बंधः ?

क्रीडंतं—स्वेच्छया सर्वत्र क्रीडया परिणतं, केन ? रसेत्यादिः-रसस्य—कर्मानुभागस्य भार'—अतिशयः स एव निर्भरं-अतिमात्रं, महानाट्यं महानटन, तेन, किंकृत्वा ? सकलं—समस्तं, जगत्-लोकनिवासिजनवृंद, प्रमत्त मदाक्रांत कृत्वा—विधाय, केन ? रागेत्यादि.-रागस्य उद्गार.—उद्गिरणं, स एव महारसः मैरेयादिरूपः तेन, अन्योऽपि य. पर मदिरया प्रमाद्य नाट्ये नाटयतीत्युक्तिलेशः ॥ १ ॥ अथ कथं मुच्यते जगतः कर्मान्सरत्वादिति वदत प्रत्यग्रचष्टे—

अर्थ—ज्ञान है सो उदय होय है। कहा करता संता उदय होय है ? बंध है ताही उडावता संता उदय होय है। कैसा है बंध ? रागका उद्गार जो उगलना उदय होना सोही भया महारस ताकरि समस्त जगतकूं प्रमत्त-प्रमादी मतवाला करिकै अर रसके भारकरि भया जो बडा नृत्य, ताकरि नाचता है ऐसा बंधकूं उडावता है ॥ बहुरि आप ज्ञान कैसा है ? आनंदरूप अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है बहुरि अपनी जाननक्रियारूप स्वाभाविक अवस्था ताकूं प्रगटरूप नचावता संता उदय होय है। बहुरि धीर है, उदारतैं निश्चल है, बडा जाका विस्तार है। बहुरि अनाकुल है-जामैं किछू आकुलताका कारण नाही रहै है। बहुरि निरुपधि है-परिग्रहतैं रहित है-किछू परद्रव्यसंबंधी ग्रहणत्याग नाही है। ऐसा ज्ञान उदयकूं प्राप्त होय है भावार्थ—बंधतत्त्व रंगभूमिमैं प्रवेश करै है, ताकूं ज्ञान उडायकरि आप प्रगट हो नृत्य करैगा, ताकी महिमा या काव्यमें प्रगट करी है। ऐसा अनंत ज्ञान स्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहौ ॥ आगैं बंधतत्त्वका स्वरूप विचारै हैं ॥ तहां प्रथम बंधका कारणकूं प्रगट कहै हैं—

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणां ॥ २ ॥

सं० टी०—ननु, जगत्-त्रिभुवन, कर्मबहुलं—कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलं-प्रचुरं तत्र बंधकृत्—बंधं करोतीति बंधकृत् बंधकारणं न भवेत् अन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसंगात् तत्र कर्मपुद्गलानां अवस्थानाविशेषात्। अथ कायवाङ्मनसां कर्म बंधकृन्न चलात्मकानां कर्मणां बंधहेतुत्वाभावात् अपरथा यथाख्यातसंयतानामपि कर्मबंधप्रसंगात्। ननु वा अथवा, तत्कारणं मा भवतु नैककरणानि अनेकस्पर्शनादींद्रियाणां बंधहेतुत्व, तन्न अन्यथा केवलिनामपि तत्प्रसंगात् तस्य तत्सद्भावात्, ननु चिदचिद्वध.-चिदचिता सचित्ताचित्ताना वस्तूनां वधः-घातः बंधकृत्, तन्न तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात् अन्यथा समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्, ननु सर्वस्य बंधनिमित्तत्वनिषेधे जगतो निर्बंधत्वमेवेति चेन्न तत्सद्भावात् तथाहि—किल इत्यागमोक्तौ, एव-निश्चयेन, नृणां-प्राणिनां, केवलं परं, स —रागयोग, अनिर्दिष्ट, बंधहेतुः-बन्धस्य कारणं, भवति—अस्ति, स कः ? य. उपयोगभूः—उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः [मिः] स्थानं,आत्मेत्यर्थ., रागादिभि.-रागद्वेषमोहैः सह ऐक्यं—एकता, उपयाति-प्राप्नोति, स एव बंधकारणं ॥ २ ॥ अथ कर्मबहुलादीनां कर्महेतुत्वं मीमासते—

अर्थ—कर्मबंधका करनेवाला कर्मयोग्य पुद्गलनिकरि बहुत भरया जो जगत कहिये लोक सो कारण नाही है। बहुरि चलनेस्वरूप जे काय वचन मनकी क्रिया कर्मरूप योग, ते भी कारण नाही है। बहुरि अनेक रीतिके कारण, ते भी कारण नाही हैं॥ बहुरि चेतन अचेतनका वध कहिये घात सो भी कारण नाही हैं॥ तौ कहा हैं जो उपयोगभू कहिये आत्मा, सो रागादिकनिकरि सहित एकताका भावकूं प्राप्त होय है, सोही एक पुरुषनिकै बंधका कारण है॥ भावार्थ—इहां निश्चयनयकरि एक रागादिकहीकूं बंधका कारण कह्या है॥

विशेष—संस्कृत टीकाकारने 'नैककरणानि' का अर्थ स्पर्शनादिक इंद्रियां किया है और भाषाकारने 'अनेक रीतिके कारण' यह किया है॥ २॥

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पंदात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवं॥ ३॥

सं० टी०—सः-प्रसिद्धः, लोकः श्रेणीघनप्रदेशमात्रं त्रिभुवनं, कर्मततः—कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्तः-अस्तु भवतु, तथाप्यात्मनः कर्मबंधो न, च-पुनः, तत्-प्रसिद्धं, कर्म-कायवाङ्मनोयोगः, परिस्पंदात्मकं-आत्मप्रदेशपरिस्पंदस्वरूपं, अस्तु भवतु तथाप्यात्मनो न बंधः, अस्मिन्-आत्मनि, तानि-प्रसिद्धानि, करणानि-इंद्रियाणि संतु भवंतु, च पुनः, तत्-प्रसिद्धं, चिदित्यादिः, चित-सचित्तः, अचित्-प्रासुकः, चिदचित्तयोर्व्यापादनं, पीडनं, विनाशनं, अस्तु, अहो इति आश्चर्ये तथापि अयं सम्यग्दृगात्मा-सम्यग्दर्शनपरिणतश्चिद्रूपः, कुतोपि जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेः—अन्यतरादपि ध्रुवं-निश्चितं, बंधं-कर्मबंधं, नैव उपैति-न प्राप्नोति, किंभूतः सन्? केवलं-रागादिनिरपेक्षं ज्ञानं-बोधमयो, भवन् जायमानः, पुनः उपयोगभूमि-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनस्य भूमिः-आत्मा, उपयोगो लक्षणमिति सूत्रकारवचनात्, न, रागादीन् रागद्वेषमोहान् अनयन्-अप्रापयन्-रागमयमात्मानमकुर्वन् न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यं॥ ३॥
अथ तथापि ज्ञानिनां निरर्गलत्वं विद्वेषयति—

अर्थ—तिस कारणतैं सो कर्मनिकरि भर्या पूर्वोक्त लोक है सो होहू बहुरि सो मन वचन कायके चलनस्वरूप कर्मरूप योग है सो होहु, बहुरि पूर्वोक्त करण होहू बहुरि सो पूर्वोक्त चैतन्य अचैतन्यका व्यापादन कहिये घात करना होहू यह सम्यग्दृष्टि है सो रागादिककूं उपयोगभूमिमैं नाही प्राप्त करता संता अर केवल एक ज्ञानरूप होता संता, तिनि पूर्वोक्त कोईही कारणतैं बंधकूं प्राप्त नाही होय है, यह निश्चल सम्यग्दृष्टि है, अहो देखो! यह सम्यग्दर्शनकी अद्भुत महिमा है॥ भावार्थ—इहां सम्यग्दृष्टिका अद्भुत माहात्म्य कह्या है। अर लोक, योग, करण, चैतन्य अचैतन्यका घात ए बंधके कारण न कहे हैं॥ तहां ऐसा मति जानू-जो, परजीवकी हिंसातैं बंध न कह्या, तातैं स्वच्छंद होय हिंसा करना इहां अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजी-

चका घात भी होय , तातैं बंध न होय है। अर जहां बुद्धिपूर्वक जीव मारनेके भाव होहिंगे तहां तो अपनें उपयोगमें रागादिकका सद्भाव आवैगा, तहां हिंसातैं बंध होयहीगा ॥ जहां जीवकूं जीवावनेका अभिप्राय होय, ताकूं भी निश्चयनयमें मिथ्यात्व कहै हैं, तौ मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा ? तातैं कथनकूं नयविभागकरि यथार्थ समझि श्रद्धान करना, सर्वथा एकांत तौ मिथ्यात्व है ॥ ३ ॥ अब इस अर्थकूं दृढ करनेकूं व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करानेकूं काव्य कहै हैं—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं नहिं विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ ४ ॥

स० टी०—तथापि—कर्मबहुलकर्मकरणादीनामबंधकत्वे, रागादीना बंधहेतुकत्वे च सत्यपि, ज्ञानिना—पुंसा, निरर्गलं—निरंकुशं, चरितुं—प्रवर्तयितुं, न इष्यते—न वाञ्छ्यते, किलेति कस्मात्, सा—प्रसिद्धा, निरर्गला—निरंकुशा, व्यापृतिः—सर्वत्र कायादिव्यापारे प्रवृत्तिः, तदायतन—तस्य—बंधस्य, आयतन स्थान, एव निश्चयेन , ज्ञानिना—पुसां, तत् प्रसिद्धं, अकामेत्यादि —अकामेन—अवाञ्छया, कृतं—निष्पादितं, कर्म—क्रिया, कायवाङ्मनसा कर्म च अकारण—बंधाहेतुकं, मत—कथित पूर्वाचार्यैं, हीति यस्मात् करोति क्रिया जानातिलक्षणाक्रिया एतद्‌द्वय च किमु—कथ न विरुध्यते—विरोध प्राप्नोतीत्यर्थ. ॥ ४ ॥ अथ कर्तृज्ञात्रो. पृथक्त्वं विधीयते—

अर्थ—तथापि कहिये लोक आदि कारणनितैं बंध कह्या नाहीं अर रागादिकहीतै बंध कह्या तोऊ ज्ञानीकूं निरर्गल कहिये मर्यादारहित स्वच्छंद प्रवर्तना योग्य न कह्या है जातैं निरर्गल प्रवर्तन है सो बंधकाही ठिकाना है, ज्ञानीनिकैं विनावांछा कर्म कार्य होय है, सो बंधका कारण न कहा है जातैं जानैं भी है अर कर्मकूं करै भी है यह दोऊ क्रिया कहा विरोधरूप नाहीं है ? करना अर जानना तो निश्चयतैं विरोधरूपही हैं॥ भावार्थ—पहली काव्यमें लोक आदि बंधके कारण न कहे तहां ऐसैं मति जानिये—जो बाह्य व्यवहारप्रवृत्ति बंधके कारणनिमें सर्वथाही निषेधी है, जो ज्ञानीनिकैं अबुद्धिपूर्वक वांछाविना प्रवृत्ति होय है तातैं बंध न कह्या है तातैं ज्ञानीनिकूं स्वच्छंद प्रवर्तना तौ न कह्या है बेमर्याद प्रवर्तना तौ बंधकाही ठिकाना है ॥ जाननेमें अर करनेमें तौ विरोध है, ज्ञाता रहैगा, तौ बंध न होगा, कर्ता होयगा तब तौ बंध होयहीगा ॥४॥ अब कहै है-जो जानैं है सो करै नाहीं है अर जो करै है सो जानैं नाहीं है,जो करै है सो कर्मका राग है अर राग है सो अज्ञान है अर अज्ञान है सो बंधका कारण है । ऐसैं काव्यमें कहै हैं—

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्ववोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ ५ ॥

स० टी०—खल्विति निश्चयार्थे, यः—चिद्रूप, जानाति—स्वपरस्वरूप वेत्ति, सः—चिद्रूपः न करोति कर्मादि न विधत्ते यस्तु कश्चित ज्ञानादन्य. करोति—कर्म निर्मापयति, तु—विशेषे, अयं—कर्मकर्ता न जानाति न परिच्छिनत्ति, तस्याज्ञानरूपत्वात् किल इति निश्चितं, तत्—करोतिक्रियावच्छिन्न—कर्म रागः, राग एव करोतीत्यर्थः, तु-पुन., राग अध्यवसाय आहुः रागस्य कषायानुभागाध्यवसायेति संज्ञां प्रतिपादयति जिनाः, इति स्वरूपविरचितत्वं सज्ञाया निरस्तं, कीदृक्तं रागं ? अबोधमय—अज्ञानस्वरूप, हन्मि-हन्ये जीवामि-जीव्येऽहमनेनेत्यादीनामज्ञानरूपत्वात्, सः रागः, नियतं-निश्चितं, कस्य भवति ? मिथ्यादृशः-मिथ्यादृष्टे', नत्वन्यस्य सम्यग्दृष्टेः, च-पुनः, सः—रागः, बंधहेतुः-कर्मबंधकारणं ॥ ५ ॥ अथाहं मरणादीनां कारक इत्यभिप्रेतस्य मिथ्यादृष्टित्वं दरीदृश्यते पद्यद्वयेन—

अर्थ—जो जानै है, सो करे नाही है। बहुरि जो करे है, सो जाने नाही है। बहुरि जो करे है, सो निश्चयतैं यह कर्मराग है बहुरि जो राग है, ताकूं मुनि हैं ते अज्ञानमय अध्यवसाय कहै हैं। सो यह मिथ्यादृष्टिकै होय है, सो नियमतैं बंधका कारण है॥

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यं॥ ६ ॥

स० टी०—इह—जगति, एतत्—वक्ष्यमाणं—अज्ञान ज्ञानभावव्यतिरिक्तं, एतत्कि ? यत्तु परः— अन्यः पुमान्, परस्य ततोऽन्यस्य कस्य चिदिष्टानिष्टस्य पुंसः, मरणेत्यादिः—मरण—प्राणवियोजन मरण च जीवितं च दुःख च सौख्य च तेषा समाहारो मरणजीवितदुःखसौख्य कुर्यात्—यो मन्यते हिनस्मि, जीवयामि, दुःखिन करोमि, सुखिन करोमि इति क्रिया निर्मापयेत्, एतत्—अज्ञान, कुतः ? नियतं—निश्चितं सर्वं—समस्त, मरणजीवितदुःखसौख्य सदैव—ससारदशायां, भवति—जायते स्वेत्यादिः स्वकीयस्यात्मोपार्जितस्य कर्मण उदयात् आयुःक्षयेण जीवानां मरणं, सत्यायुषि जीवितव्यं, आयुर्हरणाभावात् कथं तत्परेण कृतं। शुभाशुभकर्मोदयात् सुखदुःखिता जीवा भवति तत्कर्मदानाभावात् कथ ते तादृशाः कृताः परेणेति भावः ६

अर्थ—इस लोकमे जीवनिके मरण जीवित दुःख सुख हैं ते सर्वही सदा काल नियमतै अपने अपने कर्मके उदयतैं होय है॥ बहुरि जो परपुरुष है सो परके मरण जीवित दुःख सुख करे है यह मानना है सो अज्ञान है॥ ६ ॥ फेरि इसही अर्थकूं दृढ करतें संते अगिले कथनकी सूचनिकारूप काव्य कहै हैं॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥७॥

स० टी०—ते—पुरुषा., नियतं-निश्चित, मिथ्यादृश—मिथ्यादृष्टयः, भवंति—जायंते, किंभूताः ? आत्म- आत्मान घ्नंतीति आत्महनः-स्वरूपघातकाः स्वस्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात् पुनः कर्माणि—शुभाशुभानि, चिकी-

पंतः—स्वसात्कर्तुमिच्छवः, केन ? अहङ्कृतिरसेन-मयायं हतो जीवितश्चेत्यादिरूपेणाहङ्कारसेन, ते के ? ये-नराः, परात्-भिन्नात्, परस्य-ततोऽन्यस्य, पश्यति-ईक्षते, किं ? मरणजीवितदुःखसौख्यं किं कृत्वा ? एतत्-पूर्वोक्तं, मयायं हत इत्यादिरूपमज्ञानं, अधिगम्य-प्राप्य ॥७॥ अथाऽध्यवसायस्य बंधहेतुत्वं पापठ्यते-

अर्थ—यह पूर्वोक्त मानना अज्ञान है, ताकौं प्राप्त होयकरि जे पुरुष परतैं परकै मरण जीवित दुःख सुख होना देखै है, मानै है, ते पुरुष मैं इनि कर्मनिकूं करूं हूं ऐसा अहंकाररूप रसकरि कर्मनिकूं करनेके इच्छक हैं, कर्म करनेकी मारने जीवावनेकी सुखी दुःखी करनेकी वांछा करै है, ते नियमकरि मिथ्यादृष्टि हैं। आपहीकरि अपना घात जिनिकै पाइये है ऐसे हैं॥ भावार्थ—जे परकूं मारने जीवावनेका तथा सुख दुःख करनेका अभिप्राय करै हैं, ते मिथ्यादृष्टि हैं। अर अपना स्वरूपतैं च्युत भये रागी द्वेषी मोही होय आपहीकरि आपका घात करै है,तातैं हिंसक हैं॥ ७॥

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोयमज्ञानात्मास्य दृश्यते॥ ८॥

सं० टी०—अस्य मिथ्यादृष्टेः, य एव प्रसिद्धः अध्यवसाय अयं परान् हन्मीत्यादिरूपः परिणामः स एव अध्यवसाय एव, बंधहेतुः—कर्मबंधकारणं, कुतः ? विपर्ययात् ज्ञानाद्विपर्ययस्वभावत्वात् अस्य मिथ्यादृशोऽध्यवसायः बंधहेतुः कथं ? यतः—अयं अध्यवसायः अज्ञानात्मा—अज्ञानमेव आत्मा स्वरूपं यस्य सः दृश्यते-अवलोक्यते॥ ८॥ अथाध्यवसायमाहात्म्यमारभते-

अर्थ-मिथ्यादृष्टीका जो यह अध्यवसाय है जो अज्ञानरूप प्रत्यक्ष दीखै है, सोही यह अभिप्राय मिथ्या विपर्ययस्वरूप है तातैं बंधका कारण है। भावार्थ—झूठा अभिप्राय सो मिथ्यात्व है सो ही बंधका कारण है ऐसैं जानना॥

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्॥ ९॥

सं० टी०—एव-निश्चयेन, तत-वस्तु, किंचनापि-किमपि, महदल्पं वा नास्ति—न विद्यते, यत् आत्मा-जीवः,आत्मानं स्वकीयं अध्यवसायेनैव नकरोति न विधत्ते,किंभूतः ? अनेन हन्मीत्यादिरूपेण,पूर्वोक्तेन अध्यवसानेन कषायाध्यवसायेन, विमोहितः—मोहं प्राप्तः, किंभूतेन ? निष्फलेन—बंधमोक्षलक्षणफलरहितेन, जीवस्य सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावे बंधमोक्षसद्भावात् तदभावे तयोरभावात् अतस्तयोरेव स्वार्थक्रियाकारित्वं, अनध्यवसायस्याकिंचित्करत्वात्॥ ९॥ अथ तथाप्यध्यवसाया बीभत्सते-

अर्थ—आत्मा है सो इस निष्फल निरर्थक अध्यवसायकरि मोह्या हुआ आपकूं, अनेकरूप करै है। सो ऐसा पदार्थ कोई जगतमें नाही है-जिसरूप आपकूं नाही करै,सबहीरूप करै है।

भावार्थ—यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायकरि भूल्या हुवा चतुर्गतिसंसारमें जेती अवस्था हैं, जेते पदार्थ हैं, तिनिसर्वस्वरूप आपकूं भया मानै है। अपना शुद्धस्वरूपकूं नाही पहिचानै है॥

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं ।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १० ॥

सं० टी०—इह-जगति, त एव-प्रसिद्धाः, यतयः-यतते कर्मादीनीति यतयः-मुनयः, येषां यतीनां, एषः इदानीमुक्तः, अध्यवसायो नास्ति, किंभूतः मोहैककंदः-मोहस्य रागद्वेषस्य एकः—अद्वितीयः, कंदः-मूलकारणं य. सः, मोहनीयकर्मोत्पादकत्वात्, इतीस्फुटं, यत्प्रभावात्-यस्य-अध्यवसायस्य, प्रभावः माहात्म्यं तस्मात् विश्वं-चेतनाचेतनं लोकालोकं शुभाशुभ-चराचर आत्मानं-स्वकीयं, करोति—विधत्ते यथा हिंसाध्यवसायात् हिंसकः तथा विपच्यमाननारकतिर्यग्मनुष्यदेवपुण्यपापाध्यवसायान्नारकं तिर्यंचं मनुष्यं देवं पुण्यं पापं चात्मानं करोति,किंभूतः ? विश्वात् चेतनाचेतनादिपदार्थात् विभक्तोऽपि भिन्नोऽपि तदध्यवसायवशात्तन्मयो भवति । विश्वशब्दस्य त्रिलोकार्थवाचकत्वाभावात् चेतनादिपदार्थवाचकत्वाच्च न सर्वादिगणत्वं अथाध्यवसानस्य व्यावहारिकत्वं व्यवहरति—

अर्थ—यह आत्मा समस्तद्रव्यनितैं भिन्न है, तौऊ जिस अध्यवसायके प्रभावतैं आपकूं समस्तस्वरूप करै है, सो यह अध्यवसाय कैसा है ? मोह है एक कंद जाका । सो यह अध्यवसाय जिनिकै नाही है, ते यति हैं मुनि हैं ।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिं ॥११॥

सं० टी०—जिनैः-केवलज्ञानिभिः उक्त-प्रतिपादितं.किं सर्वत्र-निखिलपरवस्तुनि यत् अखिलं-समस्तमेव, अध्यवसानं व्यवसायः, त्याज्यं-त्यजनीयं, तत्-व्यवसायज्ञापनं, मन्ये-अहं जाने, निखिलोऽपि, समस्तोपि व्यवहार एव व्यवहारनय एव त्याजितः, हेतुगर्भितविशेषणमाह-अन्याश्रयः-पराश्रितः निश्चयनयेन पराश्रितमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् तत्-तर्हि किंकर्तव्यं ? अमी-एते, सतः-सत्पुरुषाः. निजे आत्मीये, महिम्नि-माहात्म्ये, धृतिं—संतोषं, स्थिरतां वा, किं-किमु न बध्नंति ? अपि तु कुर्वंतीत्यर्थः । किंभूते ? शुद्धज्ञानघने-कर्ममलकलंकरहित बोधनिरंतरे, किं कृत्वा ? आक्रम्य—संप्राप्य, किं ? एकं अन्यनिरपेक्षं, एव-निश्चयेन, सम्यग्निश्चयं—शुद्धनिश्चयनयं किंभूतं ? निष्कंपं-अचलं, स्वरूपे स्थिरत्वात् ॥ ११ ॥ अथ रागादीनां किंकारणं ? इति साक्षेपं प्रश्नोत्तरं पद्यद्वयेन निर्मिमीते—

अर्थ—सर्वही वस्तुनिविषैं जो समस्त अध्यवसान है उनकूं जिन भगवान् त्यागने योग्य कह्या है । सो आचार्य कहैं हैं,हम ऐसैं मानैं हैं जो परके आश्रय प्रवर्तता जो व्यवहार सो सर्वही छुडाया है तातैं हम उपदेश करैं हैं-जो सत्पुरुष हैं, ते सम्यक्प्रकार एक निश्चयहीकूं निष्कम्प जैसे होय तैसे निश्चल अंगीकार करिकैं अर शुद्धज्ञानघनस्वरूप अपना महिमा आत्मस्वरूप, ता विषैं थिरता क्यों नाहीं धारैं हैं ? भावार्थ—जिनेश्वर देव अन्यपदार्थनिविषैं आत्मबुद्धिरूप

अध्यवसाय छुडाया है, सो यह पराश्रित सर्वही व्यवहार छुडाया है ऐसें जानू, तातैं शुद्धज्ञान-स्वरूप अपना आत्मा, ताविषैं थिरता राखियो, ऐसा शुद्धनिश्चयका ग्रहणका उपदेश है। आचार्य आश्चर्य भी किया है-जो भगवान् अध्यवसानकूं छुडाया, तौ अब सत्पुरुष याकूं छोडि अपने स्वरूपविषैं क्यों नाही तिष्ठैं हैं ? यह हमारे अचिरज है।

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहुः ॥१२॥

सं० टी —इति-साचेप, प्रणुन्नः शुद्धनयावलम्बिनः पृष्टाः सत', पुन -भूय , एव-अग्रे वक्ष्यमाण, परं वत्तरं, आहुः—कथयति, इति किं ? ते-प्रसिद्धा', रागादय —रागद्वेषमोहा बंधनिदान—कर्मबंधकारण, उक्ताः-प्रतिपादिता'' किंभूतास्ते ? शुद्धेत्यादिः-शुद्धचिदेव मात्रा प्रमाण यस्य तत् तच्च तन्महः परज्योतिः तेन तस्माद्वा, अतिरिक्ताः-भिन्ना', तन्निमित्त-रागादीना निमित्त-उत्पादककारण, किमु-अहो, आत्मा-चेतनः, रागादीनामुत्पादकः, वा पर पुद्गल', तद्धेतु' इत्युक्ते आहु.—

अर्थ–इहां शिष्य फेरि पूछै है, जो रागादिक हैं, ते तौ बंधके कारण कहे, बहुरि ते शुद्ध-चैतन्यमात्र यह जो आत्मा तातैं अतिरिक्त कहिये भिन्न कहे-न्यारे कहे, तहां तिनिके होनेमें आत्मा निमित्त है, कि पर कोई निमित्त है ? ऐसे प्रेरे हुये आचार्य फेरि आगाने याका उत्तर दृष्टांत पूर्वक कहैं हैं–

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत् ॥ १३ ॥

सं० टी०—जातु-कदाचित्, आत्मा-चिद्रूपः, आत्मनः-स्वस्य, रागेत्यादि'-रागादीनां-रागद्वेषमोहानां, निमित्तभाव उपादानकारणत्व न याति-न प्राप्नोति तर्हि तन्निमित्त किं ? तस्मिन्, आत्मनि परसंग परेषां-पुद्गलादीना, संग -संयोग', एव निश्चयेन, तन्निमित्तं-तेषा-रागादीना निमित्त-कारण इममेवार्थमुपमीयते-अर्ककांतः-स्फटिकोपलः-यथा-इव, तथाहि-यथा स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव रागादिनिमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य रागादिभि परिणम्यते तथा केवलः आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव तन्निमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य तैः परिणम्यते इति तावत्-प्रथम, अयं, पूर्वोक्त एव, वस्तुस्वभावः-समस्त वस्तुस्वरूप, उदेति-उदय गच्छति ॥ १३ ॥ अथ ज्ञानिनस्तदकर्तृत्व-मुद्भावति—

अर्थ–आत्मा है सो आपके रागादिकका निमित्तभावकूं कदाचित् न प्राप्त होय है, तिस आत्माविषैं रागादिकका निमित्त परद्रव्यका संगही है, इहां सूर्यकांतमणिका दृष्टांत है जैसे सूर्य-कांतमणि आपहीं तौ अग्निरूप नाही परिणमै है, तिसविषैं सूर्यका विंब अग्निरूप होनेकूं निमित्त है, तैसे जानना। यह वस्तूका स्वभाव उदयकूं प्राप्त है काहुका किया नाही है ॥ १३ ॥ आगैं

कहै हैं, जो ऐसा वस्तूका स्वभावकूं जानता संता ज्ञानी रागादिककूं आपके नाही करै है ऐसा सूचनिकाका श्लोक है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १४ ॥

सं. टी.—इति-पूर्वोक्तप्रकारेण, ज्ञानी-पुमान्, स्वं-आत्मीयं, वस्तुस्वभावं-रागादिव्यतिरिक्तं स्ववस्तुस्वरूपं, जानाति-वेत्ति येन कारणेन वेत्ति तेनैव कारणेन, सः-ज्ञानी, रागादीन्-आत्मनः-स्वस्य, न कुर्यात् स्वस्मान् न करोति ? यतः, अतः कारकः कर्मणा कर्ता न भवति ॥ १४ ॥ अथाज्ञानं स्फूर्जति—

अर्थ—जैसे अपने वस्तुभावकूं ज्ञानी है सो जो जाने है, तिस कारणकरि सो ज्ञानी रागादिककूं आपके नाही करे है, तातैं रागादिकका कारक नाही है ॥१४॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १५ ॥

सं. टी.—इदं पद्यं पूर्वतो विपरीतं व्याख्येयं सुगमं च ॥ १५ ॥ अथ परद्रव्यमुद्धर्तुकामं समभिष्टौति—

अर्थ—अज्ञानी है सो ऐसा अपना वस्तुभावकूं नाही जाने है, तिस कारणकरि सो अज्ञानी रागादिकभावनिकूं आपके करे है, यातैं तिनिका कारक होय है ॥ १५ ॥

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
त्तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समं ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १६ ॥

सं टी—एषः-अ-आत्मा-चिद्रूपः कर्ता, आत्मनि-स्वस्वरूपे अधिकरणभूते, स्फूर्जति-गर्जति-प्रकटीभवति वा. किंभूतः ? उन्मूलितबंधः-उन्मूलितः—निराकृतो बंधो येन सः, पुनः भगवान्-ज्ञानवान्, पुनः कीदृक् ? बलात्-व्यवसायादिलक्षणात् हठात्, इमां प्रसिद्धां बह्वित्यादि-बहूनां भावानां-विभावपरिणामानां संततिः परंपरा तां, रागद्वेषमोहपरंपरामित्यर्थः, समं-युगपत्, उद्धर्तुकामः उद्धर्तुं निराकर्तुं, कामः वांछा, यस्य सः, कुतः ? तस्मात् इत्यनुक्तमप्यपादानं ज्ञेयं, किंभूतां ? तन्मूलां तदेव परद्रव्यमेव तस्यैव वा मूलं कारणं यस्याः तां, स कः ? येन ज्ञानरूपेण करणभूतेन, आत्मानं कर्मतापन्नं समुपैति प्राप्नोति, किंभूतं तं ? निर्भरेत्यादिः निर्भरेण अतिशयेन, वहंती समस्तवस्तुग्रहणाय प्रवर्तमाना सा चासौ पूर्णा अखंडा सा चासावेका संवित् ज्ञानं तया युतं संयुतं. किंकृत्वा ? किलेति निश्चितं. तत् प्रसिद्धं. समग्रं निखिलं, परद्रव्यं स्वस्वेतराकांक्षार्था स्वस्येति तंत्रोऽनुक्तोऽप्यूह्यः, विवेच्य पृथक्कृत्य, किंकृत्वा ? इति पूर्वोक्तप्रकारेण आलोच्य सम्यग्विचार्य किमर्थं ? तस्मै इत्यध्याहार्यं ॥ १६ ॥ अथ रागादीनां दारकत्वं दिशति—

अर्थ–जो ऐसे परद्रव्यके अर अपने भावके निमित्तनैमित्तिकपणा विचारिकरि, तिस परद्रव्यसमस्तकूं अपना बल-पराक्रम उद्यमकरि, त्याग करिके,अर सो परद्रव्य है मूल जाका ऐसी बहुत भावनिकी संतति-परिपाटीकूं दूरि युगपत् उडावनेकूं चाहता संता अतिशयकरि वहता प्रवाहरूप धारावाही पूर्ण एक स्वसंवेदन, तिसकरि युक्त जो अपना आत्मा, ताहि प्राप्त होय है। जिसकारणकरि उन्मूलित कीये है-मूलतैं उपाडे हैं कर्मके बंधन जाने ऐसा भगवान् यह आत्मा आपहीविषैं स्फुरायमान प्रगट होय है ॥ भावार्थ–परद्रव्यके अर अपने भावके निमित्त-नैमित्तिकभाव जानि, समस्त परद्रव्यकूं त्यागै, तब समस्तरागादि भावनिकी संतति कटिजाय तब आत्मा अपनाही अनुभव करता संता कर्मके बंधनकूं काटि आपहीविषैं प्रकाशरूप प्रगटै है। तातैं अपना हित चाहै है ॥ अब बंध अधिकार पूर्ण कीया, ताके अंतमंगलरूप ज्ञानकी महिमा का अर्थरूप कलशकाव्य कहै हैं–

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्या वृणोति ॥ १७ ॥

स० टी०–तद्वत–तथा एतत् ज्ञानज्योति'–बोधतेजः, अपरं–न विद्यते परं अन्यत् यस्य तत्, प्रसरं प्रस्तारं विस्तार यातीत्याध्याहार्यं यद्वत्–यथा,अस्य–ज्ञानज्योतिष', विस्तर कोऽपि अपरः–कर्मादिः, नावृणोति नाच्छादयति, कीदृशं तत् ? क्षपिततिमिर—क्षपित निराकृतं तिमिरं—अज्ञान, येन तत् अपरमपि ज्योतिः नाशिताधकार पुनः साधुसन्नद्धं साधुभिः–योगीश्वरैः, पक्षे साधुपुरुषै सन्नद्धं—आरूढ, स्तुत च साधुभि. स्तूयमानत्वाज्ज्योतिष', पुनः रागादीना रागद्वेषमोहाना, उदयं–प्राकट्य' अदयं—निर्दयं यथा भवति तथा, भवति तथा सद्य एव–तत्कालमेव, दारयत्–विदारणं कुर्वत्, अन्यदपि ज्योतिः प्रातर्जाना रागादीनां दारक-मित्युक्तिलेश', किं कृत्वा ? अधुना–इदानीं, विविधं—प्रकृतिस्थित्यनुभागादिभेदेनानेकविधं बन्ध, प्रणुद्य–निराकृत्य, किंभूत ? कारणानां–उपादानरूपपुद्गलाना कार्यं–फल कर्मरूपं ॥ १७ ॥

अर्थ–यह ज्ञानज्योति है सो क्षेप्या है-दूरि किया है अज्ञानरूप अंधकार जाने सो तैसे सम्यकप्रकार सज्या जैसे याका प्रसर कहिये फेलना अपर कोई आवरे नाही सो यह ऐसा पहलै कहा करिकै सज्या सो कहै हैं। पहले तो बंधके कारण जे रागादिकभाव, तिनिका उदय कूं जैसे निर्दयी काहूकूं विदारे तैसे तिनिकूं विदारता संता प्रगट्या,पीछैं जब कारण दूरी भये, तब तिनिका कार्य जो कर्मका ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार बंध, ताकूं अब तत्कालही दूरि करके अर सज्या है ॥ भावार्थ–ज्ञान प्रगट होय है जब रागादिक न रहै, तिनिका कार्य बंध न रहै, तब फेरि याकूं आवरणेवाला कोई न रहै, सदाकाल प्रकाशरूप रहै ॥ ऐसे रंगभूमिमैं

बंधका स्वांग प्रवेश कीया था, सो ज्ञानज्योति प्रगट भया, तब बंध स्वांग दूरिकरि निकसिगया

जो नर कोय परै रजमाहि सचिक्कण अंग लगै वह गाढ़ै।
त्यौं मतिहीन जु राग विरोध लिये विचरै तब बंधन बाढ़ै॥
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चारै।
नाहि बंधै नव कर्मसमूह जु आप गहै परभाव निकारै॥ १॥

विशेष—भ० शुभचंद्रजीने 'कारणानां कार्यं' इस वाक्यको 'बंधं' का विशेषण किया है एवं 'उपादानरूप पुद्गलोंके फलरूप बंधको' यह अर्थ किया है किंतु पं० जयचन्दजीने 'कारणानां' को रागादीनां का ही विशेषण कर कारणरूप जो राग आदि यह अर्थ किया है तथा 'साधुसन्नद्धं'-इस पदका अर्थ इस संस्कृत टीकामें साधुओंसे स्तुत यह अर्थ किया है किंतु पं० जयचन्दजीने अच्छी तरह सजाहुआ यह अर्थ किया है॥ १७॥

इति श्रीसमयसारस्यपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां सप्तमोऽङ्कः॥ ७॥

इस प्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं सातवां बंधाधिकार पूर्ण भया॥७॥

मोक्षाधिकारः॥ ८॥

नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः कुन्दकुन्दविधुवर्चाः। विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो भाति गुरुर्ज्ञानभूषाढ्यः।

अथ मोक्षतत्त्वं क्रमप्राप्तमाक्रामति—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचक[द]लनाद्बंधपुरुषौ नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतं
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥१॥

सं० टी०—इदानीं—अधुना, मोक्षतत्त्वकथनावसरे, ज्ञानं विजयते—सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किंभूतं? कृतेत्यादिः कृतं—निष्पादितं सकलं कृत्यं—संसारावस्थाकर्तव्यं येन तत्, पुनः पूर्णं—संपूर्णं, प्रकर्षप्राप्तत्वात्, परं—उत्कृष्टं, सर्वप्रकाशकत्वात्, सहजेत्यादिः सहजः—अकृत्रिमः, परमानंदः—परमसुखं, तेन सरसं—रसाढ्यं, उन्मज्जत्—उदयं गच्छत्, पुरुषं—आत्मानं, साक्षात्—अक्रमेण, मोक्षं मुक्तिसंपदं, नयत्—प्रापयत्, किंभूतं तं? उपेत्यादिः—उपलंभः—स्वस्वरूपप्राप्तिः तत्र एकेन स्वभावेन नियतं—स्थितं तत्र लीनमित्यर्थः, किंकृत्वा? द्विधाकृत्य—पृथक्कृत्वा, कौ? बंधपुरुषौ—बंधः कर्मादिभेदः, पुरुषः—आत्मा, द्वंद्वः, तौ परस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थः कुतः? प्रज्ञेत्यादिः—प्रज्ञा—भेदविज्ञानं सैव क्रकचः—करपत्रं, तेन दलनं तस्मात्॥ १॥ अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति—

अर्थ—अब बंधपदार्थके अनंतर पूर्णज्ञान है सो प्रज्ञारूप करोतकरि दलन कहिये विदारणतैं बंध अर पुरुषकूं द्विधा कहिये न्यारे न्यारे दोय करि अर पुरुषकूं साक्षात् मोक्षकूं प्राप्त करता संता जयवंत प्रवर्तै है॥ कैसा है पुरुष? उपलंभ कहिये अपना स्वरूपका साक्षात् अनुभवन, ताहीकरि निश्चित है। बहुरि ज्ञान कैसा है? उदय होता जो अपना स्वाभाविक परम आनंद ताकरि सरस है रस भर्या है, बहुरि पर कहिये उत्कृष्ट है, बहुरि किये हैं समस्त करने योग्य

कार्य जाने-अब कछु करना न रह्या है ॥ भावार्थ—ज्ञान है सो बंध पुरुषकूं जुदे करि पुरुषकूं मोक्ष प्राप्त करता संता अपना संपूर्णरूप प्रगट करि जयवंत प्रवर्तें है, याका सर्वोत्कृष्टपणा कहना यह ही मंगलवचन है ॥

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबंधे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

सं० टी०—इयं-प्रसिद्धा, प्रज्ञाछेत्री-बुद्धिछेत्री, शिता-अतितीक्ष्णा, रभसात्-वेगेन, निपतति-भिन्नकरणार्थं पतनं करोति, क्व ? सूक्ष्मे-अत्यंत प्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्यचेतकभावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मे, अन्तःसंधिबंधे—अंतः-अभ्यंतरे, कर्मात्मना संधिबन्धे सन्धानश्लेषे, कस्य ? आत्मकर्मोभयस्य—चिद्रूपकर्मयुग्मस्य, कीदृक्षा सा ? कथमपि महताग्रहेण पातिता तयोर्मध्ये भिन्नकरणकृते मुक्ता सती, कैः ? निपुणैः-धीमद्भिः, सावधानैः—एकाग्रचित्तैः, अभितः—सामस्त्येन, लक्षणभेदात् भिन्नभिन्नौ परस्परं तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ, कुर्वती—निर्मापयती, कं ? आत्मानं—चिद्रूपं, च पुनः, बंधं—कर्मबंधं कीदृशं-चिद्रूपं-चैतन्यपूरे समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं, तस्य पूरः समूहः, तत्र मग्नं—तन्मयमापन्नं, अंतरित्यादिः अंतः-अभ्यंतरे चिद्रूपे स्थिरं-अन्यत्र गमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च तद्विशदं च निर्मलं, लसत् देदीप्यमानं धाम—महो यस्य तस्मिन्, कीदृशं बंधं ? अज्ञानभावे-अज्ञानस्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे, नियमितं-निश्चयीभूतं,—तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थः । अन्यापि छेत्री द्वयोर्वस्त्वोः स्वलक्षणभिन्नयोः अंतः पातिता सती भिन्नत्वं चकरीति तथा प्रज्ञाछेत्रीति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ अथ तयोर्भेदकं प्रलपति—

अर्थ—आत्मा अर बंधकूं भिन्न करनेकूं यह प्रज्ञा है सो तीक्ष्ण छैनी है । सो जे प्रवीण पुरुष हैं ते सावधान प्रमादरहित भये संते आत्मा अर कर्म इनि दोऊंनिका सूक्ष्म जो अंतः कहिये मांहिला संधीका बंधन, ताविषैं याकूं कोई प्रकार यत्नकरि ऐसैं पटकै हैं सो यह बुद्धिरूपी छैनी तहां पडी हुई शीघ्रही समस्तपणैं भिन्न भिन्न करती पडै है । सो आत्माकूं तौ अंतरंगविषैं स्थिर अर विशदलसत् कहिये स्पष्ट प्रकाशरूप देदीप्यमान है धाम कहिये तेज जाका ऐसा जो चैतन्यका पूर प्रवाह, ताविषैं मग्न करती संती पडै है । बहुरि बंधकूं अज्ञानभावविषैं निश्चल नियमतैं करती संती पडै है ॥ भावार्थ—इहां आत्मा अर बंधका भिन्न भिन्न करना नामा कार्य है । ताका कर्त्ता आत्मा है । अर करणविना कर्त्ता काहेकरि कार्य करै ? तातैं करण चाहिये । अर निश्चयनयकरि कर्त्तातैं भिन्न करण होय नाही । तातैं आत्मातैं अभिन्न यह बुद्धि ही, इस कार्यविषैं करण है । सो आत्माकै अनादि बंध ज्ञानावरणादि कर्म हैं तिनिका कार्य भावकर्म तौ रागादिक हैं । अर नोकर्म शरीरादिक हैं । सो बुद्धिकरि आत्माकूं शरीरतैं तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मतैं तथा रागादिक भावकर्मतैं भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभव करि ज्ञान

हीमैं लींन राखना, यहही भिन्न करना याहीतैं सर्व कर्मका नाश होय, सिद्धपदकूं प्राप्त होय है, ऐसे जानना ॥

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ।
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

सं० टी० —हि स्फुट, अह—अहकं, शुद्धः—द्रव्यभावनोकर्ममलमुक्त., चिदेव—चेतनास्वरूपमेव, अस्मि भवामि, किंभूतः ? चिदित्यादिः—चिदेव मुद्रा—चिह्नं, तथा अंकितः—चिह्नितः, निर्विभागः—भेत्तुमशक्यो दुर्लंघ्यत्वात्, महिमा—माहात्म्य यस्य सः, किंकृत्वा ? यत् पुद्गलादिकं कर्म, भेत्तु—द्विधाकर्तुं, शक्यते—शक्यानुष्ठान भूयते स्वलक्षणाना भेत्तुमशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानाभावः, परलक्षणाना भेत्तुं शक्यत्वात् शक्यानुष्ठान तत् सर्वमपि—समस्तमपि कर्मबंधं भित्त्वा—द्विधा विधाय, कुतः ? स्वेत्यादि—स्वस्य—आत्मनः, पुद्गलस्य च लक्षण असाधारणस्वरूपं चैतन्यमचैतन्यं च तस्य बलात्—सामर्थ्यात्, यदि कारकाणि कर्तृकर्मादीनि—चेतयमानः एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानाय चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमानएव चेतये, चेतयमानमेव चेतये इति कारकाणि भिद्यंते तर्हि भिद्यंतां—भेद प्राप्नुवतु वा—अथवा, यदि धर्माः-स्वभावाः—चैतन्याचैतन्यादयः, भेदं प्राप्नुवन्ति तर्हि भिद्यतां, यदि वा गुणा.—मतिश्रुतादयः अनतज्ञानादयो वा भिद्यंते तर्हि भेद प्राप्नुवंतु पुनः चिति—चिद्रूपे, भावे—पदार्थे, काचन कापि, भिदा—भेदः, नास्ति-कारक धर्मगुणभेदो न, किंभूते चिति ? विभौ—वि-विशेषेण भवति ज्ञानादिस्वभावेनेति विभुः तस्मिन् विभौ, 'भुवो डुर्विसंप्रेषु च, इति डुप्रत्ययः, विशुद्धे—कर्ममलातीते, ॥ ३ ॥ अथ चेतनाया एकानेकरूप विवक्षति —

अर्थ—ज्ञानी कहै है जो—भेदनेकूं न्यारे करनेकूं समर्थ हूजिये, तिस सर्वकूं निजलक्षणके बलतैं भेदकरि अर मैं चैतन्यचिह्नकरि चिह्नित विभागरहित है महिमा जाकी ऐसा शुद्ध चैतन्यही हौं ॥ बहुरि जो कर्त्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान अधिकरण ये षट्कारक अर सत्त्व असत्त्व नित्यत्व अनित्यत्व एकत्व अनेकत्व आदिक धर्म अर ज्ञान दर्शन आदिक गुण ए भेदरूप है, तौ भेदरूप होऊ। विशुद्ध समस्त विभावनितैं रहित एक अर विभु कहिये सर्व गुणपर्यायनिमैं व्यापक ऐसा चैतन्यभावविषैं तौ किछू भेद है नाहीं ॥ भावार्थ—जो इस चैतन्यभावतैं अन्य अपनं स्वलक्षणकरि भेदे गये ते तौ भेदरूप कीये अर कारकभेद अर धर्म भेद हैं,तौ होऊ। शुद्ध चैतन्यमात्रविषैं तौ किछू भेद है नाही। शुद्धनयकरि आत्माकूं ऐसा अभेदरूप ग्रहण करना ॥३॥

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ ४ ॥

सं० टी०—हीति-ननु, जगति-भुवने, चेतना-प्रतिभासरूपा अद्वैता-एकरूपा, सर्वेषां प्रतिभासांतः प्रविष्टत्वेन एकरूपत्वसाधनात् तथाहि यत्प्रतिभासते—यत्प्रतिभासांतः प्रविष्टं यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते चामी विवादापन्नाः पदार्थाः । सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामेकत्वसाधनाच्चैकैव चेतना इति चेत्तदा दृग्ज्ञप्तिरूपं सा दर्शनज्ञानस्वभावं त्यजेत् अथ तत्स्वभावं त्यजतु का नो हानिः ? इति वदन्तमद्वैतिनं निराकरोति-सा-चेतना तत्—प्रसिद्धं अस्तित्वं-सत्ता, एव त्यजेत्, कुतः ? सामान्येत्यादि -सामान्यं दर्शनं, विशेषो-ज्ञानं, तयो रूपं तस्य विरहः तस्मात्—सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः' इति वचनात् दृग्ज्ञानयोः सामान्यविशेषात्मकत्वात् तदभावे तदभावात् अपि दूषणद्वयं । तत्त्यागे-तस्य अस्तित्वस्य, त्यागे-अभावे, अथवा दर्शनज्ञानस्याभावे चितः—चिद्रूपस्यापि जडता-अचेतनत्वं, चेति दूषणांतरे व्यापकात् अस्तित्वरूपात् दर्शनरूपाद्वा, विना ऋते, व्याप्य.-आत्मा, अंतं-विनाशं, उपैति-प्राप्नोति, व्यापकाभावे व्याप्यस्याप्यभावात् प्रकाशाभावे प्रदीपवत् तेन जडत्वात्माभावदूषणसद्भावेन चित्-चेतना, नियता-निश्चिता, दृग्ज्ञप्तिरूपा-दर्शनज्ञानस्वरूपा, अस्तु भवतु ॥ ४ ॥ अथ चेतनाचेतनयोः परत्वापरत्वं प्ररूप्यते—

अर्थ—जगतविषैं निश्चयकरि चेतना अद्वैत है तौऊ जो दर्शनज्ञानरूपकूं छोडै तौ सामान्यविशेषरूपके अभावतैं सो चेतना अपना अस्तिपनाहीकूं छोडै । बहुरि जब चेतना अपना अस्तित्वकूं छोडै, तब चेतनके जडता होय है । बहुरि व्याप्य जो आत्मा, सो व्यापक जो चेतना तिसविना अंतकूं प्राप्त होय, आत्माका नाश होय । तातैं नियमतैं चेतना है सो दर्शनज्ञानस्वरूपही होऊ ॥ भावार्थ—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है, सो चेतनाभी वस्तु है, सो दर्शनज्ञानविशेषकूं छोडै, तौ वस्तुपणाका नाश होय, तब चेतनाका अभाव होतैं, कै तौ चेतनके जडपणा आवै, कै चेतना आत्माकी सर्व अवस्थामैं पावै तातैं व्यापक है अर आत्मा चेतना ही है तातैं चेतनाके व्याप्य है सो व्यापकके अभावतैं व्याप्य जो चेतन आत्मा ताका अभाव होय है । तातैं चेतना दर्शनज्ञानस्वरूपा ही माननी ॥ इहां तात्पर्य ऐसा-जो सांख्यमती आदि केई सामान्यचेतनाहीकूं मानि एकांत कहै है, तिनिका निषेध करनेकूं वस्तुका स्वरूप सामान्य विशेषरूप है, सो चेतनाकूं सामान्यविशेषरूप अंगीकार करनी ऐसा जनाया है ॥४॥ आगै कहै हैं, चेतनाका तौ चिन्मय एक भाव है अर अन्य परभाव है, सो चिन्मयभाव तौ उपादेय है अर परभाव हेय है, सो यह सूचनिका अगिले कथनकी है, ताका श्लोक है -

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषां ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥५॥

सं० टी०—चितः चिद्रूपस्य,एकः-चिन्मयः—तद्दर्शनज्ञानमय एव भावः-स्वभावः,ये-प्रसिद्धाः,परे-दृग्ज्ञप्तेः परे, भावाः-रागादयः किलेति निश्चितं परेषां कर्मणां ते भावाः ततः आत्मीयस्वभावत्वात् चिन्मय एव दृग्ज्ञप्तिनिर्वृत्त एव स्वभावः, ग्राह्यः-आदेयः परभावाः-रागद्वेषादयः, सर्वत एव-सामस्त्येनैव, हेयाः-त्याज्याः ॥ ५ ॥ अथ रहस्यं सिद्धांतं साधयितुमुपक्रामति—

अर्थ—चैतन्यका तौ एक चिन्मयी ही भाव है, अर अन्य भाव है ते प्रगटपणैं परके भाव

हैं। तातैं एक चिन्मयभाव है सोही ग्रहण करनेयोग्य है, बहुरि जे परभाव सर्वही त्यागनेयोग्य हैं

सिद्धांतोयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

सं० टी०—अयं सिद्धांतः सिद्धः-निष्पन्नः, अंतः-धर्मः स्वभावो वा यस्य स. तात्पर्यं वा सेव्यतां आश्रियतां. कैः ? मोक्षार्थिभि.—मुमुक्षुभिर्योगिभिः, किंभूतैः ? उदात्तचित्तचरितैः-उदात्तं-उत्तमं, यत् चित्तं-ज्ञानं तदेव चरित-आचरणं येषां तैः, अयं कः सदैव—नित्यमेव अहं परमं ज्योतिः-परंधाम, अस्मि भवामि, किंभूतं तत् ? शुद्धं -कर्ममलरहितत्वात् चिन्मयं ज्ञप्तिरूपत्वात्, एकमेव परभावरहितत्वात् तु पुनः, एते-प्रसिद्धाः, विविधाः-नानाप्रकारा , असंख्यातलोकमात्रत्वात्, भावाः-रागद्वेषादयः परिणामाः, समुल्लसंति-प्रादुर्भवंति ते-भावाः, अहं चिद्रूपः, नास्मि-न भवामि, कुतः ? यतः-यस्मात्कारणात् पृथग्लक्षणाः-आत्मनः विपरीतलक्षणाः अज्ञानस्वभावत्वात् अत्र इह स्वस्वरूपविचारणे ते-भावाः, समग्रा अपि-समस्ता अपि कषायाध्यवसाया. मम-चिद्रूपस्य, परद्रव्यं पुद्गलकर्मोत्पादितत्वात् अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ॥ ६ ॥ अथ सापराधिनो बंधं द्योतते—

अर्थ—उज्ज्वल है उत्कट है चित्तका चरित्र जिनिका ऐसे मोक्षके अर्थि पुरुष हैं, ते यह सिद्धांत सेवन करो-जो, मैं तौ शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही सदा ही हौं, अर ए जे अनेक प्रकारके भिन्नलक्षणरूप भाव हैं, ते मैं नाही हौं। जातैं ते समग्र कहिये सारेही मेरे परद्रव्य है। भावार्थ सुगम है।६। आगे कहै हैं, जो परद्रव्यकूं ग्रहण करै है,सो अपराधवान है, बंधमें पडै है। अर जो निजद्रव्यमें संतुष्ट है सो निरपराधी है, बंधै नाही है। ऐसी सूचनिका का अगिले कथनका श्लोक है—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्यते चापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ ७ ॥

सं० टी०—अपराधवान्-सापराधः पुमान्, एव-निश्चयेन, बध्येत-कर्मबंधनं प्राप्नुयात्, सापराधत्वं लक्षयति-परद्रव्यग्रहं-परद्रव्याणां ममेति बुद्धया ग्रहं-ग्रहणं, कुर्वन् चिंतयन्, अन्योपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बंधं प्राप्नोति पुनर्नान्य इत्युक्तिलेशः अनपराधः-परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितः, यतिः-स्वयत्नचारित्वात् योगी न बध्येत न बंधनं याति। स्वद्रव्ये चिद्रूपे संवृत्तः संवरणं कुर्वन् स्थितः तदपराधरहितः न याति बंधनं ॥ ७ ॥ अथ सापराधापराधयो. बंधाबंधौ बिभर्ति—

अर्थ—जो परद्रव्यकूं ग्रहण करता संता है, सो तो अपराधवान् है, सो बंधमें पडै है। बहुरि अपने ही द्रव्यविषैं संवररूप है संतुष्ट है परद्रव्यकूं नाही ग्रहण करै है सो यतीश्वर अपराध रहित है, सो बंधै नाही॥

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ८

सं० टी०—सापराध.-परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः-सिद्धि साधनं वा राधः अपगतो राधो यस्य चेतयितुर्भावस्य वा सोऽपराधस्तेन सह वर्तत इति सापराधो यति, अनवरतं निरतरं-प्रतिसमयं, अनंतैः अनंतसंख्यावच्छिन्नै बंधनै, बध्यते बधनं याति, ननु कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कषायाध्यवसायाना चासंख्यातलोकत्वघटनादनंतत्ववचन विरुध्यते ? इति चेत्सत्य कर्मणामध्यवसायानामसंख्यातत्वे सत्यपि कर्मपरमाणूनामनंतत्वघटनात्, निरपराध'-उपयोगोन्मुख -परद्रव्यग्रहणापराधरहित, जातु-कदाचित्, बधन कर्मबंधन, नैव स्पृशति-न प्राप्नोति। अय-यतिः, नियत-निश्चित, अशुद्धं रागद्वेषकलुषीकृतं, स्व-आत्मान भजन् सन् सापराधो भवति-स्वस्वरूपपराङ्मुखत्वात्-साधु-समीचीनं यथा भवति तथा, शुद्धात्मसेवी शुद्धमात्मानं सेवत इति शुद्धात्मसेवी—मुनिः, निरपराध'—परद्रव्यग्रहणापराधरहितः, स्वद्रव्यसेवित्वादाराधक एव ॥ अथ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणे विवेचयति—

अर्थ—जो आत्मा सापराध है, सो तौ निरंतर अनंतपुद्गलपरमाणुरूप कर्मनिकरि बंधै है बहुरि जो निरपराध है, सो बंधनकूं कदाचित् नाही स्पर्शे है। बहुरि यह सापराध आत्मा है, सो तौ अपने आत्माकूं नियमकरि अशुद्धही सेवता सापराध ही होय ॥ बहुरि जो निरपराध है, सो भलेप्रकार शुद्ध आत्माका सेवनेवाला होय है ॥ आगे व्यवहारनयका आलंबी तर्क करै है जो, इस शुद्ध आत्माका सेवनका प्रयास कहिये खेद, ताकरि कहा है ? जातैं प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त हैं, ताकरि ही आत्मा निरपराध होय है। जातैं सापराधकै तौ अप्रतिक्रमणादि हैं, सो अपराधके दूरि करने वाले नाही हैं, तातैं तिनकूं विषकुंभ कहै हैं ॥ बहुरि निरपराधकै प्रतिक्रमणादिक हैं, ते तिस अपराधके दूरि करनेवाले हैं, तातैं तिनिकूं अमृतकुंभ कहै हैं ॥ सोही व्यवहारका कहनेवाला आचारसूत्रविषैं कह्या है ॥ उक्तं च गाथा—अप्पडिक्कमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ॥ अणियत्ती य अणिंदा गरहासोही य विसकुंभो १ पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ॥ णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमियकुंभो दु ॥ २ ॥ अर्थ--अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा, अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार करिके लगे दोषका प्रायश्चित्त करना, सो तो विषकुंभ है जहरका भरया घडा है बहुरि प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ऐसे आठ प्रकार लगे दोषका प्रायश्चित्त करना सो अमृतकुम्भ है ॥ ऐसे व्यवहारनयके पक्षीने तर्क किया, ताका समाधान आचार्य निश्चयनयकूं प्रधान करी कहै हैं—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोधः किंनोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥९॥

स० टी०—तत्र शुद्धात्मस्वरूपे, प्रतिक्रमणमेव—द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिरेव अज्ञानजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिस्तावदास्तामित्येवशब्दार्थः, विषं—हलाहलं प्रणीतं—स्वकार्यकरणासमर्थत्वात् तद्रूप शुभबंधनकार्यकारित्वाच्च, तत्र—आत्मस्वरूपे अप्रतिक्रमणमेव पूर्वोक्तप्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणद्वयरहिततृतीयशुद्धात्मोपयोगरूपप्रतिक्रमणं सुधाकुटः—अमृतकुंभः, स्यात् स्वकार्यकारित्वात् , तत् तस्माद्धेतोः, जनः—लोकः, प्रमाद्यति किं कथं प्रमादं करोति, अधोधः—प्रतिक्रमणेतरद्वयाधोभूमौ प्रपतन् सन्, निष्प्रमादः—प्रमादरहितः सन् ऊर्ध्वमूर्ध्वं—उपर्युपरि, अप्रतिक्रमणरूपं तार्तीयकं किं—कथं, नाधिरोहति न चटति इति स्वरूपव्यतिरिक्तस्य न किमपि प्रतिक्रमणादिनेति सूचितं ॥ ९ ॥ अथ प्रमादमापादयति—

अर्थ—अहो भाई, जहां प्रतिक्रमणहीकूं विष कह्या, तहां काहेतैं अप्रतिक्रमण अमृत होय तातैं यह जन नीचै नीचै पडता संता प्रमादरूप क्यो होय है? निष्प्रमादी भया संता ऊंचा ऊंचा क्यों नाही चढै है ॥ भावार्थ—आचार्य कहै हैं, जो अज्ञानअवस्थामैं जो अप्रतिक्रमणादिक था, ताकी तौ कथाही कहा? इहां तौ निश्चयनयकूं प्रधान करि अर द्रव्यप्रतिक्रमणादिक शुभप्रवृत्तिरूप थे, तिनिकी पक्ष छुडावनेकूं तिनिकूं तौ विषकुम्भ कहै हैं॥ जातैं ए कर्मबंधके ही कारण है, बहुरि अप्रतिक्रमणप्रतिक्रमणतैं रहित तीसरी भूमि शुद्ध आत्मस्वरूप है सो प्रतिक्रमणादितैं रहित है। तातैं तहांके अप्रतिक्रमणादिककूं अमृतकुम्भ कह्या है ॥ तीसरी भूमिविषै चढावनेकूं उपदेश किया है सो प्रतिक्रमणादिककूं विषकुम्भ कहै सुणिकरि जो प्रमादी होय ताकूं कहै है यह जान नीचा नीचा क्यों पडै है? तीसरी भूमिमैं ऊंचा ऊंचा क्यौं नाही चढै है? जहां प्रतिक्रमणकूं विषकुम्भ कह्या, तहां तौ तिसका निषेधरूप अप्रतिक्रमणही अमृतकुम्भ होगया। सो यह अप्रतिक्रमणादिक अज्ञानीकै होय सो न जानना तीसरी भूमिका शुद्ध आत्ममयी जानना ॥९॥ आगै इस अर्थकूं दृढ करते संते काव्य कहै है—

विशेष—पं० जयचन्द्रजीने सुधा कुतः स्यात् यह पाठ मानकर जहांपर प्रतिक्रमण भी हलाहल विष है वहां अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है यह अर्थ किया है और भट्टारक शुभचन्द्रजीने सुधाकुटः स्यात् यह पाठ रखकर 'प्रतिक्रमण तो विषस्वरूप है एवं अप्रतिक्रमण द्रव्यप्रतिक्रमण तथा प्रमादी अज्ञानीके अप्रतिक्रमणसे भिन्न शुद्धात्मोपयोगरूप प्रतिक्रमण अमृत कुम्भ है,यह अर्थ किया है परंतु भावांशमें कही कोई भेद नहीं क्योंकि पं० जयचन्द्रजी ने जो भाव लिखा है वही एव पदकी सामर्थ्यसे संस्कृत टीकाकारने भी स्पष्ट किया है ॥ ९ ॥

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालंबनं आत्मन्येव चालानितं चित्तमासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१०॥ चूर्णिः ॥

नोट—इस श्लोक की संस्कृतटीका उपलब्ध नहीं हुई।

अर्थ—इस कथनतैं सुखकरि बैठनेपणाकूं प्राप्त भये ऐसे प्रमादीजीवनिकूं तौ ताडै है। जे निश्चयनयका आश्रय ले प्रमादी होय प्रवर्तैं, तिनिकूं ताडिकरि उद्यम विषै लगावै हैं बहुरि

चपलपणाका प्रलय किया है। जे स्वच्छन्द वर्तें तिनिका स्वच्छंदपणा मेट्या है। बहुरि आलम्बनकूं उपाड्या है। जे व्यवहारकी पक्षकरि परद्रव्यका तथा द्रव्यप्रतिक्रमणादिका आलम्बन ले संतुष्ट होय है, तिनिका आलम्बन छुडाया है। बहुरि चित्तकूं आत्मा ही विषैं आलानित किया है, थांम्या है। व्यवहारके आलंबनमें अनेक प्रवृत्तिमें चित्त भ्रमे था, सो शुद्ध आत्मा हीं विषैं लगाया है। जहांताई संपूर्णविज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न होय, तहांताईं चैतन्यमात्र आत्माविषैं चित्त लग्या रहै ऐसैं थाम्या है, ऐसैं जानना ॥१०॥*

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥ ११ ॥

सं० टी०—प्रमादकलितः-सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रभेदप्रमादयुक्तो-मुनिः, अलस-आलस्यवान् सन, शुद्ध-भावः-शुद्धो भावः स्वभावो यस्य स,-परमात्मा कथ भवति? न कथमपि। कुत? कषायेत्यादि-कषायाणां क्रोधादीना, भर-समूह, तस्य गौरवः माहात्म्य, तस्मात्-कषायेंद्रियविकथादिपरावृत्तिजत्वात प्रमादाना। यतः कारणात् अलसता—आलस्यमेव प्रमाद., तयोरेकार्थत्वात, अतः कारणात परममननात् मुनि-योगी परमशुद्धता-अत्यंतविशुद्धिं, व्रजति-प्राप्नोति। च-पुन, अचिरात्-शीघ्रं, मुच्यते संसारबन्धनात मुक्तो भवति, किंभूतः? नियमित-निगत्रित सन, क? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मन, रस तस्य निर्भरः-अतिशयः तस्मिन, पुन. स्वभावे—आत्मस्वरूपे भवन्-स्थित सन् ॥ ११ ॥ अथ सर्वापराध च्योतति—

अर्थ—जातैं कषायका भर कहिये भार, ताका गौरव कहिये भारयापणा, तातैं अलसता कहिये अलसपणा ताकूं प्रमादकरि युक्त अलसभाव होय, सो शुद्धभाव कैसैं होय? तातैं आत्मिकरसकरि भरया स्वभावविषैं निश्चल होता संता मुनि है सो परमशुद्धताकूं प्राप्त होय है। बहुरि शीघ्रहीं थोरे ही कालमें कर्मबंधतैं छूटै है॥ भावार्थ-प्रमाद तौ कषायका गौरवतैं होय है, सो प्रमादीकै शुद्धभाव होय नाही। जो मुनि उद्यमकरि स्वभावमें प्रवर्तै है सो शुद्ध होयकरि मोक्षकूं प्राप्त होय है॥ ११ ॥ आगैं मुक्त होनेका अनुक्रमके अर्थरूप काव्य कहै हैं अर मोक्षका अधिकार पूर्ण करै है—

त्यक्त्वाशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-

*—यह श्लोक नं० ६ पर है जो कि समयसार गाथाओंकी टीकाके अनुसार ठीक है परतु यहा प्रकृतमें नं ६ पर ठीक न हो १० पर ठीक बैठना है इसलिये हमने नम्बर बदल दिया है।

च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

सं० टी०—किल इत्यागमोक्तौ, यः–योगी, स्वय स्वरूपेण कृत्वा, स्वद्रव्ये–स्वात्मद्रव्ये, रतिं–रमणं, एति–गच्छति, किंकृत्वा ? तत्–प्रसिद्धं, समग्रं–निखिल, परद्रव्यं–कर्मादिद्रव्यं त्यक्त्वा–हित्वा, किंभूतं ? अशुद्धिविधायि–रागाद्यशुद्धिकारकं, सः–मुनिः, मुच्यते कर्मबंधनात् । कीदृशः सन् ? नियतं–निश्चितं, सर्वेत्यादिः–पूर्वोक्तैः–समस्तापराधैः, च्युतः–रहितः सन्, किंकृत्वा ? बंधध्वंसमुपेत्य, स्वेत्यादिः–स्वस्य आत्मनः ज्योतिः—प्रकाशः तेन अच्छ–निर्मलं, उच्छलत्–उदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्य च तदेवामृतपूरः सुधा–समूहः, तेन पूर्णः–संपूर्णः, महिमा–माहात्म्यं यस्य सः ॥ १२ ॥ अथ मोक्ष महते—

अर्थ–जो पुरुष, निश्चयकरि अशुद्धताका करनेवाला जो परद्रव्य, ताकूं सर्वकूं छोडिकरि अर आप अपने निजद्रव्यविषैं रतीकूं प्राप्त होय है–लीन होय है, सो पुरुष नियमतैं सर्व अपराधतैं रहित भया संता, बन्धका नाशकूं प्राप्त होयकरि नित्य उदयरूप भया संता, अपना स्वरूपका प्रकाशरूप ज्योतिकरि निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृतका प्रवाह, ताकरि पूर्ण है महिमा जाकी ऐसा शुद्ध होता संता कर्मनितैं छूटै है ॥ भावार्थ–पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करि अपना निजद्रव्य आत्मस्वरूपविषैं लीन होय है, सो सर्व रागादिक अपराधतैं रहित होय आगामी बंधका नाश करै है अर नित्य उदयरूप केवलज्ञानकुं पाय शुद्ध होय सर्व कर्मका नाश करि मोक्षकूं प्राप्त होय है, यह मोक्ष होनेका अनुक्रम है ॥ ऐसैं मोक्षका अधिकार पूर्ण भया, ताके अंत मंगलरूप ज्ञानकी महिमाका कलशरूप काव्य कहै हैं—

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धं ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचलं स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १३ ॥

सं० टी०—एतत् पूर्णं–संपूर्णं ज्ञान, ज्वलितम्–दीपित, प्रकाशं आप्तमित्यर्थः, कीदृक्ष ? स्वस्य–आत्मनः, महिम्नि–माहात्म्ये, लीन–एकतामापन्नं, किंभूते ? अचले–निष्कंपे, पुनः कीदृक्ष ? अत्यंतेत्यादिः–अत्यतं गभीरं अतुलस्पर्शं तच्च तद्धीर च, कुतः ? एकेत्यादिः—एकाकारेण, सर्वत्र ज्ञानाकारेण, स्वस्य–आत्मन, रसः, तस्य भरः–अतिशयः, तस्मात्, पुनः मोक्ष कर्ममोचनमोक्षं, पुनः नित्येत्यादि–नित्योद्योतेन–निरावरणज्ञानप्रकाशेन, स्फुटिता–प्रकाशिता, सहजा–स्वाभाविकी, अवस्था–दशा, लक्षणया स्वरूपं यत्र तं, पुनः एकांतशुद्धं एकांतेन—एकधर्मेण–कर्ममुक्तिलक्षणेन शुद्धं–निर्मल समस्तपदाधिक्यादत्यंतविशुद्धं ॥ १३ ॥

अर्थ—यह ज्ञान है सो पूर्ण भया संता देदीप्यमान प्रगट भया । कहा करता संता प्रगट भया ? कर्मका बंध था ताके छेदतें अविनाशी अतुल जो मोक्ष, ताकूं प्राप्त होता संता । बहुरि कैसा प्रगट भया ? नित्य है उद्योत प्रकाश जाका ऐसी प्रफुल्लित भई है स्वाभाविक अवस्था

-जाकी। वहुरि कैसा प्रगट भया ? एकांतशुद्ध कहिये ताकै कर्मका मैल न रह्या अत्यंत शुद्ध भया प्रगट भया। वहुरि कैसा प्रगट भया ? एक जो अपना ज्ञानमात्र आकार, ताका निजरसका भारतैं अत्यंत गंभीर है धीर है जाकी थाह नाही अर जामैं किछू आकुलता नाही। वहुरि प्रगट होयकरि कहा कीया ? अचल जो कोई प्रकार चलै नाही ऐसी आपकी महिमा, ता विषै लीन भया। भावार्थ—यह ज्ञान प्रगट भया सो कर्मका नाशकरि मोक्षरूप होता अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप अत्यंत शुद्ध समस्त ज्ञेयाकारकूं गौण करि ज्ञानका प्रकाश "जाका थाह नाही जामै आकुलता नाही" ऐसा प्रगट देदीप्यमान होयकरि अपनी महिमाविषै लीन भया। ऐसैं रंगभूमिविषै मोक्षतत्त्वका स्वांग आया था, सो ज्ञान प्रगट भया, मोक्षका स्वांग निसरि गया।

ज्यों नर कोय परचो दृढबंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी।
चिंत करै निति कम कटै यह तौऊ छिदै नही नैक न टारी ॥
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी।
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

इसप्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषैं आठवां मोक्षाधिकार पूर्ण भया ॥८॥

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥९॥

सकलाशर्मविमुक्तं युक्तं सुज्ञानसंपदा सारं। भजते मुक्ति वचसाऽमृतचन्द्रोऽमृतमयो जंतुः (?) ॥

दोहा—सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ॥
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥

इहां मोक्षतत्त्वका स्वांग निकसनेके अनंतर सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है॥ रंगभूमिविषै जो जीवका, कर्ता, कर्म, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये आठ स्वांग आये तिनिका नृत्य भया। अपना अपना स्वरूप दिखाय निकसि गये। अब सर्व स्वांग दूरि भये एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है। तहां प्रथम मंगलरूप ज्ञानपुंज आत्माकी महिमाका काव्य कहै है—

'अथ सर्वविशुद्धं ज्ञानमुदेति—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि—
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १ ॥

सं० टी०—अयं ज्ञानपुञ्जः-बोधस्यानन्तसंख्यावच्छिन्नाविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमूहः,प्रतिपदं-एकेंद्रियादिस्थान प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थान प्रति, स्फूर्जति-गर्जति-द्योतत इत्यर्थः । किंकृत्वा ? नीत्वा प्राप्य, क ? सम्यक्प्रलयं-निश्शेषविनाश, कान् ? निखिलान्-समस्तान् कर्त्रेत्यादिः-कर्ता कर्मकारकः भोक्ता कर्मफलभोक्ता, कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेवादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीनां ते तथोक्ताः, ते च ते भावाश्च परिणामाः तान्, किंभूतः ? दूरीभूतः, कुतः ? बंधेत्यादि-कर्मबंधमोचनयोः प्रक्लृप्तः—कल्पना तस्याः, पुनः शुद्धः-निर्मलः, पुनः कीदृक्षः ? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रस. अनुभवः तस्य विसरं समूहः स एवापूर्णः-सपूर्णः पुण्याचलः-प्रशस्ताचलः-उदयाचलस्तत्रार्चि-तेज , यस्य सः, टंकेन उत्कीर्णः प्रकटः, महिमा माहात्म्यं यस्य स ,स्वरसेत्यादिरेकपद वा स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिश्चासौ टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा च ॥ १ ॥ अथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्व कीर्तयति—

अर्थ—ज्ञानका पुञ्ज आत्मा है, सो स्फुरायमान प्रगट होय है ॥ कहाकरी प्रगट होय है ? समस्तही कर्ता अर भोक्ता इत्यादिक भाव है तिनि सर्वहीकूं भलें प्रकार प्रलय कहिये नाशकूं प्राप्त करि प्रगट होय है ॥ बहुरि कैसा है ? प्रतिपद कहिये वारंवार नाशकूं प्राप्त करि प्रगट होय है । कर्मके क्षयोपशमके निमित्ततैं अनेक अवस्था होय हैं, तिनिप्रति बंधमोक्षकी जो कल्पना प्रवृत्ति तातैं दूरीभूत है-दूरवर्त्ती है ॥ बहुरि शुद्ध है शुद्ध है । दोय वार कहनेतैं रागादिक मल अर आवरण दोऊतैं रहित है । बहुरि कैसा है ? अपना निजरस जो ज्ञानरस, ताका विसर कहिये फैलना, ताकरि आपूर्ण कहिये भरया ऐसा पवित्र अर अचल है अर्चि कहिये दीप्ति प्रकाश जाका । बहुरि कैसा है ? टंकोत्कीर्ण है प्रगट महिमा जाकी । भावार्थ—शुद्धनयका विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है सो कर्ताभोक्तापणाका भावसूं रहित है । बहुरि बंधमोक्षकी रचनाकरि रहित है, अर परद्रव्यतैं अर सर्व परद्रव्यके भावनितैं रहित है, तातैं शुद्ध है । अर अपने निजरसका प्रवाहकरि पूर्ण देदीप्यमान ज्योतीरूप टंकोत्कीर्ण जाकी महिमा है। सो ऐसा ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होय है । १॥ अब सर्व विशुद्धज्ञानकूं प्रगट करै हैं । तहां प्रथम ही जो कर्ता भोक्ताभाव हैं तिनकूं न्यारा दिखावै है, ताकी सूचनिकाका श्लोक है—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ २ ॥

सं० टी०—अस्य चितः-चिद्रूपस्य, कर्तृत्वं-कर्मकारकत्वं, न स्वभावः—न स्वरूप, किमिव ? वेदयितृत्ववत्-यथा वेदयितृत्वं—भोक्तृत्व, आत्मनो न सभवति तथा कर्तृत्वमपि । अय-आत्मा, कर्ता कर्मणां कारकः इति प्रतीतिर्दृश्यते तत्कथ ? आत्मा कारकः-कर्मणां कर्ता भवेत्, कुतः ? तदभावात् तस्य ज्ञानस्य, अभावः-विनाशस्तस्मात् अज्ञानतो मया कृतमिति मनुते तदभावादकर्तृत्वमेव ॥ २ ॥ अथाकर्तृकत्वं चिन्तयति—

अर्थ—इस चित्स्वरूप आत्माका कर्तापणा स्वभाव नाही है जैसे वेदयितृत्व कहिये भोक्तापणा स्वभाव नाही है, तैसे । सो यह आत्मा कर्ता मानिये है, सो अज्ञानतैं मानिये है । अर जब अज्ञानका अभाव होय है, तब अकारक कहिये कर्त्ता नाही है ॥

अकर्ता जीवोयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥३॥

सं० टी०—अमुना प्रकारेण स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्य जीवस्य तेन सह कारणाभावाभाव सर्वद्रव्याणा द्रव्यातरेणोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् इति प्रकारेण, अयं जीव-चिद्रूपः, अकर्ता-कर्मणामकारकः सन् स्थितः सुस्थः, किंभूतः ? स्वरसतः स्वभावतः कर्मोपाधिनिरपेक्षत' विशुद्धः निर्मलः, स्फुरदित्यादि-स्फुरति प्रकाशमानानि तानि च तानि चिज्ज्योतींषि च ज्ञानतेजांसि च तैः, छुरितेत्यादिः—छुरित—प्रकाशित, भुवनमेव-विश्वमेव, भोगभवन-परिपूर्णगृहं येन स, तथापि आत्मन समस्तविज्ञानमयत्वेनाकर्तृकत्वे सत्यपि, किल इति निश्चित, इह-जगति, ज्ञानावरणादिकर्मभि, स्यात्-भवेत् खलु—इति निश्चितं, यत् यस्माद्धेतो. अस्य—आत्मन., असौ बंधः-सश्लेषः, प्रकृतिभि. स.—कोऽपि-अर्दिष्ट', गहन अज्ञाततः स्वरूपः, अज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य, महिमा-माहात्म्य, स्फुरति विजृंभते, अतिशयालकारोय ॥ ३ ॥ अथ भूय. कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति—

अर्थ—ऐसैं जीव है सो अपने निजरसतै विशुद्ध है। यातै परद्रव्यका तथा परभावनिका अकर्ता ठहरया। कैसा है जीव ? स्फुरायमान होता-फैलता जो चैतन्यज्योति, तिनिकरि व्याप्त भया है भुवन कहिये लोकका आभोग कहिये मध्य जाकरि, ऐसा है भवन कहिये होना जाका। ऐसा है तौऊ याकै इस लोकविषै प्रगट कर्मप्रकृतिनिकरि बंध होय है, सो यह निश्चयकरि अज्ञानका कोई ऐसा ही महिमा है, सो वडा गहन है-ताका थाह न पाइये॥ भावार्थ—शुद्धनयकरि जीव परद्रव्यका कर्ता नाही अर सर्व ज्ञेयनिविषैं जाका ज्ञान व्यापनेवाला है तौऊ याकै कर्मका बंध होय है सो यह कोई अज्ञानका वडा महिमा है॥ ३॥

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः। ४।

स० टी०—अस्य चितः चिद्रूपस्य, भोक्तृत्वं-कर्मफलभोक्तृत्वं, न स्वभावः, न स्वरूप स्मृतः-कथितः, अज्ञानादेव-परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणादनवबोधादेव, अयं—चेतयिता, भोक्ता-कर्मफलानुभोजकः, तदभावात्—प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्, अवेदकः—कर्मफलानभोजकः॥ ४॥ अथ ज्ञान्यज्ञानाभिस्वरूपं सूत्रयति—

अर्थ—इस आत्माका कर्तास्वभाव जैसे नाही है, तैसेही भोक्तापणा भी स्वभाव नाही है, यह अज्ञानहीतैं भोक्ता होय है॥ वहुरि जब अज्ञानका अभाव होय है तब अवेदक है, भोक्ता नाही है॥४॥

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको

ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ ५ ॥

स० टी—अज्ञानी-पुमान्, प्रेत्यादिः-प्रकृतेः कर्मणः, स्वभावः-स्वरूप, तत्र निरतः-निःशेप रक्तः सन् शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन तयोरेकत्वदर्शनेन तयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमपि अहंतयानुभवन्, नित्यं वेदकः-कर्मफलभोक्ता भवेत, तु-पुन, ज्ञानी पुमान् प्रेत्यादिः-प्रकृतेः स्वभावात् विरतः-विरक्तः सन् शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहतयानुभवन् जातुचित् कदाचिदपि न वेदकः उदितकर्मफलभोक्ता न, निपुणैः भेदज्ञैः पुरुषैः, अज्ञानिता-अज्ञानस्वभावाः, त्यज्यता-मुच्यता, किंकृत्वा ? इति-अमुना प्रकारेण, एव-पूर्वोक्त ज्ञान्यज्ञानिनोर्बंधाबंधलक्षणं नियमं निरूप्य-ज्ञात्वा, पुनः आसेव्यतां ध्यायतां, का ? ज्ञानिता-ज्ञानित्वं, कैः ? अचलितैः-अचलत्वं प्राप्तैः, क ? महसि-तेजसि, किंभूते ? शुद्धैकात्ममये-शुद्धः निष्कलङ्कः स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन् ॥ ५ ॥ अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति—

अर्थ—अज्ञानी जन है सो तौ प्रकृतिस्वभावविषैं रागी है-लीन है, ताहीकूं अपना स्वभाव जानै है, तातैं सदाकाल ताका वेदक है-भोक्ता है ॥ वहुरि ज्ञानी है सो प्रकृतिस्वभावविषैं विरागी है-विरक्त है, ताकूं परका स्वभाव जानै है तातैं कदाचित भी वेदक नाही है भोक्ता नाहीं है सो आचार्य उपदेश करै है-जो, जे निपुण प्रवीण पुरुष हैं, ते ज्ञानीपणाका अर अज्ञानीपणाका ऐसा नियम निरूपणकरि विचारिकरि अज्ञानीपणाकूं तौ छोडौ अर शुद्ध आत्मामय जो एक मह-तेज प्रताप, ताविषैं निश्चल होयकरि ज्ञानीपणाकूं सेवन करौ ॥ ५ ॥

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥

स० टी० —ज्ञानी-पुमान् शुभाशुभं कर्म न करोति-न विधत्ते, न वेदयते-कर्मफलं न भुंजति, किलेति निश्चितं, अयं-ज्ञानी, केवलं-कर्तृत्वभोक्तृत्वराहित्येन परं, तत्स्वभावं तस्य कर्मणः स्वभावं स्वरूपं मधुरकटुकादि जानाति-तत्स्वभावपरिच्छेदको भवति हि-पुनः सः-आत्मा, मुक्त एव-कर्मफलरहित एव, परं-केवलं, जानन् विश्वं परिच्छिन्दन् सन्, शुद्धेत्यादिः, शुद्धश्चासौ स्वभावः स्वरूपं च, तत्र नियतः-निश्चलत्वमापन्नः, कुतः ? करणवेदनयोः करणं-कर्मकर्तृत्वं च, वेदनं-कर्मफलभोक्तृत्वं च तयोरभावात् कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावराहित्यात् ॥ ६ ॥ अथात्मनः कर्तृत्वं दूषयति—

अर्थ—ज्ञानी है सो कर्मकूं स्वतंत्र होय करै नाही है । तैसेही वेदै नाही है । केवल तिस कर्मस्वभावकूं जानैही है ॥ ऐसे केवल जानता संता करनेका अर वेदनेका अभावतैं शुद्धस्वभाव के विषैं निश्चयकरि मुक्त ही है—कर्मनितैं छुट्या ही कहिये ॥ भावार्थ—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनपणै कर्ता भोक्ता नाही, केवल ज्ञाता ही है । तातैं शुद्धस्वभावरूप भया संता मुक्तही है । जो

कर्म उदय आवै भी है तौ ज्ञानीका कहा करै ? जेते निवलाई रहै तेते कर्म जोर चलावो सवलाई क्रमतैं वधाय कर्मका निर्मूल नाश करैहीगा ॥ ६ ॥

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षतां ॥ ७ ॥

मं० टी० —ये तु-जिनसिद्धान्ताभासाः, तमसावृताः अज्ञानव्याप्ताः, विचाराराहित्यात्, आत्मानं, कर्तारं कर्मकारकं, पश्यन्ति ईक्षन्ते, तेषां—जैनाभासानां, मुमुक्षतामपि मोक्षमिच्छतामपि न मोक्षः—कर्ममोचनलक्षणो मोक्षो न स्यात् आत्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् तदभ्युपगमे च सदैव बद्धत्वप्रसंगः क इव सामान्यजनवत् सामान्यजनानां—वैशेषिकादीनां यथा 'कर्ता शिवस्त्रिजगतां' तथा च प्रयोगः—सर्वं उर्वीपर्वततरुतन्वादिकं धीमद्धेतुकं कार्यत्वात् अचेतनोपादानत्वात् सन्निवेशविशिष्टत्वात् वा वस्त्रादिवदिति यस्तु धीमान् स ईश्वरः। तस्य विचार्यमाणस्य मुक्तत्वायोगात् स हि—अशरीरः सशरीरो वा करोति ? न तावदाद्यः अशरीरस्य कर्तृत्वव्याघातात् मुक्तात्मवत्। सशरीरमात्रकर्तृत्वे उपक्षीणशक्तिकत्वात् तदकारणे साधनस्य व्यभिचारात्, सकर्मकत्वे संसारिजनवदकर्तृकत्वाच्च तद्वदमुक्तत्वं ॥ ७ ॥ अथ तथैव कर्तृत्वं व्याहन्ति—

अर्थ—जे पुरुष अज्ञान अंधकारकरि आच्छादे हुये आत्माकूं कर्ता मानै हैं, ते मोक्षकूं चाहते है, तौऊ तिनिकै सामान्यजन-लौकिकजनकीज्यौं मोक्ष नाही होय है ॥ ७ ॥

विशेष—वैशेषिक आदि ईश्वरको जगतका कर्ता मानते हैं। ईश्वर कर्ता है इस बातकी सिद्धिके लिये वे यह अनुमान भी बतलाते हैं—कि जिसप्रकार वस्त्र कार्य है उसके उपादान कारण तंतु अचेतन हैं और उसकी विलक्षण रचना है इसलिये उसका कर्ता निश्चित है उसी प्रकार पृथ्वी पर्वत वृक्ष और शरीर आदि पदार्थ भी कार्य हैं इनके भी उपादान कारण अचेतन हैं और ये विलक्षण रचनाके धारक हैं इसलिये इनका भी कोई शक्तिमान विद्वान कर्ता होना चाहिये और जो वह कर्ता है वही ईश्वर है। परन्तु जिस समय इस कर्ताके सिद्ध करनेवाले अनुमानपर विचार किया जाता है उससमय वह ईश्वर, मुक्त—समस्त कर्मवासनाओंसे रहित अनुभवमें नहिं आता क्योंकि यहांपर दो विकल्प आकर खडे होते हैं—वह पृथ्वी आदिको बनाने वाला शरीर सहित है कि वा शरीर रहित ? यदि शरीर रहित माना जायगा तो झूठ है क्योंकि जिसप्रकार सिद्धात्मा शरीररहित हैं इसलिये वे कर्ता भी नही, उसीप्रकार यदि ईश्वर शरीर रहित होगा तो कभी कर्ता नहिं हो सकता। यदि उसे कर्ता माननेके लिये उसको शरीर सहित मानोगे तो यहांपर भी दो विकल्प उठते हैं कि वह केवल शरीरको ही बनाता है वा अन्यपदार्थोंको भी ? यदि केवल शरीरका ही बनाने वाला है तो उसकी समस्त शक्ति तो उसीमें क्षीण हो जायगी फिर वह बनावेगा क्या ? और ऐसा करनेमे कार्यत्व आदि हेतु भी दुष्ट हो जायेगा—क्योंकि तुम्हारी व्याप्ति तो यह है कि जितने कार्य हैं उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य

है सो कार्य तो पृथ्वी आदि भी है उनका कोई कर्ता निश्चित न हुआ। कहोगे कि वह शरीर आदि सबका कर्ता है तो जिसप्रकार ईश्वरसे इतर शरीरधारी संसारी सब कार्योंके कर्ता नहिं हो सकते उसीप्रकार उनके समान ईश्वर भी कर्ता न ठहरेगा तथा संसारी जीवोंके समान वह भी मुक्त न हो सकेगा इसलिये किसीभी आत्माको कर्ता न मानना यही पक्ष समीचीन है।७।

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ ८ ॥

सं० टी०—परेत्यादिः-पुद्गलद्रव्यजीवद्रव्ययोः सर्वोऽपि-तादात्म्यादिलक्षणः संबंधः, नास्ति, कर्त्रित्यादिः तयोर्मध्ये आत्मनः कर्तृत्वं, कर्मणां कर्मत्व, एतल्लक्षणसंबंधाभावे सति, तत्कर्तृता-तेषां कर्मणामात्मनः कर्तृत्वं कुतः ? न कुतोऽपि स्यात् ॥ ७ ॥ अथ परद्रव्यात्मतत्त्वयोः संबंधं निवारयति—

अर्थ—परद्रव्यका अर आत्मतत्त्वका सर्वही संबंध नाही है, ऐसे कर्त्ताकर्मपणाका संबंधका अभावकूं होतै परद्रव्यका कर्तापणा काहेतैं होय ? भावार्थ—परद्रव्यका अर आत्माका किछूभी संबंध नाही, तब कर्त्ताकर्मसंबंध काहेकूं होय ? ऐसे होतै कर्तापणा काहेकूं होय ? आगे व्यवहारनयके वचनकरि कहिये है, जो, परद्रव्य मेरा है सो जे व्यवहारहीकूं निश्चय मानै हैं, ते अज्ञानतै मानै है, याकूं दृष्टांतपूर्वक कहै है—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यंत्वकर्तृ मुनयश्च जनाः स्वतत्त्वं ॥९॥

सं. टी.—इह-जगति, यतः कारणात्, एकस्य वस्तुनः-चेतनस्य, अचेतनस्य वा अन्यतरेण सार्धं-सह, सकलोपि-समस्तोऽपि, सबंधः—तादात्म्यलक्षणः, गुणगुणिभावलक्षणः, लक्ष्यलक्षणभावः, वाच्यवाचकभावलक्षणः, विशेष्यविशेषणभावलक्षणः इत्यादिः संबंधो भिन्नवस्तुनोः निषिद्ध एव-प्रतिषिद्ध एव, तत् तस्मात्कारणात् वस्तुभेदे-वस्तुनोः-जीवपुद्गलयोः भेदे-पृथक्त्वे सति, कर्तृकर्मघटना-कर्तृकर्मणोः-जीवपुद्गलयोः, कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना-संभावना, नास्ति च-पुनः मुनयो जनाः-मुनीश्वरलक्षणा लोकाः, अकर्तृ-कर्तृत्वव्यपदेशरहितं, स्वतत्त्वं-स्वात्मस्वरूपं पश्यंतु-अवलोकयंतु ॥ ९ ॥ अथाज्ञानिस्वभावं नेनेक्ति—

अर्थ—जा कारणतैं एकवस्तुकै अन्यवस्तुकरि सहित इस लोकमैं संबंध हैं, सो समस्तही निषेध्या है तातैं जहां वस्तुभेद है तहां कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिही नाही है ॥ तातैं लौकिकजन भी अर मुनिजन भी वस्तुका तत्त्व कहिये यथार्थस्वरूप ऐसाही देखो जो कोई काहूका कर्ता नाही परद्रव्य परका कर्ताही श्रद्धानमैं ल्यावो ।१०। आगैं कहै हैं,जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभावका नियम नाही जानै है, ते अज्ञानी भये कर्मकूं करै है, ते भावकर्मके कर्ता होय हैं, ऐसैं अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानतें चेतन ही है, ताकी सूचनिकाका काव्य है—

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः ।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्मकर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।१०।

स. टी.—तु–पुनः, ये–सांख्यादयो वादिनः इमं प्रसिद्धं, स्वभावनियमं–स्वभाव–चेतनत्वं अचेतनत्वं तस्य नियमं न कलयंति न मन्यते सांख्यादीनां प्रकृत्यादितत्त्वानामेतत्त्वघटनात्, कीदृशास्ते ? अज्ञानेत्यादिः अज्ञाने मग्नं–अज्ञानाच्छादितं, महः ज्ञानज्योतिः येषां ते वतेति खेदयति ते–वादिनः, वराकाः–स्वतत्त्वव्याघातात् स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः सतः केवलं कर्मज्ञानावरणादिप्रकृतिं उपार्जयंति हीनि स्फुटं तत एव अज्ञानादेव भावकर्म करोति न द्रव्यकर्म करोति यतः तत एव स्वयं अज्ञानादिः भावकर्मकर्ता भावकर्मणां रागद्वेषादीनां कर्ता–कारकः भवति, अन्यः अज्ञानादिस्वभावाद्भिन्नः चेतन एव–चेतयति स्वस्वरूपमिति चेतन एव भावकर्मकर्ता न भवति ॥ १० ॥ अथ कर्मणः कार्यत्वं कीर्तयति—

अर्थ—जे पुरुष वस्तुका स्वभावका पूर्वोक्त नियमकूं नाही जानै हैं तिनिकूं आचार्य खेद करि कहै हैं—अहो अज्ञानविषैं मग्न भया है मह कहिये पुरुषार्थ–पराक्रमरूप तेज जिनिका, ते वराक कहिये रांका भये संते कर्मकूं करै हैं, ज्ञान तैं छूटि गये हैं, तातैं दूसरी तीसरीभावकर्मका आप चेतनही कर्ता होय है अन्य नाही है । भावार्थ—जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है सो वस्तूका स्वरूपका नियम तौ जानै नाही अर परद्रव्यका कर्ता बनै, तब आप अज्ञानरूप परिणमैं, तब अपना भावकर्मका कर्ता अज्ञानीही है, अन्य नाही है ॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगाकृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥११॥

सं० टी० —कर्म भावकर्म पक्षः, अकृतं न भवितुमर्हति इति साध्यो धर्मः, कार्यत्वात् हेतुः तत्रान्वयव्याप्तिः यद्यत्कार्यं तत्तदकृतं न भवति यथा–घटादिः कार्यं च भावकर्म तस्मादकृतं न । व्यतिरेकव्याप्तिश्च यदकृतं तन्न कार्यं यथा व्योमादिः न च तथेदं तस्मान्न तथेति । कस्य कार्यमिति प्रश्ने तच्च कर्म जीवप्रकृत्योः जीवश्च प्रकृतिश्च तयोः,द्वयोः,कार्यं न,कुतः ? अज्ञायाः अचेतनायाः प्रकृतेः,स्वेत्यादिः-स्वस्य स्वभावकर्मणः कार्यं सुखदुःखादि तस्य फलं–इष्टानिष्टावाप्तिपरिहारपूर्वकसुखदुःखानुभवनं भुनक्तीति स्वकार्यफलभुग् तस्य भावस्तस्यानुषंगाकृतिः संपर्कप्रसंगः स्यात् । ननु द्वयोर्मा भवतु कार्यं एकस्याः प्रकृतेः द्रव्यकर्मणः सांख्यपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमसां समावस्थायाः प्रकृतेर्वा कार्यं ? इति चेन्न, अचित्त्वलसनातः,प्रकृतेः अचेतनत्व स्वभावात् तत्कार्यत्वे च तस्याचेतनत्वानुषंगात् ततो द्वयोरेकस्याः कार्यकरणायोगात्,अस्य भावकर्मणः जीवति दशभिः प्राणैरिति जीवः संसार्यात्मा कर्ता—कारकः, च–पुनः, तत्–कर्म, तत्–प्रसिद्धं, भावकर्म जीवस्यैव नान्यस्य किंभूतं ? चिदनुगं–चेतनासहितं तथा चोक्तं श्रीमदाप्तपरीक्षायां—

भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भाति नुः। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिच्चिदभेदतः॥

यत् यस्मात् कारणात् पुद्गलः ज्ञायको न अचेतनत्वात् ॥ ११ ॥ अथ प्रकृतिवादिनं सांख्यं प्रतिक्षिपति-

अर्थ—कर्म है सो कार्य है, तातैं विना किया होय नाही। बहुरि सो कर्म जीवका अर प्रकृतिका दोऊका किया नाही। जातें प्रकृति तौ जड है, ताकै अपने अपने कार्यका फलका भोगनेका प्रसंग आवै है बहुरि एक प्रकृतिकीही कृत कहिये कार्य नाही हैं जातें प्रकृति तौ अचेतन है अर भावकर्म चेतन है। तातै इस भावकर्मका कर्त्ता जीव ही है यह जीवहीका कर्म है। जातें चेतनके अनुग कहिये चेतनतैं अन्वयरूप हैं—चेतनके परिणाम हैं। अर पुद्गल है सो ज्ञाता नाही है तातैं पुद्गलके नाही हैं॥ भावार्थ—चेतनकर्म चेतनहीकैं होय, पुद्गल जड है, ताकै चेतनकर्म कैसे होय ॥११॥ आगैं जे केई भावकर्मका भी कर्ता कर्महीकूं माने हैं, तिनिकूं समझावनेकूं स्याद्वादकरि वस्तुकी मर्यादा कहै है। ताकी सूचनिकाका काव्य है—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥१२॥

सं० टी—कैश्चित्—सांख्यमतानुसारिभिः इति पूर्वोक्ता श्रुतिः-जिनोक्तं सूत्रं कोपिता-विराधिता किंभूता श्रुतिः ? अचलिता प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या, किंभूतैस्तैः ? हतकैः-आत्मनोऽकर्तृत्वप्रतिपादकैः आत्मा-चेतयिता, कर्ता तु प्रकृतिः, किं कृत्वा ? कर्मैव-प्रकृतिरेव कर्तृ-सुखदुःखादिकारकं, प्रवितर्क्य—प्रविचिंत्य, कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः, कर्मैव ज्ञानिनं करोति तत्कर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः, तथैव निद्रासुखदुःखमिथ्यादृष्टयसंयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकशुभाशुभ-प्रशस्ताप्रशस्तादिकं तत्तत्सबन्धि कर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः तथा च जैनी श्रुतिः-पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म नरं च तथा यत्परं हंति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादिनिषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात् आत्मनः-जीवस्य कर्तृतां-भावकर्मकारित्वं क्षिप्त्वा-निराकृत्य, प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषां जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिंचित्कर-त्वमेव पुरुषत्वव्याघातात् इति किं ? एष आत्मा कथंचित् कर्ता केनचित् कारणेन कारकः अन्यथा मुक्तात्मना कर्तृत्वप्रसंगात्। तेषां प्रकृतेः कर्तृत्ववादिनां, बोधस्य ज्ञानस्य, संशुद्धये-निर्मलीकरणाय, वस्तुस्थितिः वस्तुनः व्यवस्था स्तूयते-प्रशस्यते किंभूता सती ? स्यादित्यादि स्याद्वादेन-कथंचिद्वादेन प्रकृत्यादीनां नित्यत्वादेः, प्रतिबन्धः-प्रतिषेधः तत्कथं ? प्रधानं व्यक्तादपैति नित्यत्वनिराकरणात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् इत्येकांतनिषेधः तेन लब्धो विजयो यया सा, अथवा स्याद्वाद एव प्रतिबन्धः-कारणं वस्तुस्थितेः, तेन लब्धो विजयो यया सा, कीदृशानां तेषां ? उद्धतेत्यादिः-उद्धतः-उत्कटः चासौ मोहश्च मोहनीयं कर्म तेन मुद्रिता आच्छादिता, धीः-धारणावती बुद्धिर्येषां तेषां ॥ १२ ॥ अथ निश्चयेनाकर्तृत्वमात्मनो वक्ति—

अर्थ—केई आत्माके घातक सर्वथा एकान्तवादी तिनिनैं कर्महीकूं कर्त्ता विचारि अर

आत्माके कर्तापणा दूरि करि अर यह आत्मा कथंचित् कर्त्ता है ऐसैं कहनेवाली निर्बाध श्रुति कहिये जिनेश्वरकी वाणी है, ताकूं कोप उपजाया ऐसे सर्वथा एकांतवादी हैं ते कैसे हैं ? उद्धत उत्कट तीव्र उदय भया जो मोह मिथ्यात्व ताकरि मुद्रित भई है बुद्धि जिनकी, तिनिका बोध कहिये ज्ञान, ताकी सम्यक्प्रकार शुद्धिके अर्थि वस्तुकी मर्यादा कहिये है ।। कैसी कहिये है ? स्याद्वादके प्रतिबंध कहिये प्रबन्ध, ताकरि पाइये है विजय कहिये निर्बाधसिद्धि जाकी ।। भावार्थ- केई वादी सर्वथा एकांतकरि कर्मका कर्ता कर्महीकूं कहै हैं । अर आत्माकूं अकर्त्ताही कहै हैं ते आत्माका स्वरूपके घातक हैं । अर जिनवाणी है सो स्याद्वादकरि वस्तुकूं निर्बाध साधै है, सो वाणी आत्माकूं कथंचित् कर्त्ता कहै है, सो तिनि सर्वथा एकांतिनिपर वाणीका कोप है तिनकी बुद्धि मिथ्यात्वकरि मुंदि रही है । तिनिके मिथ्यात्वके दूरि करनेकूं आचार्य कहै है, स्याद्वादकरि जैसी वस्तुसिद्धि होय है, तैसे कहिये हैं ।

विशेष—इस श्लोकका उल्लेख सांख्यमतके खंडनकेलिये किया है क्योंकि सांख्यमतमें यह बात मानी है कि कर्म-प्रकृति कर्ता है पुरुष नही वह चेतनस्वरूप है । संस्कृतटीकामें स्पष्टरूपसे इस श्लोककी व्याख्या की गई है ।। १२ ।।

मा कर्तारममी स्पृशंतु पुरुषं सांख्या इवाप्याहंताः
कर्तारं कलयतु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं पर ।।१३।।

सं० टी०-अमी आर्हताः-अर्हंत -भगवत इमे, अर्हन्देवो येषां ते आर्हताः, पुरुष-आत्मान, कर्तारं- -भावकर्मकर्तार, मा स्पृशतु मागीकुर्वंतु, के इव ? सांख्या इव यथा सांख्या आत्मनोऽकर्तृत्वं प्रतिपादयति तथा साक्षात् ज्ञानरूपेण जैना अपि,किल इत्यागमोक्तो,भेदावबोधाद्-भेदज्ञानाद् अध.अभेदज्ञावस्थाया त-आत्मान, सदा संसारावस्थापर्यंत, कर्तार-भावकर्मकारक, कलयतु जानतु, तु-पुन., ऊर्ध्वं-अज्ञानादुपरि-भेदविज्ञाना- वस्थायां, एन-आत्मानं, स्वयं-स्वभावत. प्रत्यक्ष अध्यक्ष यथा भवति यथा च्युतकर्तृभाव-त्यक्तकर्तृ स्वभाव पश्यंतु-अवलोकयतु मुनय किंभूत ? उद्धतेत्यादि-उद्धत च तद्बोधधाम-ज्ञानज्योतिः तत्र नियत नियंत्रित, अचल निष्कंप, ज्ञातार-ज्ञायक एक कर्मद्वैतरहितत्वादद्वैतं परं जगच्छ्रेष्ठ, ।। १३ ।। अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिन सौगत निराचष्टे-

अर्थ—आर्हत कहिये अर्हतके मतके जैनी जन हैं ते आत्माकूं सर्वथा अकर्त्ता सांख्यमती- निकीज्यों मति मानु । तिस आत्माका भेदविज्ञान भये पहलै कर्ता मानु अर भेदज्ञान भये ताके उपरि उद्धत ज्ञानमंदिरविषै निश्चित नियमरूप कर्त्तापणाकरि रहित निश्चल एक ज्ञाता ही आपै आप प्रत्यक्ष देखो ।। भावार्थ—सांख्यमती पुरुषकूं सर्वथा एकांतकरि अकर्ता शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानै है सो ऐसैं माननेतैं पुरुषकै संसारका अभाव आवै है प्रकृतिके संसार मानै तौ

प्रकृति तौ जड हैं, ताकै सुखदुःख आदिका संवेदन नाही। ताकै काहेका संसार? इत्यादि दोष आवै हैं ।। यातैं सर्वथा एकांत वस्तूका स्वरूप नाहीं । तातैं ते सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं, तातैं तैसैं जैनी भी मानै है तौ मिथ्यादृष्टि होय है ।। तातैं, आचार्य उपदेश करैं है—जो, सांख्यमतीनिकीज्यों जैनी आत्माकूं सर्वथा अकर्ता मति मानूं । जहांताई आपापरका भेदविज्ञान न होय, तहांताई तौ रागादिक अपनें चेतनरूप भावकर्मनिका कर्ता मानूं । अर भेदविज्ञान भये पीछे शुद्धविज्ञानघन समस्तकर्तापणाके अभावकरि रहित एक ज्ञाताही मानूं ऐसैं एकही आत्माके विषै कर्ता अकर्ता दोऊ भाव विवक्षाके वशतैं सिद्ध होय है। यह स्याद्वादमत जैनीनिका है अर वस्तुस्वभाव ऐसाही है । कल्पना नाही है। ऐसैं मानैं पुरुषकै संसार मोक्ष आदिकी सिद्धि है । सर्वथा एकांत माननेविषैं सर्व निश्चयव्यवहारका लोप होय है ऐसी जानना ।१३। आगै बौद्धमती क्षणिकवादी हैं, ते ऐसैं मानैं है, जो कर्ता तौ अन्य है अर भोक्ता अन्य है। तिनिके सर्वथा एकांत माननेमे दूषण दिखावै हैं । अर स्याद्वादकरि जैसैं वस्तुस्वरूप कर्ताभोक्तापणा है तैसैं दिखावै है। तहां प्रथम ही ताकी सूचनिकाका काव्य है—

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ।१४।

स० टी०—इह भरतक्षेत्रे, भावमिथ्यात्वापेक्षया सर्वत्र वा एकः सौगतवादी कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं-कर्ता च भोक्ता च तयोर्विभेद-भिन्नत्वं 'सौगतानां कर्ताऽन्यः, भोक्ता अन्यः' निजमनसि—स्वचेतसि, विधत्ते करोति, किंकृत्वा ? कल्पयित्वा प्रकल्प्य, किं ? इदं प्रसिद्धं, आत्मतत्त्वं-जीवतत्त्वं, क्षणिकं—क्षणस्थायि 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत्' इत्यनुमाने सर्वथा नित्यादिपक्षे 'अर्थक्रियाभावं प्रकल्प्य दूषयति-अयं प्रसिद्ध, प्रत्यभिज्ञानादिलक्षणः, चिच्चमत्कार एव चितः-ज्ञानस्य, चमत्कारः, तस्य-सौगतस्य विमोह-क्षणिकत्वं बुद्धिव्यामोहं अपहरति-निराकरोति, स्वयं-स्वभावात् एव, नित्यामृतौघैः-आत्मादौ यन्नित्यत्वं तदेवामृतं तस्य ओघैः समूहैः, अभिषिंचन्-अभिषेकं कुर्वन् सर्वं नित्यस्वरूपं प्रतिदर्शयन् सन् इत्यर्थः सर्वं कथंचिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् , न चैतदसिद्धं य एव बालः स एव युवा स एव च वृद्धः इत्यबाधितायाः प्रतीतेः सद्भावात् तथा व्यवहाराच्च क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधाच्च क्षणिकं यदि स्वसत्तायामपरक्षणोत्पादलक्षणामर्थक्रियां करोति तदा सकलस्य जगतः क्षणिकत्वं रुणद्धि कार्यकालं प्राप्नुवतः क्षणिकत्वविरोधात् स्वयं अविद्यमानं सत् करोति यदा तदा कालांतरे पूर्वं पश्चाच्च तत्कुर्यादसत्त्वाविशेषात् इत्यर्थक्रियाविरोधः ।। १४ ।। अथ क्षणिकैकांतान् छिनत्ति पद्यत्रयेण—

अर्थ—एक कहिये बौद्धमती क्षणिकवादी है सो आत्मतत्त्वकूं क्षणिक कल्पिकरि अर अपना मनविषैं कर्ता अर भोक्ताविषैं भेद मानै है । करै और है, भोगवै और है ऐसैं मानैं है । ताका विमोह कहिये अज्ञानकूं यह चैतन्यचमत्कार सोही आप दूर करै है, कहा करता संता ? नित्यरूप अमृतका ओघनिकरि सिंचता संता । भावार्थ—क्षणिकवादी कर्ताभोक्ताविषैं भेद मानै हैं, पहिलैं क्षण था सो दूजै क्षण नाहीं, तैसैं मानै है । सो आचार्य कहैं हैं—जो हम ताकूं कहा

समझावैं ? यह चैतन्यही ताका अज्ञान दूर करेगा जो अनुभवगोचर नित्यरूप है। पहिले क्षण आप है सोही दूजे क्षणमें कहै है। मै पहले था, सोही हौं, ऐसा स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान ताकी नित्यता दिखावै हैं। इहां बौद्धमती कहै, जो पहिले क्षण था, सोही मैं दूजे क्षण हौ यह मानना तौ अनादि अविद्यातैं भ्रम है, यह मिटै तब तत्त्व सिद्ध हो समस्त क्लेश मिटै। ताकूं कहिये, जो, हे बौद्ध ! तैं प्रत्यभिज्ञानकूं भ्रम बताया, तौ जो अनुभवगोचर है सो भ्रम ठहरया तौ तेरा मानना क्षणिक है। सो भी अनुभवगोचर है। सो यह भी भ्रमही ठहरया जातै अनुभव अपेक्षा दोऊही समान हैं तातैं सर्वथा एकांत मानना तौ दोऊ ही भ्रम है—वस्तुस्वरूप नाही। हम कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहै हैं, सो सत्यार्थ है ॥१४॥ आगै ऐसेही क्षणिक माननेवालेकूं युक्तिकरि निषेधै हैं—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥१५॥

सं० टी०इति–ईदृक्. एकांत:–सौगतोपकल्पितक्षणिकैकांत, मा चकास्तु–मा प्रतिभासतां, इति किं ? अन्य'–भिन्न. क्षण, करोति—कार्यं निष्पादयति, अन्य—तदनंतरभावी अन्य. भिन्न' क्षण: पूर्वक्षणकृतं कार्यं भुङ्क्ते–भुनक्ति, कुत' ? वृत्त्यमित्यादि' वृत्ते –वर्तनाया', अंशा.–ज्ञानादिपर्याया, तेषां भेदात्, द्रव्याभावे सति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यंतभिन्नत्वात्, कुतो भेद.'? अत्यंत अर द्रव्यादिस्वरूपेणापि, वृत्तीत्यादि: वृत्ति–वर्तना अस्ति येषां ते वृत्तिमत—पर्याया', तेषां नाश.—अत्यंतमुच्छेद., तस्य कल्पनात् इत्येकांते यो हिंसाभिसंधाता स न हिनस्ति सोऽहिंसक. सन् बध्नाति पापकर्मणा यस्तु बध्यते स न मुच्यते अन्यो ध्याता अन्यो ध्यानचिंतक अन्यो मुक्त. इति पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यंतभेदात् ॥ १५ ॥

अर्थ—वृत्त्यंश कहिये क्षण क्षण प्रति अवस्थाभेद है तिनकूं वृत्त्यंश कहिये तिनिके अत्यंत कहिये सर्वथा भेद न्यारे न्यारे वस्तु माननेतैं वृत्तिमत् कहिये जामै अवस्था पाइये ऐसा आश्रयरूप वृत्तिमान् वस्तु, ताका नाशकी कल्पनातैं ऐसें मानै है जो करै और है अर भोगवै और है सो आचार्य कहै है जो ऐसा एकांत मति प्रकाशो। जहां अवस्थावान पदार्थ का नाश भया, तहां अवस्था कौनके आश्रय होय ? ऐसा दोऊका नाश आवै है, तब शून्यका प्रसंग होय है ॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रैरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥१६॥

सं० टी०—अहो–आश्चर्यं, परै.–स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः, अंधकैः–बौद्धै., आत्मा–आत्माख्य द्रव्य, व्युज्झित:–त्यक्त, ज्ञानपर्यायमंतरेणात्मनोऽभावात्। किंकृत्वा ? अतिव्याप्ति–अतिव्याप्तिनामदूषणं;

प्रपद्य-अंगीकृत्य, तथाहि-यदेव वस्तु स्याद्वादिनामात्मादि तदेव अनेकपर्यायाक्रांत-गुणपर्यायाक्रांतं 'गुणपर्ययवद् द्रव्य' इतिसूत्रकारवचनात्।

नयोपनयैकांतानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभ्राड्भावसंबंधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

इति स्वामिसमंतभद्राचार्यवर्यवचनाच्च। ननु त एव पर्याया अवस्तुभूताः, वस्तुभूता वा ? प्राक्पक्षे अवस्तुभूतैः पर्यायैर्जीवस्य वस्तुत्वाघटनात् कृत्रिमस्फुटत्वतोवस्तुभूततानवघटनात्। अथ वस्तुभूताश्चेत् तेऽपि पर्यायाक्रांताः अन्यथा वस्तुत्वाघटनात्, पुनरुत्तरपर्यायाणां वस्तुत्वापत्तावनवस्था, एकस्मिन्ननेकवस्तुत्वापत्तिश्च ततोनैकद्रव्यव्यवस्था। अतिव्याप्तिसद्भावात् इति चेन्न प्रदीपक्षणस्यैकस्य तैलाकर्षणवर्तिकामुखदाहाद्यनेककार्यं कुर्वतः कार्यस्यासत्यत्वे कार्यकारित्वाद्वस्तुव्यवस्थानायोगात् तत्सत्यत्वे प्रतिकार्यं क्षणिकवस्तुत्वापत्तिरिति कथमेकक्षणिकवस्तुत्वस्थितिरिति। कीदृशैः ? आत्मानं-स्वं चैतन्यं, परिशुद्धं संसारदशांतो ध्यानादिभिर्निर्मलं, ईप्सुभिः-वाञ्छकैः क्षणिकत्वे कस्याशुद्धित्वा कस्य पुनर्ध्यानं कस्य च मुक्तावस्थाया शुद्धिरिति सर्वं गगनारविंदमिव निर्विषयत्वादसदाभाति, आत्माभावात् शुद्धिरशुद्धिश्च कस्य पुनः एकक्षणस्य द्विधर्माधारत्वाघटनात् अन्यथा निरंशत्वपक्षघातप्रसक्तेः, अपि-पुनः, किं कृत्वा ? तत्र-आत्मनि, अधिकां दूषणाधानाद्बहुतरां, अशुद्धिं-अशुद्धतां, मत्वा ज्ञात्वा, कुतः कालोपाधिबलात्- कालः समयादिस्थायित्वरूपः स एव उपाधिः-विशेषणं तस्य बलं-सामर्थ्यं तस्मात्, तथाहि एकं वस्तु अनेकक्षणस्थायि सदनेकक्षणविशिष्टं भवेत्तदविशिष्टं वा ? प्राक्तने पक्षे प्रथमक्षणेऽनेकक्षणविशिष्टत्वं भवेत् अन्यथा अनेकक्षणविशिष्टत्वाभावप्रसंगात् एवं द्वितीयादिक्षणेष्वपि द्वितीयपक्षे कालातीतं वस्तु क्रमयौगपद्याभ्यां व्यतिरिक्तमवस्त्वेव स्यात्। पुनः किं विधाय ? प्रकल्प्य-कल्पयित्वा, किं ? क्षणिकं-क्षणस्थायि चैतन्यं ज्ञानं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत् नित्ये क्रमाक्रमाभावादर्थक्रियाभावात्सत्त्वाभाव इति। कीदृक्षैश्च ? पृथुकैः-बालिशैः,वस्तुनः क्वचित्कदाचित्क्षणिकत्वाभावात्। पुनः कीदृक्षैः ? रक्तैः-रक्तैः क्व ? शुद्धर्जुसूत्रे-शुद्ध-द्रव्यनिरपेक्षः,स चासौ ऋजुसूत्रश्च-अर्थपर्यायग्राहको नयः, तत्र कैः क इव ? निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः अप्रोतसूत्रे ईहितहारमुक्ताफलावलोकिभिः पुरुषैः हारवत् यथा हारस्त्यक्तः आन्वयिसूत्रद्रव्यानंगीकारात्॥ १६ ॥

अर्थ-आत्माकूं समस्तपणे शुद्ध इच्छक जे पृथुक कहिये बौद्धमति तिनिने तिस आत्मा विषै कालके उपाधिके बलतैं अधिक अशुद्धता मानिकर अतिव्याप्तिपायकरि अर शुद्ध ऋजूसूत्रनयके प्रेरे हुये चैतन्यकूं क्षणिक कलपि करि आंधेनिने आत्माकूं छोड्या जातैं आत्मा तो द्रव्यपर्याय स्वरूप था सो सर्वथा क्षणिकपर्यायस्वरूप मानि छोडि दिया तिनिकै आत्माकी प्राप्ति न भई इहां हारका दृष्टांत है। जैसे मोतीनिका हारनामा वस्तु है। तामैं सूत्रविषैं मोती पोये है॥ ते भिन्न २ दीखै हैं सो जे हार नामा वस्तूकूं सूत्र सहित मोती पोये नाही देखे हैं अर मोतीनिहीकूं न्यारे २ देखि ग्रहण करै हैं तिनिकै हारकी प्राप्ति नाही होय है तैसे ही जे आत्माका एक नित्य चैतन्यभावकूं नाही ग्रहण करै है अर समय समय वर्तना परिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिकूं देखि तिसकूं सदा नित्य मानि कालकी उपाधितैं अशुद्धपना मानि ऐसैं जानै है जो नित्य मानै कालका उपाधि लागै तब आत्माके अशुद्धपणा आवै; तब अतिव्याप्ति दूषण लागै सो इस दूषणके भयतै ऋजु सूत्रनयका विषय जो शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपणा तिसभाव मानि आत्माकूं छोडि दिया ॥ भावार्थ-बौद्धमती आत्माकूं समस्तपणैं शुद्ध माननेका इच्छुक

होय अर विचारी जो आत्माकूं नित्य मानिये तो नित्यमें तो कालकी अपेक्षा आवै तातैं उपाधि लागै तब बडी अशुद्धता आवै तब अतिव्याप्तिदूषण लागै इस भयतैं शुद्ध ऋजु सूत्र नयका विषय वर्तमान समयमात्र था तिसमात्र क्षणिक आत्माकूं मान्या तब आत्मा नित्यानित्यस्वरूप द्रव्यपर्याय स्वरूप था तिसका ग्रहण ताके न भया, केवलपर्याय मात्रविषैं आत्माकी कल्पना भई सो सत्यार्थ आत्मा नाही ऐसे जानना ॥१६॥ अब फेरि इसही अर्थके समर्थनरूप वस्तुका अनुभवन करनेकूं काव्य कहै हैं–

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिंत्यतां।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं (भत्तुं) न शक्या क्वचि-
च्चिंचितामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥१७॥

सं० टी०—कर्तु.–कारकस्य, वेदयितुश्च–कर्मभोजकस्य च, भेद'–परस्परं कथंचिद्भिन्नत्वमस्तु सर्वथा भेदे तयोः केवल कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा स्यात् यः कर्ता स एव भोक्ता इति जीवांतरवेदकसंतानेऽपि न स्यात् कुतः ? युक्तिवशतः–नयप्रमाणात्मिका युक्ति. तस्य वशत. द्रव्यार्थादेशादेकत्वप्रतिभासनात् अहमहमिकात्मा. विवर्त्तान्मानानुभवन् सर्वलोकाना स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्रज्ञानवत्सर्वथा भेदाघटनात्, तु–पुन' कथंचिदभेदो वास्तु सर्वथाऽभेदे तयोरुभयव्यपदेशाभाव: केवल कर्तैव भोक्तैव वा स्यात् ततस्तद्वतस्ताभ्या परस्परं व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात् घटरूपादिवत् ततः य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्त्येकांतः। कर्ता वेदयिता भोक्ता चात्मा भवतु वा–अथवा मा भवतु कर्ता भोक्ता मास्तु वस्त्वेव शुद्धात्मैकद्रव्यरूप वस्तु वसति गुणपर्यायानिति वस्तु पर्यायानपेक्षया द्रव्यमेव शुद्ध संचित्यता–ध्यायता–विचार्यता वा निपुणैः भेदज्ञै' पुरुषैः इह–आत्मनि चिद्रूपे, क्वचित्–कस्मिश्चित् काले भर्तुं धर्तुं, कर्ता भोक्ता चेति वर्तुं न शक्यस्तस्यैकरूपत्वात् दृष्टांतयति–यत्र इव– यथा सूत्रे, गुणे ततौ प्रोता अनुस्यूतो हारो मुक्तामणिभिरिति, भर्तुं न शक्य, अपि–पुन., न –अस्माक–स्याद्वादिना, अभित.–सामस्त्येन इय–प्रसिद्धा, एका अद्वितीया चिदित्यादि.–चित्–चेतना सैव चिंतामणि',तस्य मालिका पंक्ति., अनुस्यूतमुक्ताफलाना पंक्तिरिव चकास्त्येव–द्योतत एव क्षणक्षणिकपक्षदूषणैरप्रसहरूच्या क्षणिकज्ञानस्य निराकृतत्वात् ॥ १७ ॥ अथ व्यावहारिकदृशा तयोर्भिन्नत्वं चिंत्यते—

अर्थ–कर्ताके अर भोक्ताके युक्तिके वशतैं भेद होऊ अथवा अभेद होऊ अथवा कर्ता भोक्ता दोऊ ही मति होऊ वस्तुहीका चिंतवन करो ॥ जातैं निपुण जे चतुर पुरुष तिनिकरि सूत्रविषैं पोई हुई मणिनिकी माला जैसे भेदी न जाय तैसे आत्मा विषे पोई हुई चैतन्यरूप चिंतामणीकी माला है सो कदूही कोईकरि भेदनेकूं समर्थ न हूजिये ।। एसी यह आत्मारूपी माला समस्तपणे एक हमारे प्रकाशरूप प्रगट होऊ ॥ वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक अनंतधर्मा है ता विषै विवक्षाके वशतैं कर्ता भोक्तापणाका भेद भी है अर भेद नाही है। अर कर्ता भोक्ता भी काहेकूं कहना केवल

शुद्ध वस्तुमात्रका असाधारण धर्मके द्वारे अनुभवन करना ऐसे आत्मा नामा वस्तु सो असाधारण चैतन्यमात्र भावके द्वारे अनुभवन करते चैतन्यके परिणमनरूप पर्यायके भेदनिकी अपेक्षा कर्ता भोक्ताका भेद है ।। चिन्मात्रद्रव्य अपेक्षा भेद नाही है ऐसैं भेद अभेद होऊ तथा चिन्मात्र अनुभवनमे काहेकूं भेद अभेद कहना ।। कर्ता भोक्ता ही न कहना वस्तु मात्र अनुभव करना जैसे मणिनिकी मालामें सूत्रमोतीनिकी विवक्षातैं भेद है मालामात्र ग्रहण करनेमें भेदाभेदका विकल्प नाही ।। तैसैं आत्माविषै चैतन्यके द्रव्यपर्याय अपेक्षा भेद है ।। तौऊ आत्मवस्तु मात्र अनुभव करते विकल्प नाही ।। सो आचार्य कहै है ऐसा निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमारे प्रकाशरूप है ऐसे जैनीनिके वचन है । आगै इसै दृष्टांतकरि स्पष्ट करै है ताकी सूचनिकाकूं नय विभागका काव्य कहै हैं—

विशेष—संस्कृत टीकाकारने भतुं न शक्या ऐसा पाठ निश्चितकर आत्मा एक स्वरूप है इसलिये वह सर्वथा कर्ता और भोक्ता नहीं ऐसा अर्थ लिखा है और पं० जयचंदजीने भेत्तुं न शक्या ऐसा पाठ रखकर चैतन्यरूप चिंतामणिकी माला किसीके द्वारा भिद नहिं सकती यह अर्थ किया है यद्यपि भावांशमे दोनों अर्थ अभिन्न हैं परन्तु पाठ जो पं० जयचंद्रजीने रक्खा है वही तात्त्विक प्रतीत होता है ।। १७ ।।

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते १८

सं० टी०—च-पुनः कर्तृ-कारकं, कर्म च-कार्यं, विभिन्नं—परस्परं भिन्नं, इष्यते, कया ? केवलं-परं व्यावहारिकदृशैव—व्यवहारदृष्ट्यैव यथा सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुंक्ते न तु तन्मयो भवति तथात्मापि पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति, तत्फलकुलं च कवलयति न तु तन्मयः मीमास्यते । यदि—चेत्, निश्चयेन—निश्चयनयेन वस्तुद्रव्यमात्रं केवलं, इष्यते तदासदा—नित्यं कर्तृ कर्म च आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वयोरैक्यमिष्यते यथा च स नाडिंधमादि चिकीर्षुः, चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति आत्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं चेष्टारूप कर्मफलं भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपं स्वपरिणामात्मकं कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दुःखलक्षणं फलं च भुंक्ते ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्चेव स्यात् ।। १८ ।। अथ वस्त्वंतरप्रवेशं वस्तुनो न निलुंठति पद्यत्रयेण—

अर्थ—व्यवहारकी दृष्टिमें तो केवल कर्ता अर कर्म भिन्न दिखैं हैं अर जब निश्चयकरि देखिये वस्तूकूं विचारिये तब कर्ता अर कर्म सदाकाल एकही देखिये है ।। भावार्थ—व्यवहार नय तो पर्यायाश्रित है सो यामें तो भेदही दीखे ।। बहुरि शुद्ध निश्चयनय है सो द्रव्याश्रित है तामें अभेदही दीखे तातैं व्यवहारमैं तो कर्ता कर्मका भेद है, निश्चयमैं अभेद है ।। १८ ।।

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्। न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥१८॥

अर्थ—ननु कहिये अहो मुनि हों, तुम यह निश्चय करौ, जो यह प्रगटपणें परिणाम है, सो तौ निश्चयतें कर्म है। बहुरि सो परिणाम अपना आश्रय जो परिणामी द्रव्य, ताहीका होय है, अन्यका नाहीं होय है। जातैं परिणाम हैं ते अपने अपने द्रव्यके आश्रय हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय होय नाहीं॥ बहुरि जो कर्म है, सो कर्ताविना होय नाहीं। बहुरि वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है। तातैं ताकी एक अवस्थारूप कूटस्थस्थिति आदि होय नाहीं, सर्वथा नित्यपणा बाधासहित है। तातैं अपना परिणामरूप कर्मका आपही कर्ता है, यह निश्चयसिद्धांत है॥ अब इसही अर्थके समर्थनरूप कलश काव्य कहै हैं—

विशेष—इस श्लोककी संस्कृतटीका उपलब्ध न हुई॥

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वंतरं।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥ १९॥

सं०टी—यद्यपि स्वय-स्वभावत., बहिःबाह्ये, स्फुटेत्यादि—स्फुटंती-व्यक्ता चासावनतशक्तिः द्विकवारानंताविभागप्रतिच्छेदश्च लुठति—स्फुटीभवति, यथा सेटिकायाः सेटिकत्वादिः तथापि अन्यवस्त्वंतरं सेटिकादि परवस्तुनो मध्ये न विशति-कुडचादिलक्षणस्य मध्ये न प्रविशति यतः यस्मात् कारणात्, सकलमेव—समस्तमेव वस्तु-चेननलक्षण द्रव्य स्वभावनियतं-स्वस्य भावे स्वस्वरूपे, नियतं—स्थितं जीवस्य ज्ञानात्मकं लक्षण अजीवस्य अचेतनस्य अचैतन्य तद्वीपरीत इष्यते--अभिलष्यते अतः इह जगति, मोहितः मोहाक्रांतः पुमान्, किं क्लिश्यते किं वृथाक्लेशं करोति पराभिप्रायपरिवर्तनेन, किंभूतः सन्? स्वेत्यादिः--स्वभावस्य—वस्तुस्वरूपस्य, चलना--चापल्यं कर्तरि कर्मप्रवेशत्व कर्मणि कर्तृप्रवेशत्वमित्यादिलक्षणं तत्राकुलः—व्याकुलतां गतः सन्, स्वरूपस्य ज्ञानादे स्वरूपिणि जीवादौ व्यवस्थितत्वात अन्यथा द्रव्योच्छेदः स्यात्॥ १९॥

अर्थ—यद्यपि वस्तु है सो आप प्रकाशरूप अनंतशक्तिस्वरूप है, तथापि अन्यवस्तु है, सो अन्यवस्तुविषैं प्रवेश नाही करे है, बाहरि ही लोटै है। जातैं समस्तही वस्तु अपने अपने स्वभावविषैं नियमरूप है ऐसैं मानिये है॥ सो आचार्य कहै हैं—जो, ऐसे होतेभी यह जीव अपने स्वभावतैं चलायमान होय, आकुल हुवा मोही भया संता, क्यौं क्लेशरूप होय है?॥ भावार्थ—वस्तुस्वभाव तौ नियमरूप ऐसा है, जो, काहू वस्तूने कोई मिलै नाही अर यह प्राणी

अपने स्वभावसूं चलायमान होय व्याकुल क्लेश रूप होय है, सो यह बडा अज्ञान है ॥१६॥ फेरि इसही अर्थकूं दृढ करनेकूं कहै हैं—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि वहिर्लुठन्नपि ॥ २० ॥

स०टी—इह जगति, येन-कारणेन, एकं,चेतनादिलक्षणं, वस्तु द्रव्यं, अन्यवस्तुनः अपरवस्तुनः-चेतनादेः स्वरूपं न भवति खल्विति निश्चितं, तेन वस्तुनः- परवस्तुस्वभावाभावेन कारणेन, अयं प्रसिद्धः,निश्चयः-परमार्थः, अयं कः ? यद्वस्तु स्वगुणपर्यायैर्द्रव्यं तत्स्वगुणपर्यायैरेव वस्तु चेतनादि द्रव्यं नान्यथा परस्वरूपेण वस्तु भवत्यतिप्रसगात् हीति—तस्मात् कारणात् कः अपर', अन्यः पदार्थः सेटकादिर्जीवादिश्च अपदस्य कुड्यादेः कर्मपुद्गलस्य च,किं श्वेतत्व ज्ञानित्वं च करोति अपि तु न करोतीत्यर्थः । वहिर्वाह्ये,लुठन्नपि भित्त्यादीनां श्वेतत्वं कुर्वन्नपि परस्वरूपेण न भवति अन्यथा स्वद्रव्योच्छेदः, आत्मापि परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकः वहिर्भवन्नपि तत्स्वरूपेण न भवति ॥ २० ॥

अर्थ—जातै या लोकविषैं एक वस्तु है सो अन्यवस्तुका नाही है, तिसही कारणकरि वस्तु है सो वस्तु है, ऐसे न होय तौ वस्तुका वस्तुपणा न ठहरे, निश्चय है । ऐसे होतै अन्यवस्तुके बाहिर लौटे है, तौऊ ताका कहा करे ? किछू भी न करिसकै है ॥ भावार्थ-वस्तुका स्वभाव तौ ऐसा है, जो अन्य कोई वस्तु पलटाय न सकै, तब अन्यके अन्य कहा किया ? किछूभी न किया ॥ जैसे चेतनवस्तुके एकक्षेत्रावगाहरूप पुद्गल तिष्ठै है, तौऊ चेतनका जडकरि आपरूप तौ परिणमाय सक्या नाहीं, तब चेतनका कहा किया ? किछू भी न किया, यह निश्चयनयका मत है ॥ २० ॥ बहुरि निमित्तनैमित्तिकभावकरि अन्यवस्तुके परिणाम होय है, सो भी तिस वस्तुहीका है, अन्यका कहना व्यवहार है, सोही कहै हैं—

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयं ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१ ॥

स०टी०—यत्तु तत् मत कथितं कया व्यावहारिकदृशैव व्यवहारदृष्ट्यैव न तु परमार्थतः तत् किं ? तुविशेषे यद्वस्तु सेटिकादिः, परिणामिनः परिणमनशीलस्य, अन्यवस्तुनः कुड्यादेः स्वय स्वभावतः किंचन धवलत्वादिक कुरुते विदधाति,तथात्मापि परद्रव्यं स्वकेन भावेन ज्ञातापि, जानाति पश्यति विजहाति श्रद्धत्ते एतत्सर्वं व्यवहारतः इह जगति, निश्चयात् परमार्थतः,किमपि सेटिकादि द्रव्यं चेतनद्रव्य वा अन्यत् कुड्यादेः श्वेतकर्त्वं, आत्मनः परद्रव्यज्ञातृत्वं च नास्ति ॥ २१ ॥
अथ द्रव्ये द्रव्यांतरनिषेधं निधत्ते—

अर्थ--जो कोई वस्तु अन्यवस्तूकै किछू करै है ऐसा कहिये है सो वस्तु आप परिणामी है, अवस्थातै अन्य अवस्थारूप होना वस्तूका पर्यायस्वभाव है, याहीतै परिणामी कहिये है ।

सो ऐसे परिणामी वस्तुकै अन्यके निमित्ततैं परिणाम भया ताकूं कहै, यह अन्यनें कीया सो यह व्यवहारनयकी दृष्टिकरि कहिये है ॥ बहुरि निश्चयनैं तौ अन्य किछू किया है नाहीं, परिणाम भया सो आपहीका भया, अन्यनें तौ नामैं किछूभी ल्याय धरथा नाहीं ऐसें जानना ॥

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥ २२ ॥

सं० टी०—जातुचित्—कदाचित्. किमपि—चेतनमचेतनं वा द्रव्यांतरं. चेतनादचेतनं वस्त्वंतरं, अचेतनाच्चेतनं वा वस्त्वंतरं एकद्रव्यगतं—एकस्मिन् द्रव्ये चेतने चेतनं अचेतने च अचेतनं वा चेतनमचेतनं च गतं—संप्राप्तं. न चकास्ति—न द्योतते. कस्य? तत्त्वं—वस्तुयाथात्म्यं समुत्पश्यतः—अवलोकयतो पुंसः किंभूतस्य? शुद्धेत्यादि—शुद्धं द्रव्यं निरुपाधित्वादात्मादि द्रव्यं. तस्य निरूपणे—प्रतिपादने, अर्पिता—आरोपिता, मतिः—बुद्धिः येन तस्य. तु—पुनः. यत्—यस्माद्धेतोः, ज्ञानं ज्ञेयं—पदार्थं, अवैति—जानाति न तु ज्ञेयं स्वस्वरूपेण करोति नापि तत्स्वरूपं भवति किंतु केवलं परिछिनत्ति तत् तस्मात् कारणात् अयं ज्ञेयपरिच्छेदकत्वलक्षणः शुद्धेत्यादिः—शुद्धः—कर्मोपाधिनिरपेक्षः स्वभावः—स्वरूपं, तस्य उदयः—प्राकट्यं, वर्तते, जनाः—जिनागमानभिज्ञाः लोकाः. तत्त्वात्—वस्तुयाथात्म्यात् किं च्यवंते—कथं चलंति, कीदृशाः संतः? द्रव्यमित्यादिः—द्रव्यात् द्रव्यांतरे—परद्रव्ये. चुंबनम् आश्लेषणं तेनाकुलाः संकीर्णाः कथं एकत्वं कुर्यादिः, ज्ञानेन कथं ज्ञेयं ज्ञातमित्यादिरूपा धीः—बुद्धिः येषां ते यथोक्ताः संतः ॥ २२ ॥ अथ स्वभावस्वभाविनोर्भेदं चकास्ति—

अर्थ—आचार्य कहै हैं जो शुद्ध द्रव्यके निरूपणविषैं लगाई है बुद्धि जानें बहुरि तत्त्वकूं अनुभवता है ऐसा पुरुषकै एक द्रव्यविषैं प्राप्त भया अन्य द्रव्य किछूभी न कदाचित् प्रतिभासै है ॥ बहुरि ज्ञान है सो अन्य ज्ञेय पदार्थकूं जानै है सो यह ज्ञानका शुद्ध स्वभावका उदय है, सो यह जन लोक है ते अन्यद्रव्यके ग्रहणविषै आकुल है बुद्धि जिनकी ऐसैं भये संते शुद्धस्वरूपतैं क्यों चिगै है? भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिकरि तत्त्वका स्वरूप विचारतैं अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्यविषैं प्रवेश नाहीं दीखै है। अर ज्ञानविषैं अन्यद्रव्य प्रतिभासै है सो यह ज्ञानकी स्वच्छताका स्वभाव है। सो ज्ञान तिनिकूं ग्रहण न करै है ॥ अर यह लोक अन्य द्रव्यका ज्ञानविषैं प्रतिभास देखि अर अपना ज्ञानस्वरूपतैं छूटि अर ज्ञेयके ग्रहण करनेकी बुद्धि करै है सो यह अज्ञान है ॥ ताको आचार्यनें करुणाकरि कह्या है जे ए लोक तत्त्वतैं क्यों चिगै हैं ॥ २२ ॥ फेरि उसही अर्थकूं दृढ करै हैं—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष—

मन्यद् द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव । २३ ।

स० टी०—शुद्धेत्यादिः-शुद्धद्रव्य—दर्शनज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधिजीवद्रव्यादि, तस्य स्वरसः स्वभावः, तेन भवनात् स्वभावस्य—चैतन्यादिलक्षणस्य स्वरूपस्य, शेषं द्रव्यात्परं अन्यद्रव्यं चेतन वा किं भवति अपि तु परद्रव्यस्य स्वभाविनस्तदन्यद्रव्यस्वभावः स्वरूपं न भवति, परद्रव्यं तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यं । यदि वा-अथवा सः स्वभावः चेतनादिलक्षणः तस्य-अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्य स्वरूपं किं स्यात् ? अपि तु न स्यादेव । अथ स्वरूपस्वरूपिणोः परस्वरूपस्वरूपिभ्यां संकरव्यतिकरादिदोषापत्तेः न किंचिच्चेतनमचेतनं वा स्यात् । इममेवार्थं दृष्टांतयति-ज्योत्स्नारूपं सेटिकादिद्रव्यस्य श्वेतस्वरूप भुवं भूतलं स्नपयति-धवलीकरोति, एव निश्चयेन, तथापि भूमिः—विश्वभरा तस्य-ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो नास्ति तस्य स्वभाविनो ज्योत्स्ना स्वरूपं न, ज्योत्स्नायाः सेटिकास्वभावत्वात् । दृष्टांतेन स्पष्टं दार्ष्टांतं दर्शयति ज्ञानं-स्वपरावभासः ज्ञेयं कर्मतापन्नं परपदार्थं, कलयति—परिच्छिनत्ति—जानाति, सदा-नित्यं, तथापि अस्य ज्ञानस्य ज्ञेयं स्वरूपं नैवास्ति, ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञान स्वरूपि नैवास्ति तयोः परस्परमत्यंतभेदात् ॥ २३ ॥ अथ ज्ञानस्वभावं वाचयते—

अर्थ—जिस द्रव्यका जो निजभाव होय सो स्वभाव है । सो आत्माका ज्ञानचेतना स्वभाव है । ताकै शुद्ध द्रव्य जो शुद्ध आत्मा ताका निजरस ज्ञानचेतना है । ताकै होते ते अन्य बाकी जो द्रव्य हैं सो कहा होय ? किछूभी न होय । परमार्थकरि संबंध नाही ॥ अथवा अन्यद्रव्य है ताकै यहू स्वभाव कहा होय ? किछूभी न होय । परमार्थकरि संबंध नाही ॥ जैसैं ज्योत्स्ना जो चांदणी ताका रूप पृथ्वीकूं उज्वल करे है, तौ कहा पृथ्वी चांदणीकी होय जाय ? किछूभी न होय । तैसे ज्ञान है सो ज्ञेयपदार्थकूं सदाकाल जानै है, तौ ज्ञेय ज्ञानका किछू कहा होय जाय ? किछूभी नाही है ॥ भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिकरि देखिगे तब कोई द्रव्यका स्वभाव काहू अन्यद्रव्यरूप होय नाही । जैसे चांदणी पृथ्वीकूं उज्ज्वल करै है परन्तु चांदणीकी पृथ्वी किछू होय नाही है । तैसे ज्ञान ज्ञेयकूं जानै है परन्तु ज्ञानका ज्ञेय किछू होय नाही आत्माका ज्ञान स्वभाव है सो याकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव झलकै है । तौऊ ज्ञानमें तिनि ज्ञेयनिका प्रवेश नाही है ॥२३॥ अब कहै हैं, जो ज्ञानमैं रागद्वेषका उदय कहां ताईं है ? ताका काव्य—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न याव-
ज्ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोधतां याति बोध्ये ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः । २४।

सं० टी०—यावत्पर्यंतं ज्ञान—बोध', ज्ञानं-ज्ञायक स्वपरावभासक शुद्धं न भवति न जायते, तावत्काल, एतत्—जगत्प्रसिद्धं, रागद्वेषद्वय-रागद्वेषयोर्द्वय उदयते अनुभागरूपेणोदयं धत्ते उदिते ज्ञाने तस्योदयाभावात्, पुनः यावज्ज्ञानं ज्ञानम्—भावत्वमप्राप्त न, तावत् बोध्ये—ज्ञेये बहिः पदार्थे बोधता—ज्ञातृता न याति—न प्राप्नोति ज्ञाते ज्ञाने स्वपरबोध्यप्रकाशकत्वात्, येन ज्ञानेन कृत्वा आत्मा, पूर्णस्वभाव. भवति-जायते। कीदृक्षः सन्? तिरयन् आच्छादयन्, कौ? भावाभावौ—अस्तिनास्तिस्वभावौ—विभावपर्यायो उत्पादविनाशौ वा, तत् इदं—प्रसिद्ध, ज्ञान-ससारावस्थासंभवात् रागद्वेषकलमषीकृत ज्ञान शुद्धं स्वभावबोधो भवतु—अस्तु, कीदृक्ष? न्यग्गित्यादिः न्यक्कृत.—तिरस्कृतः, अज्ञानलक्षणो भावः—स्वभावः, येन तत् ॥ २४ ॥ अथ सम्यग्दृष्टेस्तत्क्षयमाशसति—

अर्थ—यहु ज्ञान जेतैं ज्ञानरूप न होय है, अर बोध्य कहिये ज्ञेय सो ज्ञेयभावकूं प्राप्त न होय है, तैतैं रागद्वेष दोऊ उदय होय है। तातैं यह ज्ञान है सो ज्ञानरूप होऊ। कैसा होऊ? दूरि कीया है अज्ञानभाव जानैं ऐसा होऊ॥ तिस कारणकरि भाव अभाव ज्ञानमैं होय है। तिनिकूं दूरी करता संता पूर्णस्वभाव होय। जैते ज्ञान ज्ञान रूप न होय, ज्ञेय ज्ञेयरूप न होय तैतैं राग-द्वेष उपजै है। तातैं यह ज्ञान अज्ञानभावकूं दूरि करि ज्ञानरूप होऊ। जिस कारणतैं ज्ञानमैं भाव अभाव ये दोय अवस्था हो तो मिटि जाय अर ज्ञान पूर्ण स्वभावकूं प्राप्त होय जाय यह प्रार्थना है।

विशेष—संस्कृतटीकाकारने 'बोधतामेति बोध्ये' यह पाठ मानकर जबतक ज्ञान प्रकटित नहि हो जाता तबतक वह स्वपर ज्ञेय पदार्थोंको प्रकाशित नहिं करता किंतु प्रकट होनेपर ही प्रकाशित करता है यह अर्थ किया है और पं० जयचन्द्रजीने 'बोध्यतां याति बोध्यः' यह पाठ मान कर 'जबतक ज्ञेय पदार्थ ज्ञेयरूपसे प्रतिभासित नहिं होता' यह अर्थ किया है॥ २४॥

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥ २५॥

स०टी०—हि-स्फुट, ज्ञान—बोधः, इह-जगति, रागद्वेषस्वभावौ भवति-जायते कुत.? अज्ञानभावात्-अज्ञानमयस्वभावत्वात्। ननु कथ ज्ञान रागद्वेषौ भवति? ज्ञानस्य ज्ञानावरणकर्मण. क्षयोपशमात् तयो-र्मोहनीयकर्मविवर्तत्वात्। कथ ज्ञानं रागद्वेषसद्भाव इति चेत् सत्यं रागद्वेषयोर्भावकर्मणोश्चैतन्यविवर्त-त्वात् ज्ञानस्वभावत्वं तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् तदप्यभ्यधायि श्रीमद्विद्यानन्दिसूरिणा—

भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भांति तु.। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिच्चिदभेदतः॥ ११४॥ इति।
तौ रागद्वेषौ दृश्यमानौ-अतर्दृष्ट्यावलोक्यमानौ सतौ न किंचित् न किमपि ज्ञानिना दृश्येते, कया? वस्त्वित्यादि.—वस्तुत्वे च नम्यलक्षणे वस्तुस्वरूपे, प्रणिहितदृशा-समारोपितदृष्ट्या ततः अनदृष्ट्याऽदृश्यमा-

नत्वात् स्फुटं-निश्चितं,सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदर्शीपुमान् तौ-रागद्वेषौ,क्षपयतु-निर्जरादिभिर्निराकरोतु तत्त्वदृष्ट्या-वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन,येन-रागद्वेषक्षपणेन, सहज-स्वाभाविकं ज्ञानज्योतिः-ज्ञानविभागप्रतिच्छेदसमूह धाम, ज्वलति प्रकाशते। किंभूत तत्? पूर्णाचलार्चि. पूर्णं निरावरणत्वात्संपूर्णं, अचलं अक्षोभ, प्रतिपक्षकर्माभावात् अर्चि-ज्ञानशक्ति, यस्य तत् 'स्त्री नपुंसकयोरर्चि.' इति भट्टि' ॥ २५ ॥ अथ रागद्वेषोत्पादककारणं सगच्छते—

अर्थ-इस आत्माविषै ज्ञान है सोही अज्ञानभावतैं रागद्वेषरूप परिणमै है। बहुरि ते रागादिक वस्तुपणाविषै स्थायिदृष्टिकरि देखे हुये किछू भी नाही हैं, द्रव्यरूप न्यारे वस्तु नाही हैं तातैं आचार्य प्रेरणा करै हैं, जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है सो तत्त्वदृष्टिकरि तिनिकूं प्रगट देखि अर देगो नाश करो। ज्यौं स्वाभाविक ज्ञानज्योति पूर्ण है प्रकाशरूप अचल दीप्ति जाकी ऐसी देदीप्यमान प्रकाशै ॥ भावार्थ-रागद्वेष न्याराही तो द्रव्य नाही। जीवकै अज्ञानभावतैं होय है। तातैं सम्यग्दृष्टि होय तत्त्वदृष्टिकरि देखिये, किछूभी वस्तु नाही ऐसैं देखे घातकर्मका नाश होय केवलज्ञान उपजै है ॥२५॥ आगै कहै हैं जो, अन्यद्रव्यकरि अन्यद्रव्यके गुण नाही उपजाइये हैं, ताकी सूचनिकाका काव्य है—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरंतश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २६ ॥

सं०टी०—रागद्वेषोत्पादक-रागद्वेषयोरुत्पादकं कारणं, अन्यद्रव्यं-आत्मद्रव्यं विहाय परद्रव्यमचेतनादि न वीक्ष्यते-नावलोक्यते,कया-तत्त्वदृष्ट्या-वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन, कुतः ? यस्मात्कारणात् सर्वेत्यादिः-सर्वेषां द्रव्याणा-चेतनाना, उत्पत्तिः-उत्पादः अन्तः-अभ्यन्तरे, स्वस्वभावेन स्वस्वरूपेण, अत्यंतं-निश्चित व्यक्ता स्फुटा, चकास्ति--द्योतते। ननु सर्वद्रव्याणा नित्यत्वात् कथमुत्पत्तिः अन्यथा सौगतमतस्यागतिः ? इति चेन्न स्वस्वभावेनेति वचनात् स्वपरिणामेन स्वपर्यायेणैवोत्पत्तिर्न तु द्रव्यरूपेण यथा मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं मृत्स्वरूपेण ? यदि प्राक्तनः पक्षः तदा कुंभकाराहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितप्रसारितकरतच्छरीराकारः कुंभः स्यात्, न च तथास्ति अत एवोत्तरः पक्षः श्रेयान् मृदेव कुंभस्योत्पादिका न तु कुंभकारः। तथा रागद्वेषौ पुद्गलस्वभावेनानुत्पद्यमानौ केवलमात्मनः स्वभावौ अन्योऽन्यस्योत्पादकत्वे तत्त्वव्यवस्थानाभावात् सर्वोच्छेदः स्यात् ॥ २६ ॥ अथ तद्धेतुत्वमात्मनः सगिरते—

अर्थ-रागद्वेषका उपजानेवाला तत्त्वदृष्टिकरि देखिये तब अन्यद्रव्य किछूभी नाही देखिये है ॥ चेतनहीके परिणाम हैं। जातैं यह न्याय है-जो सर्व द्रव्यनिकी उत्पत्ति है सो अपनेही निज स्वभावविषैं अंतरंगविषैं अत्यंत प्रगटरूप शोभै है। अन्यद्रव्यविषैं अन्यके गुणपर्यायनिकी उत्पत्ति नाही है ॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः

सं० टी०—यत्-यस्मात्कारणात्, इह-आत्मनि रागेत्यादि:-रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तावेव दोषौ स्वस्वरूपाच्छादकत्वात् तयोः प्रसूतिः-उत्पत्तिः स्यात् तत्र तथा सति परेषा अचेतनद्रव्याणां, ततदपि किमपि, दूषणं-दोष', नास्ति अचेतनद्रव्यस्य तदुत्पादकत्वाभावात् न तस्य दूषणं केवलमात्मनो दूषणं। तत्र-रागद्वेषे, आत्मनि सर्पति-व्याप्नुवति सति आत्मा स्वय-स्वरूपेण, अपराधी दोषवान् भवतु-अस्तु किंभूतः सः ? अबोध. बोधरहित. सन् विदितं मया ज्ञातं अयं अबोधः—अज्ञान, अस्त-विनाश, यातु प्राप्नोतु पुनः बोधः-अहं ज्ञानं, अस्मि-भवामि ॥ २७ ॥ अथान्यनिमित्तत्वं तयोस्तीर्यते—

अर्थ—जो इस आत्माविषैं रागद्वेष दोषोंकी उत्पत्ति है तहां परद्रव्यकूं किछूभी दूषण नाही है। तिस आत्माविषैं यह अज्ञान आप अपराधी फैलै है। यह कथन प्रगट होऊ,अर यह अज्ञान है सो अस्त होऊ। जातैं मै तो ज्ञानस्वरूप हो, ऐसैं मानना सम्यग्ज्ञान है ॥ भावार्थ—अज्ञानी जीव रागद्वेषकी उत्पत्ति परद्रव्यतै मानि परद्रव्यतै कोप करै है। जो मेरे परद्रव्य रागद्वेप उपजावै है। ताकूं दूर करूं ताकूं समझानेकूं कहै है—जो रागद्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानतैं आपही-केविषैं होय है ते आपहीके अशुद्ध परिणाम हैं ॥ सो यह अज्ञान नाशकूं प्राप्त होऊ अर सम्यग्ज्ञान प्रगट होऊ, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करौ। रागद्वेपके उपजनेमैं परद्रव्यकूं उपजावनहारा मानि तिसपरि कोप मति करौ। ऐसा उपदेश है ॥२७॥ अब इसही अर्थकूं दृढ करनेकूं अर अगिले कथनकी सूचनिकारूप काव्य कहै है—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥ २८ ॥

सं० टी०—ये-वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षा' साख्याः, रागजन्मनि-रागद्वेपोत्पत्तौ, परद्रव्यमेव-आत्मान्यद्रव्य रागोत्पत्तौ मणिकनककामिनीप्रमुख, द्वेपोत्पत्तौ—विषविपक्षकर्कशकटकादिद्रव्य, एव निश्चयेन, निमित्तता-हेतुतां, कलयंति-प्रतिपादयंति कलि कलि कामधेनु' इति कामधेनावुक्तत्वात्कले. प्रतिपादनार्थ. । तु पुनः, ते जडधियः हि-निश्चित, मोहवाहिनीं-महामोहनिम्नगा, नोत्तरंति-उत्तर्तु न शक्नुवंति स्वरूपानभिज्ञत्वात्, कीदृक्षाः संत' ? शुद्धेत्यादि'-शुद्धबोधेन—कर्ममलकलंकरहितेन ज्ञानेन, विधुरा रहिता अंधा, स्वरूपदर्शनाभावात् बुद्धिर्मतिः येषा ते, तत्वश न कारण ? तथाहि-यद्धि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते, न हन्यते च स्त्र्यादीनां विनाशे रागादि' तस्मात्तथा न, तथा च यत्र हि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते एव, न हन्यते च रागादीना विनाशे कमनीयकामिन्यादिः तस्मान्न तत्तथा, यत्तु न यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते, न हन्यते स्त्रीघाते रागादि, यत्र हि यत्र भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते, न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते तस्मान्न तत्तथेति ॥ २८ ॥ अथ बोधाबोधयोरन्यत्वमुन्नीयते—

अर्थ—जे पुरुष रागकी उत्पत्तिविषैं परद्रव्यहीका निमित्तपणा मानै है, अपना किछूभी हेतु न मानै हैं, ते मोहरूप नदीके पार नाही उतरै हैं ॥ जातैं शुद्धनयका विषयभूत जो आत्मा का स्वरूप ताका ज्ञानकरि रहित अंध है बुद्धि जिनिकी ते ऐसे हैं ॥ भावार्थ—शुद्धनयका विषय आत्मा अनंतशक्तिकूं लीये चैतन्यचमत्कारमात्र नित्य अभेद एक है। तामैं यह स्वच्छता है,

जो जैसा निमित्त मिलै तैसे आप परिणमैं है ॥ ऐसा नाहीं, जो पैला परिणमावै तैसे परिणमैं है अपना किछू पुरुषार्थ नाहीं है सो ऐसे आत्माका स्वरूपका जिनिकूं ज्ञान नाहीं है, ते ऐसे मानैं है, जो आत्माकूं परद्रव्य परिणमावै है । ऐसे माननेवाले मोहकी वाहिनी जो सेना, अथवा नदी, रागद्वेषादि परिणाम तिनितैं पार नाहीं हो है । तिनिके रागद्वेष नाहीं मिटै हैं । जातैं अपना पुरुषार्थ तिनिके होनेमैं होय तौ तिनिके मेटनेमैंभी होय । अर परहीके कीये होय तौ पैला कीयाही करै । अपना मेटना काहेका ? तातैं अपना कीया होय अपना मेटचा मिटै, ऐसैं कथंचित् मानना सम्यग्ज्ञान है ॥२८॥

विशेष—राग आदिकी उत्पत्तिमें परद्रव्य कारण नहीं इस सिद्धांतको दृढ़रूपसे मंडन करनेकेलिये संस्कृत टीकाकारने ये व्याप्तियां बतलाई हैं—जो जहां रहता है उसके (आधारके) नाश होनेसे उसका [आधेयका] नाश हो जाता है जिसप्रकार प्रदीपके नाश होनेपर प्रकाश नहिं रहता । परन्तु स्त्री आदिके नाश होनेपर राग आदिका नाश नहिं होता । तथा जहां जो होता है वह उसके नष्ट होनेपर नष्ट होजाता है जिसप्रकार प्रकाशके नाश होजानेपर प्रदीप । परन्तु राग आदिके नष्ट होजानेपर स्त्री आदिका नाश नहिं होता इसलिये स्त्री आदि राग आदिकी उत्पत्तिमें कारण नहीं । जो जहांपर नहीं होता वह उसके नष्ट होनेपर नष्ट नहिं होता जिसप्रकार घटके नाश होजानेपर उसके भीतर रक्खा हुआ दीपक नष्ट नहिं होता उसीप्रकार स्त्रीके नष्ट होजानेसे राग आदिका भी नाश नहिं होता जहां जो नहिं होता उसके नाशसे उसका भी नाश नहिं होता जिसप्रकार दीपकके नष्ट होनेपर घटका नाश नहिं होता उसीप्रकार राग आदिके नाश होनेसे स्त्री आदिका भी नाश नहिं होता इसरीतिसे राग आदिकी उत्पत्तिमें आत्मासे भिन्न परद्रव्य ही कारण है सांख्यका यह सिद्धांत मिथ्या हुआ ॥ २८ ॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमया भवंति सहजां मुञ्चंत्युदासीनतां ॥ २९ ॥

सं० टी०—इव—यथा, इतः—अस्मात्, प्रकाश्यात्—प्रकाशयितुं योग्यात् घटपटादेः दीपः—कज्जलध्वजः, कामपि विक्रियां न याति देवदत्तो हि घटपटमिव हस्ते गृहीत्वा मां प्रकाशयेति घटपटादिः स्वप्रकाशने दीपं न प्रयोजयति प्रदीपोऽपि न चायः लोहोपलाकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च तदसन्निधाने तत्सन्निधाने च स्वरूपेणैव प्रकाशते । तथा अयं बोधः—ज्ञानं, इतः—अस्मात् बहिरर्थात् शब्दरूपगंधरसस्पर्शगुणद्रव्यादेः बोध्यात्—बोद्धुं—ज्ञातुं योग्यात् कामपि विक्रियां देवदत्तो घटपटमिव करे गृहीत्वा मां शृणु मां

मां पश्ये त्यादिनि स्वज्ञाने नात्मान प्रेरयनि न चात्माप्ययः सूचीवत् स्वस्थानात् तान ज्ञातुमायाति किं तु स्वभावत एव जानाति इति विक्रिया न यायात्-न गच्छेत। कीदृशो बोध. ? पूर्णैकेत्यादि -पूर्णः स्वगुण-पर्यायैः सपूर्णः एकः अच्युत'-अक्षोभ्य', शुद्धः-कर्ममलरहित. स चासौ बोधश्च तस्य तेन वा महिमा माहात्म्य यस्य सः तत -तस्मात् एते-प्रसिद्धा बौद्धा ज्ञानेन तदाकार-तदुत्पत्ति-तदध्यवसायवादिनः अज्ञानिनः किं-किमु रागद्वेषमया भवंति, कीदृशाः ? वस्त्वित्यादि.-वस्तुनः-स्थितिः-नयोपनयैकांतसमुच्चयरूपा तस्या बोधेन वंध्या-रहिता धिषणा मतिर्येषां ते, पुन सहजा-स्वभावजां उदासीनता—रागद्वेषभावलक्षणा माध्यस्थ्या कथ मुंचन्ति ॥ २९ ॥ अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रं विदति—

अर्थ--यह बोद्धा कहिये ज्ञानी है सो पूर्ण अर एक जो च्युत नाही होय अर शुद्ध-विकारतैं रहित ऐसा जो ज्ञान तिसस्वरूप है महिमा जाकी ऐसा है। सो ऐसा ज्ञानी बोध्य कहिये ज्ञेयपदार्थ तिनितैं किछूभी विक्रियाकूं नाही प्राप्त होय है ॥ जैसे दीपक है सो प्रकाशनेयोग्य घटपट आदि पदार्थ है तिनितैं विक्रियाकूं प्राप्त नाही होय है तैसे ॥ सो ऐसे वस्तूकी मर्यादा का ज्ञानकरि रहित है धिषणा कहिये बुद्धि जिनकी ऐसे भये संते ए अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताकूं क्यों छोडै हैं ? रागद्वेषमय क्यों होय हैं ? ऐसा आचार्यनै शोच किया है ॥ भावार्थ—ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयकूं जाननेहीका है। जैसा दीपकका स्वभाव घटपट आदिकूं प्रकाशनेका है। यह वस्तुस्वभाव है। ज्ञेयकूं जाननेमात्रतैं ज्ञानमें विकार नाही होय है। अर ज्ञेयकूं जानिकरि भला बुरा मानि आत्मा रागी द्वेषी विकारी होय है। सो यह अज्ञान है। सो आचार्य शोच किया है-जो वस्तूका स्वभाव तो ऐसे, अर यह आत्मा अज्ञानी होयकरि रागद्वेषरूप क्यों परिणमै है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता अवस्थारूप क्यों रहै नाही। सो यह शोच आचार्यका शोच युक्त है, जातैं जेतैं शुभ राग हैं तेतैं प्राणीनिकूं अज्ञानतैं दुःखी देखि करुणा उपजै तब शोच होय है ॥२९॥ अब अगिले कथनकी सूचनिकारूप काव्य कहै हैं-

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदंति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥ ३० ॥

सं० टी०—रागेत्यादि.-रागद्वेषौ तो च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्या मुक्तं महो येषा ते पुरुषाः, ज्ञानस्य संचेतना-सम्यग्ज्ञायकत्व, विंदन्ति-लभते, कीदृशा ता ? चचदित्यादिः-चाचत्-देदीप्यमाना चित्—दर्शनज्ञान, सैवार्चि'—प्रकाश.—तेन निर्वृता स्वेत्यादि.—स्वस्य रसेन-स्वभावेन, अभिषिक्तं' सिंचित, लक्षणया ज्ञान, भुवन-त्रैलोक्य यया ता, कीदृशास्ते ? नित्य—अवच्छिन्नतया निरतर, स्वभावस्पृशः-स्वभाव-चैतन्यस्वरूपं, नित्यस्वभावमिति पाठः नित्यश्चासौ स्वभावश्च शुद्धज्ञानस्वभाव. त स्पृशंति ध्यानविषयीकुर्वंति इति पूर्वेत्यादि —पूर्वसमस्तकर्मभिर्विकलाः यत्पूर्वकृता शुभाशुभ कर्म तस्मान्निवर्तय-

स्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं, भविष्यत्समस्तकर्मविकलाः यद्भविष्यच्छुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तते य आत्मानं स प्रत्याख्यानं, अनेनैकेन प्रतिक्रमणप्रत्याख्याने निगदिते, तदात्वोदयात्—तदात्वकोर्दीर्णकर्मणः, भिन्नाः अनेनालोचनमुक्तं यच्छुभाशुभं कर्मोदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं यश्च नित्यमालोचयति स खल्वालोचना चेतयतेति। कुतः एवंते ता? दूरेत्यादि:—दूरारूढं नित्यं प्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनास्वभावात् दूरं—अतिशयेन, आरूढं—संप्राप्तं, चरित्रं तत्त्रितयलक्षणं तस्य वैभवं—माहात्म्यं, तस्य बलात् सामर्थ्यात्, इति स्वरूपं चारित्रं निगदितं ॥ ३० ॥ अथ ज्ञानसंचेतनां चेतयते—

अर्थ—ज्ञानी हैं ते कैसे हैं? रागद्वेष जे विभाव तिनिकरि रहित हैं मह कहिये तेज जिनिका बहुरि कैसे हैं? नित्यही अपना चैतन्यचमत्कारमात्रस्वभाव है ताकूं स्पर्शनेवाले हैं। बहुरि कैसे हैं? पूर्वै किये जे समस्त कर्म अर आगामी होयगे जे समस्त कर्म तिनितैं रहित हैं। बहुरि कैसे हैं? तदात्व कहिये वर्तमानकालमें आवै जो कर्मका उदय तातैं भिन्न हैं। ऐसैं ज्ञानी हैं ते अतिशयकरि अंगीकार किया जो चारित्र ताका जो विभव समस्तपरद्रव्यका त्याग ताके बलतैं ज्ञानकी सम्यक्प्रकार चेतना ताकूं अनुभवैं हैं। कैसी है ज्ञानचेतना? चञ्चत् कहिये चिमकती जागती जो चैतन्यरूप ज्योति तिसमयी है बहुरि कैसी है? अपना ज्ञानरूप रस ताकरि सिंच्या है भुवन कहिये तीन लोक जाँहि॥ भावार्थ—जिनिका रागद्वेष गया अर अपने चैतन्यस्वभावका अंगीकार भया अर अतीत अनागत वर्तमान कर्मका ममत्व गया ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यतैं न्यारे होय चारित्रकूं अंगीकार करै हैं। ताके बलतैं कर्मचेतना अर कर्मफलचेतनातैं न्यारी जो अपनी चैतन्यके परिणामस्वरूप ज्ञानचेतना ताकूं अनुभवन करै हैं॥ इहां तात्पर्य यह जानना—जो पहलैं तौ कर्मचेतना अर कर्मफल चेतनातैं भिन्न अपनी ज्ञानचेतनाका स्वरूप आगम अनुमान स्वसंवेदन–प्रमाणतैं जानैं अर ताका श्रद्धान–प्रतीति दृढ करै, सो यह तौ अविरत देशविरत प्रमत्त अवस्थामैं भी होय है। बहुरि जब अप्रमत्त अवस्था होय है, तब अपना स्वरूपहीका ध्यान करै है। तब ज्ञानचेतनाका जैसा श्रद्धान किया तिसविषै लीन होय है तब श्रेणी चढि केवलज्ञान उपजाय साक्षात् ज्ञानचेतना होय है। ऐसैं जानना॥

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ३१

स० टी०—ज्ञानस्य–आत्मनः शुद्धे गुणिन उपचारः संचेतनया—सम्यग्ध्यानेन, एव निश्चयेन, ज्ञानं बोधः नित्यं—निरंतरं, प्रकाशते–चकास्ति, किं? अतीव शुद्धं–अत्यंतं निरावरणं, तु–पुनः अज्ञानसंचेतनया ज्ञानादन्यत्र इदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना सा द्विधा–कर्मचेतना कर्मफल चेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या, वेदयेहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतनं द्वितीया। तया बंधः—अष्टविधकर्मणा बंधः धावन्—प्रस्कंदन् सन्, बोधस्य ज्ञानस्य शुद्धिं निरुणद्धि–आच्छादयति अतो मोक्षार्थिना सा हेया ३१
अथ तत्फलमितरत्कृते—

अर्थ—ज्ञानकी संचेतनाकरि ही ज्ञान है सो अत्यंत शुद्ध निरन्तर प्रकाशै है। बहुरि अज्ञानकी चेतनाकरि बंध है सो दौडता संता ज्ञानकी शुद्धताकूं रोकै है, न होने दे है॥ भावार्थ—संचेतना कहिये जो जहां जिमतैं एकाग्र होय तिसही ओर अनुभवनरूप स्वाद लीया करै सो तिस स्वरूप चेतना कहिये। सो जब ज्ञानहीतैं एकाग्र उपयुक्त होय तिसही ओर चेत राखै सो तौ ज्ञानचेतना है। सो यातें तौ ज्ञान अत्यंत शुद्ध होय प्रकाशै है, केवलज्ञान उपजि आवै है तब संपूर्ण ज्ञानचेतना नाम पावै॥ बहुरि अज्ञान जो कर्म अर कर्मका फलरूप उपयोगकूं करना सो तिसही ओर एकाग्र हो अनुभव करना सो अज्ञानचेतना है। सो यातैं कर्मका बंध होय है सो ज्ञानकी शुद्धताकूं रोकै है। ३१॥

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे॥ ३२॥

सं० टी०—परम-उत्कृष्टतम, नैष्कर्म्यं-कर्मस्वभावातिक्रांत स्व अवलंबे-अहमवलंबयामि। किंकृत्वा? त्रिकालविषयं-अतीतानागतवर्तमानविषयं सर्वं कर्म, कृतकारितानुमननैः-कृतं स्वयं, कारितं परैः, अनुमनितं-परकृतानुमोदितं मनोवचनकायैः परिहृत्य निराकृत्य मनोवचनकायैः कृतकारितानुमननैः यदतीतकर्मनिराकरणं तत्प्रतिक्रमणं, यत्तैर्वर्तमानकर्मनिराकरणमालोचना, यद्भविष्यत्कर्म तैस्तैर्निराकरणं, तत्प्रत्याख्यानं, तदत्रासचारिणा नीयते 'पढमक्खो अतगतो आदिगदो सकमेदि विदियक्खो' इति सूत्रेण, तथाहि-यन्मनसा कृतं दुष्कृतं मे मिथ्येति, यन्मनसा कारितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति, यन्मनसानुमनितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति यन्मनसा कृतं कारितं मिथ्या मे दुष्कृतं इति एकसायोगद्विसायोगत्रिसायोगोत्पन्न भेदा एकान्नपंचाशत्प्रतिक्रमणभेदा जायते॥ ३२॥ अथ स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं चक्रन्थते—

अर्थ—अतीत अनागत वर्तमानकालसंबंधी सर्वही कर्म है ताहि कृत, कारित, अनुमोदना अर मनवचनकायकरि परिहारकरि छोडिकरि उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था है, ताही मैं अवलंबन करों हों। ऐसैं सर्व कर्मका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करै है॥ अब सर्वकर्मका त्याग करनेका कृत कारित अनुमोदना मनवचनकायकरि गुणचास भंग होय हैं। तहां अतीतकालसंबंधी कर्मके त्याग करनेकूं प्रतिक्रमण कहिये॥३२॥

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३३॥

सं० टी०—आत्मनि—चिद्रूपे, आत्मना-ज्ञानेन कृत्वा, नित्यं वर्ते-सततमहं प्रवर्तयामि कीदृशे? चैतन्यात्मनि-चेतनास्वरूपे, पुनः कीदृशे? निष्कर्मणि—कर्ममलातीते, किंकृत्वा? तत्-पूर्वनिबद्धं समस्तमपि कर्म प्रतिक्रम्य—निराकृत्य, तत्किं? यत्—कर्म, अहं अहक, मोहात्-भ्रांतिविजृंभणात्, अकार्षं कृतवान् यदहमचीकरं यदहं कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा वचसा वपुषा च एतत्स्वस्वरूपप्रतिक्रमणं॥ ३३॥ इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः। अथालोचनामालोचयति—

अर्थ—जो मैं मोहतैं अज्ञानतैं, अतीतकालविषैं कर्म कीये, तिनि समस्तहीकूं प्रतिक्रमणरूपकरि अर समस्त कर्मतैं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा ताविषैं आपहीकरि निरंतर वर्तौं हौं। ऐसैं ज्ञानी अनुभव करै॥ भावार्थ—अतीतकालमैं किये कर्मका गुणचास भंगरूप मिथ्याकार प्रतिक्रमणकरि ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्माविषैं लीन होय निरंतर अनुभव करै। ताका यह विधान है॥ मिथ्या कहनेका प्रयोजन यहु जो, जैसैं कोई पहलैं धन कमाय घरमैं धरथा था, पीछैं तासूं ममत्व छोड्या। तब ताका भोगनेका अभिप्राय नाहीं। कमाया था जैसा न कमाया तैसैं कर्म बांध्या था, ताकूं अहित जानि ममत्व छोड्या। ताका फलमैं लीन न होयगा, तब बांध्या मिथ्या ही है। ऐसा जानना॥ ऐसा प्रतिक्रमणकल्प है॥ ३३॥ अब आलोचनाकल्प है—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३४॥

सं०टी०—आत्मनि आत्मना नित्यं वर्ते चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि च, किंकृत्वा? इदं—प्रसिद्धं, सकलं—समस्तं, उदयत्—उदयनिषेकावस्थापन्नं कर्म ज्ञानावरणादि. आलोच्य—सम्यग्विवेच्य, किंभूतं? मोहेत्यादि:—मोहस्य—रागद्वेषरूपस्य, विलास:-विलसनं तेन विजृम्भितं—निष्पादितं, अ आलोचनाविचार:—करोमि कारयामि समनुजानामि, मनसा वचसा कायेन। मनसा कर्म न करोमि, मनसा न कारयामि, मनसा कुर्वंतमप्यन्यं न समनुजानामि, मनसा न करोमि न कारयामि, मनसा न करोमि कुर्वंतमप्यन्यं न समनुजानामि एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनभेदा एकान्नपंचाशत संभोभुवन्ति॥ ३४॥ इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः॥ अथ प्रत्याख्यानमाख्याप्यते-

अर्थ—निश्चयचारित्रकूं अंगीकार करनेवाला कहै है—जो, मोहके विलासकरि फैल्या यह उदयकूं प्राप्त होता जो वर्तमान कर्म ताकूं समस्तकूं आलोचनामैं लेकरि समस्तकर्मसूं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा ताविषैं मैं आपहीकरि निरंतर वर्तौं हौं॥ भावार्थ—वर्तमानकालमैं कर्मका उदय आवै, ताकूं ज्ञानी ऐसे विचारै है—जो, पूर्वै बांध्या था ताका यह कार्य है। मेरा तौ यह कार्य नाहीं। मैं याका कर्ता नाहीं। मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हौं। ताकी दर्शनरूप प्रवृत्ति है। ताकरि या उदय भये कर्मका देखने जाननेवाला हौं। मेरा स्वरूपहीमैं मैं वर्तौं हौं। ऐसा अनुभवन करना ही निश्चयचारित्र है॥ ऐसैं आलोचनाकल्प समाप्त कीया॥३४॥ आगैं प्रत्याख्यानकल्प कहै हैं—

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥३५॥

सं०टी—चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि आत्मनि, नित्यं, आत्मना कृत्वा वर्ते ध्यानरूपेणाहं। कीदृशोऽहं? निरस्तसमोहः दूरीकृतरागद्वेषः। किं विधाय? समस्तं भविष्यत्कर्म प्रत्याख्याय निराकृत्य—करिष्यत् करिष्यमाणं समनुज्ञास्यन्मनोवचनकायैः निरुध्य, इति प्रत्याख्यानं समाप्तं,तथा चात्रश्चारोऽत्र—करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन। मनसा कर्म न करिष्यामि, मनसा न कारयिष्यामि मनसा कुर्वंतमन्यं न समनुज्ञास्यामि, मनसा न करिष्यामि न कारयिष्यामि, मनसा न करिष्यामि कुर्वंतमप्यन्यं न समनुज्ञास्यामि एवमेकद्वित्रिसंयोगजा. एकोनपंचाशत्प्रत्याख्यानभेदा जायंते ॥ ३५ ॥ इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः। अथैतत्त्रय त्रायते—

अर्थ—प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहै है—जो आगामी समस्त कर्मनिकूं मैं प्रत्याख्यानरूप त्याग करि, अर नष्ट भया है मोह जाका ऐसा भया संता कर्मसूं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा ताविषै आपही करि वर्तों हौं ॥ भावार्थ—निश्चयचारित्रमैं प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है, जो, समस्त आगामी कर्मसूं रहित अपना शुद्धचैतन्यकी प्रवृत्तिरूप जो शुद्धोपयोग ताविषै वर्तना है। सो ज्ञानी आगामी समस्त कर्मका प्रत्याख्यान करि अपना चैतन्यस्वरूपविषैं वर्ते है ॥ इहां तात्पर्य ऐसा जानना—जो व्यवहारचारित्रमैं तौ ज्यौं प्रतिज्ञामैं दोष लागै ताका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान होय हैं। अर इहां निश्चयचारित्रका प्रधानपणैं कथन है ॥ सो शुद्धोपयोगसूं विपरीत समस्त ही कर्म आत्माके दोष स्वरूप हैं तिनि सबही कर्मचेतनस्वरूप परिणामका ज्ञानी तीन कालके कर्मका प्रतिक्रमण आलोचना प्रत्याख्यानकरि समस्तकर्मचेतनासूं न्यारा अपना शुद्धोपयोगस्वरूप आत्माका ज्ञान श्रद्धान करि, अर तिसमैं थिर होनेका विधानकरि निष्प्रमाद दशाकूं प्राप्त होय। श्रेणी चढि केवलज्ञान उपजानेंके सन्मुख होय है ॥ यह ज्ञानीका कार्य है ॥ ऐसा प्रत्याख्यानकल्प समाप्त कीया ॥ ३५ ॥ आगै सकलकर्मका सन्यास कहिये क्षेपणा—पटक देना, ताकी भावनाकूं नृत्य कराय कथन पूरण करनेका काव्य है—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ३६

सं० टी—अथ प्रतिक्रमणादिकथनादनंतर, चिन्मात्र—चेतनामय, आत्मानं—स्वचिद्रूपं, अवलंबे ध्यायामि अहं, कीदृशं? विकारैः—कर्मोत्पन्नप्रकृतिभिः रहितं, कीदृशोऽहं? शुद्धेत्यादिः—शुद्धं स्वस्वरूपं, नयति—प्राप्नोति, इति शुद्धनयः, आत्मानं अवलंबत इत्येवंशीलः, पुनः कीदृशः? विलीनमोहः—विनष्टरागद्वेषमोहः, किंकृत्वा? इत्येवं पूर्वोक्तं प्रतिक्रमणादिकथनरूपेण समस्तं—निखिलं, त्रैकालिकं—त्रिकाले—अतीतानागतवर्तमाने भवं त्रैकालिकं, कर्म—ज्ञानावरणादि, अपास्य—निराकृत्य ॥ ३६ ॥ अथ सकलकर्मफलसन्यासभावनां नाटयति—

अर्थ—शुद्धनयका अवलंबन करनेवाला कहै है, जो इत्येवं कहिये पूर्वोक्तप्रकार तीनकाल—अतीतवर्तमानभविष्यत्संबंधी कर्मकूं निराकरणकरि छोडिकरि अर शुद्धनयका अवलंबन कर-

नेवाला ज्ञानी मैं हों । सो विलय भया है मोहमिथ्यात्वकर्म जाका ऐसा भया संता अब समस्त-विकारतैं रहित चैतन्यमात्र आत्माकूं अवलंबूं हौं ॥ ३६ ॥ अब सकलकर्मफलका संन्यासकी भावनाकूं नृत्य करावै हैं—

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥३७॥

सं० टी०—मम आत्मन. कर्मेत्यादि—कर्म एव विषतरु—विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि शुभाशुभानि विगलतु—स्वयं गलित्वा पततु—प्रलयं यान्त्वित्यर्थः कथं ? भुक्तिमंतरेण—इदरुदानम् विना, अहं आत्मानं संचेतये—ध्यायामि, कीदृशं ? अचलं- अक्षोभ्यं, चैतन्यात्मानं दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपं तथाहि-नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये, नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये एवं ज्ञानावरणपंचके दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहत्रित्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपंचविंशतिके, आयुश्चतुष्के, नामकर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अंतरायपंचके योजनीयं विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र ॥ ३७ ॥ अथात्मतत्त्वे कालावली सफलामभिरमयति—

अर्थ—सकलकर्मफलकी संन्यासभावना करनेवाला कहै है, जो, कर्मरूपी विषका वृक्षके फल हैं ते मेरे भोगनेविनाही खिरि जावो ॥ मैं चैतन्यस्वरूप जो मेरा आत्मा ताकूं निश्चल चेतूं हौं—अनुभवूं हों । भावार्थ—ज्ञानी कहै है, जो कर्मका फल उदय आवै है, ताकूं मैं ज्ञाता द्रष्टा हुवा देखूं हौं, ताका फलका भोक्ता नाहीं बनूं हौं, तातैं मेरे भोगे विनाही ते कर्म खिरि जावो । मैं मेरे चैतन्यस्वरूप आत्मामैं लीन भया तिनिका देखने जाननेवालाही हौं ॥ इहां इतना विशेष और जानना जो, अविरतदशामैं तथा देशविरत प्रमत्तसंयतदशामैं तौ ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है अर जब अप्रमत्तदशा होयकरि श्रेणी चढै है तब यह अनुभव साक्षात् होय है ॥३७॥

निश्शेषकर्मफलसन्न्यसनान्ममैवं सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ३८

सं० टी०—मम—मे इयं—प्रसिद्धा, कालावली—कालसमयपंक्तिः. अनंता—अनंतसमयावच्छिन्ना, वहतु यातु, कीदृशस्य मे ? भृशं—अत्यर्थं, आत्मतत्त्वं—स्वस्वरूपं, भजतः—आश्रयतः, कीदृशं ? चैतन्यलक्ष्म चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत्, एवं—पूर्वोक्तप्रकारेण, निरित्यादिः—निश्शेषाणि—समस्तानि तानि च तानि कर्मफलानि च अज्ञानत्वशुभाशुभादीनि तेषां सं—सम्यक् प्रकारेण न्यसनं—परित्यजनं तस्मात्, पुनः किंभूतस्य मे ? सर्वेत्यादिः—स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियांतरं सर्वस्मिन् क्रियांतरे विहारः विहरणं, तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य ॥ ३८ ॥ अथ कर्मफलभुक्ति भनक्ति—

अर्थ—सकलकर्मके फलका त्यागकरि ज्ञानचेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहै है—जो, एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार सकल कर्मका फलका सन्न्यास करनेतैं मैं कैसा हौं ? चैतन्य है लक्षण

ज्ञाका ऐसा आत्मतत्त्व, नाही अतिशयकरि भोगवता हो। अर इस सिवाय अन्य जो उपयोगकी तथा बाह्यली क्रिया, ताविषैं विहार कहिये प्रवर्तना तातैं रहित है वृत्ति जाकी ऐसा अचल हो। सो मेरे यह कालकी आवली प्रवाहरूप अनंत है सो इसहीकूं भोगनेरूप जावो। उपयोगकी प्रवृत्ति अन्यविषैं मति जावो। भावार्थ—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त भया है, जो भावना करते मानूं साक्षात् केवली ही भया। सो ऐसा ही रहना अनंतकाल चाहै है। सो सत्य है। याही भावनातैं केवली होय है। केवलज्ञान उपजनेका परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहार चारित्र है सो इसहीका साधनरूप है। अर इस विना व्यवहारचारित्र है सो शुभकर्मकूं बांधै है। मोक्षका उपाय नाही है। फेरि काव्य कहै हैं—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥ ३९ ॥

स० टी०—खलु-निश्चित, यः-पुमान् स्वत एव स्वस्वभावत एव, तृप्तः-सतृप्तः, पूर्वेत्यादि-पूर्वभावै. पूर्वोदयितविभावपरिणामैः कृतानि कर्माणि तान्येव विषद्रुमाः—विषवृक्षा, तेषां फलानि-सुखदुःखादीनि, न भुंक्ते ततो भिन्नत्वेन तत्फलास्वादको न भवति। सः-योगी, दशांतरं-संसारावस्थात अवस्थांतरं मोक्षं, एति प्राप्नोति। कीदृशं? आपातेत्यादिः-आपातकाले तत्प्राप्तिकाले रमणीयं-मनोज्ञं, ननु प्राप्तिकाले भोगसुखवद्रमणीयं तदानादरणीयमित्याकांक्षायां उदर्करम्यं-उदर्के-उत्तरकाले, रम्यं मनोज्ञं निरित्यादिः निःकर्म-कर्मातीतं तच्च तच्छर्म च तेन निर्वृत्तं, ॥ ३९ ॥ अथ प्रशमरसपानं पाययति—

अर्थ—जो पुरुष पूर्वं अज्ञानभावकरि कीये जे कर्म तेही भये विषके वृक्ष तिनिका फल उदयं आया ताकूं ताका स्वामी होय न भोगवै है। अर निश्चयकरि अपने आत्मस्वरूपहीतैं तृप्त है। अन्य किछू तृष्णा नाही करै है। सो पुरुष वर्तमानकालविषैं तौ सुन्दर रमनेयोग्य, अर आगामी कालविषैं जाका फल सुन्दर रमने योग्य ऐसा कर्मनितैं रहित स्वाधीनसुखमयी दशांतर कहिये ऐसी दशा संसार अवस्थामैं पूर्वै कबहू न भई ऐसी अन्यस्वरूप दशाकूं प्राप्त होय है भावार्थ—इस ज्ञानचेतनाकी भावनाका यह फल है। याके भावनातैं अत्यन्त तृप्त रहै है, अन्य तृष्णा न करै है। अर आगामी केवलज्ञान उपजाय सर्वकर्मनितैं रहित मोक्ष-अवस्थाकूं प्राप्त होय है ॥३९॥ अब उपदेश करै हैं, जो, ऐसे कर्मचेतना अर कर्म फल चेतनाका त्यागकी भावनाकरि अज्ञानचेतनाका अभावकूं प्रकट नचाय ज्ञानचेतनाका स्वभावकूं पूर्ण करि, ताकूं नचावतै संतै ज्ञानी जन हैं ते सदाकाल आनन्दरूप रहै। इस अर्थके कलशरूप काव्य हैं—

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां

सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥४०॥

सं० टी०—इतः—कर्मतत्फलविरतिभावनानन्तरं, सर्वकालं—सर्वदा, प्रशमरसं—साम्यपीयूषं, पिबंतु आस्वादयंतु योगिनः। कीदृशास्ते? स्वां स्वकीयां ज्ञानसंचेतनां ज्ञाने ... ज्ञानस्यैवाहमिति भावनां, सानंदं हर्षेण सह यथा भवति तथा नाटयंतः—कुर्वंतः, किं कृत्वा? स्वेत्यादि—स्वस्य—आत्मनः रसः, तत्र परिगतं प्राप्तं, स्वभावं—स्वरूपं, पूर्णं—संपूर्णं, कृत्वा—विधाय तदपि किं कृत्वा? प्रस्पष्टं व्यक्तं यथा भवति तथा अखिलेत्यादि—अखिला—समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः प्रलयनं विनाशं नाटयित्वा, विधाय, तदपि किं कृत्वा? अविरतं—निरंतरं, कर्मणः—ज्ञानावरणादेः, च—पुनः, तत्फलात् तेषां कर्मणां फलात् रागद्वेषादेः, अत्यंतं नितरां, विरतिं—विरक्तिं, भावयित्वा—संभाव्य—कुर्वंतः ॥४०॥ अथेदं ज्ञानं विवेचयति—

अर्थ—ज्ञानी जन हैं ते कर्मतैं अर कर्मके फलतैं अत्यंत विरक्तभावनाकूं निरंतर भायकरि, बहुरि समस्त अज्ञानचेतनाका नाशकूं स्पष्ट प्रगटपणैं नृत्य कराय अर अपना निजरसतैं पाया स्वभावरूप जो ज्ञानचेतना ताकूं, आनंदसहित जैसे होय तैसे पूर्ण करि नृत्य करावते संते इहांतैं आगैं प्रशमरस जो कर्मका अभावरूप आत्मिकरस अमृत ताही सदाकाल पीवो। यह ज्ञानी जननिकूं प्रेरणा है॥ भावार्थ—यह पहलैं तो तीन कालसंबंधी कर्मका कर्तापणारूप कर्मचेतनाके गुणचास भंगनिकरि त्यागकी भावना कराई। पीछै एकसौ अडतालीस कर्मप्रकृतिका उदयरूप कर्मका फलका त्यागकी भावना कराई। ऐसैं अज्ञानचेतनाका प्रलय कराय अर ज्ञानचेतनामैं प्रवर्तनेका उपदेश कीया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपना स्वभावका अनुभवरूप है। ताकूं ज्ञानी जन सदा भोगवो। यह श्रीगुरुनिका उपदेश है॥ ४०॥ आगैं यह सर्व विशुद्धज्ञानका अधिकार है सो ज्ञानकूं कर्ताभोक्तापणातैं भिन्न दिखाय अर अन्यद्रव्य अर अन्यद्रव्यनिके भाव तिनितैं ज्ञानकूं न्यारा दिखावै है। ताकी सूचनिकाका काव्य है—

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।

समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ ४१ ॥

सं० टी०—इह—अस्मिन् जगति वा, ज्ञानं—बोधः, विवेचितं—भिन्नं, अवतिष्ठते—आस्ते। कुतः? इतः अस्मात्, पदार्थेत्यादि—पदार्थानां धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवादीनां प्रथनं—विस्तारः, तस्य अवगुंठनात् ... ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्य तेभ्यो व्यतिरेकः एवं शब्दादिषु योज्यं। कृतिः—कार्यं तस्य विना—अंतरेण क्रियाया अंतरेण स्वभावादित्यर्थः एकं—अद्वितीयं, पुनः कीदृशं अनाकुलं—आकुलतारहितं, पुनः ज्वलत्—देदीप्यमानं, कुतः? समस्तेत्यादि—समस्तानां निखिलानां, वस्तूनां—पदार्थानां, व्यतिरेकः—भिन्नत्वं, ज्ञानपदार्थयोर्भिन्नत्वं तस्य निश्चयः—निर्णयः, तस्मात् ॥ ४१ ॥ अथ ज्ञानस्य ... दर्शयति—

अर्थ—इहांतैं आगैं इस ज्ञानके अधिकारविषैं समस्तवस्तुनितैं व्यतिरेक कहिये भिन्नका निश्चयतै विवेचित कहिये न्यारा कीया जो ज्ञान सो अवस्थान करै है, निश्चल तिष्ठै है। कैसा हुआ तिष्ठै है ? पदार्थका जो प्रथना कहिये फैलना ताका अवगुण्ठन कहिये ज्ञेयज्ञानसंबंधकरि एकसे दीखना, तातैं भई जो अनेकरूप कृति कहिये कर्तृत्वभावरूप क्रिया, ताविना एक ज्ञानक्रियामात्र सर्व आकुलतातैं रहित दैदीप्यमान होता तिष्ठै है।। भावार्थ—सर्ववस्तुनितैं न्यारा ज्ञानकूं प्रगट दिखावै हैं।। ४१।।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता—
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं ।
मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।। ४२।।

सं॰ टी॰तथा—तेनैव प्रकारेण, एतत्—प्रसिद्ध, ज्ञान—बोध, अवस्थित—व्यवस्थितं, कीदृक्ष ? अन्येभ्यः सर्वपरद्रव्येभ्यः, व्यतिरिक्त—भिन्न, अनेनातिव्याप्ति. परिहृता, आत्मनियत—सर्वदर्शनादिजीव स्वप्रतिष्ठ, अनेनाव्याप्तिः परिहृता ज्ञानस्य। पुनः पृथग्वस्तुता परपदार्थेभ्यो भिन्नस्वभाव परिच्छेदकलक्षणं बिभ्रत् दधत् अनेन असंभवः परिहृतः, आदानोज्झनशून्य—परवस्तुन. आदान ग्रहणं उज्झन त्यजन च ताभ्या शून्य रहितं, अमलं—कर्ममलाविक्रांत, तथा कथ ? यथा अस्य—ज्ञानस्य नित्योदितः—नित्यमुदीयमान—प्रकाशमान, महिमा माहात्म्यं तिष्ठति, कीदृक्. स. ? मध्येत्यादिः—मध्य च आदिश्च अंतश्च मध्याद्यंता. तेषां विभाग, भेद, तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा—स्वाभाविकी, स्फारा विस्तीर्णा, प्रभा—दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञायकत्व तया भासुरः—प्रकाशनशीलः, पुन कीदृशः ? शुद्धेत्यादि—शुद्धज्ञानेन घन निरंतरः।। ४२।। अथात्मधारणामनुमोदते—

अर्थ—यह ज्ञान है सो तैसे अवस्थित भया है, जैसे, याका महिमा निरंतर उदयरूप तिष्ठै, प्रतिपक्षी कर्म न रहै।। कैसा अवस्थित भया है ? अन्य जे परद्रव्य तिनितैं व्यतिरिक्त कहिये न्यारा अवस्थित भया है। बहुरि कैसा है ? आत्मनियतं कहिये आपहीविषैं निश्चित है। बहुरि कैसा है ? पृथक् कहिये न्याराही वस्तुपणाकूं धारता संता है। वस्तूका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक है, सो ज्ञानभी सामान्यविशेषपणाकूं धार्या है। बहुरि कैसा है ? आदानोज्झन कहिये ग्रहणत्याग तिनिकरि शून्य है—रहित है। ज्ञानमें किछू त्याग ग्रहण नाहीं है। बहुरि कैसा है ? अमल कहिये रागादिक मलतैं रहित है ऐसा है बहुरि याका महिमा नित्य उदयरूप तिष्ठै है सो कैसा है ? मध्य अर आदि अर अंत जे विभाग तिनिकरि मुक्त कहिये रहित, अर सहज कहिये स्वाभाविक, अर स्फार कहिये फैल्या विस्तरचा जो प्रभा कहिये प्रकाश ताकरि दैदीप्यमान है

बहुरि शुद्धज्ञानका घन कहिये समूह है ऐसा जाका महिमा सदा उदयमान है। तैसे अवस्थित भया है ठहर्या है ॥ भावार्थ—ज्ञानका पूर्णरूप सर्वकूं जानना है। सो जब यह प्रकट होय है तब तिनि विशेषणनिसहित प्रकट होय है। सो याकी महिमाकूं कोई बिगाडि सकै नाही सदा उदयमान रहै है ॥४२॥ अब कहे है, ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका धारणा सोही कृतकृत्यपणा है—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ ४३ ॥

सं० टी—इह अस्मिन् आत्मनि चिद्रूपे, आत्मनः ज्ञानस्वरूपस्य, तत्—प्रसिद्धं, संधारणं—धारणं, एकाग्रतापणं। कीदृशस्य ? संहृतेत्यादिः—संहृता—निवारिता, सर्वा कर्मोपाधिजा शक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य, पूर्णस्य—सपूर्णज्ञानशक्तिविशिष्टस्य तत् यत् संधारणं तदेव अशेषतः—सामस्त्येन, उन्मोच्यं उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यं, शरीरादि उन्मुक्तं—त्यक्तं, तथा—येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तं तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसंधारणं, अशेषतः आदेय-गृहीतुं योग्यं दर्शनज्ञानादि आत्तं-गृहीतं, आत्मन उपादानमेव हेयोपादेययोः परित्यागग्रहणाभिप्रायः ॥ ४३ ॥ अथास्यानाहारकत्वं शंक्यते—

अर्थ—जो समेटी है सर्व शक्ति जानैं ऐसा जो पूर्णस्वभाव आत्मा, ताका आत्माहीविषैं धारण करना सो धारण किया अर उन्मोच्य कहिये जो छोडनेयोग्य था, सो तौ सर्व उन्मुक्त कहिये छोड्या अर जो आदेय कहिये लेनेयोग्य था, सो समस्त लीया ॥ भावार्थ—जो पूर्णज्ञानस्वरूप सर्वशक्तीका समूहस्वरूप आत्मा, ताकूं धारणा सोही धारण किया अवर त्यागनें योग्य तौ सर्वही त्यागा अर ग्रहण करनेयोग्य था सो ग्रहण कीया। यह ही कृतकृत्यपणा है ॥४३॥ आगै कहै हैं, जो, ऐसे ज्ञानकै देह भीं नाही है ताकी सूचनिकाका श्लोक है—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितं।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥ ४४ ॥

सं० टी०—तत्—ज्ञानं, आहारकं—आहार्यवस्तुग्राहकं कथं स्यात् ? केन प्रकारेण स्यात् ? न केनापि, तस्यामूर्तत्वात् आहारकस्य मूर्तत्वात्। तत् किं ? यत्—ज्ञानं, एवं—अन्येभ्य इत्यादि पूर्वोक्तयुक्त्या, परद्रव्यात् व्यतिरिक्त-भिन्नं, अवस्थितं सुप्रतिष्ठं। अस्य—ज्ञानस्य, देहः-शरीरं येन कथं शंक्यते-आशंक्यते संभाव्यते ? न कथमपि अस्यानाहारकत्वात् ॥ ४४ ॥ अथालिंगमालिंग्यते—

भावार्थ—एवं कहिये पूर्वोक्तप्रकार परद्रव्यतै न्यारा ज्ञान अवस्थित भया ठहर्या ॥ सो ऐसा ज्ञान आहारक कहिये कर्मनोकर्मरूप आहार करनेवाला कैसा होय ? अर जब आहारक नाही तब याकै देहकी शंका कैसी करिये ? नाही करिये ॥४४॥

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ॥ ४५ ॥

संटी०-एवं—मूर्तत्वामूर्तत्वप्रकारेण यत' शुद्धस्य निष्कलमपस्य ज्ञानस्य, देह एव निश्चयेन न विद्यते—नास्ति, ततः तस्माद्देहाभावात् ज्ञातु.-ज्ञायकस्य, पुंस लिंग पाखंडिलिंगं गृहिलिंग वा न मोक्षकारणं-न मुक्तेर्मार्गः, हेतुगर्भितविशेषणमाह देहमय—देहनिवृत्त, यदि देहः स्वकीयो न तर्हि तदाश्रितं लिंगं स्वकीयं कथं स्यात् ॥ ४५ ॥ तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत्

अर्थ—एवं कहिये पूर्वोक्तप्रकारकरि शुद्धज्ञानकै देह ही नाही विद्यमान है, तातैं ज्ञाताके देहमयी लिंग है, चिन्ह है, भेप है सो मोक्षका कारण नाही है ॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६ ॥

सं० टी०-मुमुक्षुणा-मोक्तुमिच्छुना पुंसा एक एव-जिनोपदिष्ट एव न मिथ्योपकल्पितः, मोक्षमार्गः मोक्षसाधनोपायः सदा-नित्यं, सेव्यः-आश्रयणीय., कीदृक्षः ? दर्शनेत्यादिः-स्वश्रद्धान-स्वज्ञान-स्वचरणत्रयस्वरूप', एतत्त्रयमंतरेण तस्यानुपलब्धेः पुन. आत्मनः तत्त्वं-स्वरूप, दर्शनादित्रयमंतरेणात्मस्वरूपाभावात् मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वात् च ॥ ४६ ॥ अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति-

अर्थ—जातैं आत्माका तत्त्व कहिये यथार्थरूप दर्शनज्ञानचारित्र का त्रिकस्वरूप है तातैं मोक्षके इच्छक पुरुषनिकरि एकही यह मोक्षमार्ग सदा सेवने योग्य है ॥ ४६ ॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥ ४७ ॥

सं० टी०—य.-सर्वजनप्रसिद्ध, मोक्षमार्गः-नानामिथ्यामतिविजृम्भितः, अनेकतां दधानोऽपि स एषः मोक्षपथः, दृगित्यादिः-दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्, एकः-न त्वनेकधा नियत.-अनेकप्रमाणनयोपन्यासैर्निश्चितः, य.-पुमान्, तत्रैव—मोक्षपथे दर्शनादिरूपे, स्थिति-निश्चलता स्वात्मनः, एति-प्राप्नोति च-पुनः, अनिशं-निरंतर-त—रत्नत्रयरूप मोक्षपथ एकाग्रो भूत्वा, ध्यायेत्—ध्यानविषयीकुर्यात्, पुनः च: तं—मोक्षपथं, सकलकर्मफलचेतनासन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा चेतति—मुहुर्मुहुरनुभवति निरंतरं-प्रतिक्षणं, तस्मिन्नेव-दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे, विहरति-अनुचरति । कीदृक्षः सन् ? द्रव्यांतराणि-पर-द्रव्याणि, अस्पृशन्-अनाश्रयन मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन्, सः-पुमान्, अचिरात्-शीघ्रं तद्भवे तृतीयभवादौ वा अवश्य-नियमतः, समयस्य-पदार्थस्य-सिद्धांतशासनस्य वा सार-परमात्मानं टंकोत्कीर्णस्वभावं विंदति-लभते, साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत् । कीदृशं ? नित्योदयं-नित्यमुदीयमानं ॥४७॥ अथ लिंगस्य वैयर्थ्यं साधयति-

अर्थ—जो दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप यह एक मोक्षका मार्ग है सो जो पुरुष तिसही विषै

स्थितीकूं प्राप्त होय है तिष्ठै हैं,वहुरि जो तिसहीकूं निरंतर ध्यावै हैं, वहुरि जो तिसहीकूं चेतै हैं, अनुभवै है, वहुरि जो तिसहीविषैं निरन्तर विहार करै है प्रवर्तै है, कैसा भया संता ? अन्यद्रव्यनिकूं नाही स्पर्शता संता, सो पुरुष थोरेही कालमें अवश्य समयसार जो परमात्माका रूप जाका नित्य उदय रहै ऐसा अनुभवै है पावै है। भावार्थ—निश्चयमोक्षमार्गके सेवनतैं थोरेही कालमें मोक्षकी प्राप्ति होय यह नियम है ॥ ४७ ॥ आगै कहै हैं,जो द्रव्यलिंगहीकूं मोक्षमार्ग मानि ता विषैं ममत्वभाव राखै है ते मोक्ष नाही पावै हैं। ताकी सूचनिकाका काव्य है—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वाववोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥ ४८ ॥

सं० टी०—ते-पुरुषाः, अद्यापि-इदानीमपि, साक्षात्स्वरूपप्रकाशनावसरेऽपि, समयस्य सारं-आत्मानं,न पश्यंति—नेक्षते, कीदृक्षं नित्योद्योतं-सदा प्रकाशमानं, अखंडं-संपूर्णं, एकं-कर्मद्वैतरहितं, अतुलालोकं-अनुपमेयप्रकाशं, तत्प्रकाशसदृशस्यापरस्याभावात् , स्वेत्यादिः-स्व एव भावः—पदार्थः, तस्य प्रभा-ज्ञानं, अथवा स्वभावज्ञानस्य प्रभा—द्योतकत्वं तया प्राग्भारं -पूर्वं भृतं, अमलं-निर्मलं, ते के ? ये पुरुषा आत्मना कृत्वा द्रव्यमये-नाग्न्यत्रिदंडिप्रमुखद्रव्यनिर्मापिते लिंगे-वेषे, ममतां 'अहं श्रमणः, अहं श्रमणोपासकश्च इति ममत्वं वहंति,-कुर्वंति, कीदृक्षा. ? ये तत्त्वेत्यादिः-तत्त्वस्य—वस्तुयाथात्म्यस्य, अवबोधः परिज्ञानं, तेन च्युताः, कीदृशेनात्मना ? समित्यादिः—संवृतिपथे-कल्पनापथे,प्रस्थापितेन—आरोपितेन, किंकृत्वा ? एनं-दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं भावलिंगं परिहृत्य-मुक्त्वा, इतस्ततो द्रव्यलिंगे प्रवृत्तस्य न मुक्तिरित्यभिप्रायः ॥ ४८ ॥ अथ व्यवहारं विमूढयति—

अर्थ—जे पुरुष यह पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग ताकूं छोडिकरि अर व्यवहार मार्गविषैं चलाया स्थाप्या जो अपना आतमा ताहीकरि द्रव्यमय जो यह वाह्यलिंग भेष ताविषैं ममता करै हैं, जानै हैं कि यह ही हमकूं मोक्ष प्राप्त करेगा,ते पुरुष तत्त्वके यथार्थ ज्ञानतैं रहित भये संते मुनिपद लिया है तौऊ इस समयसारकूं नाही अवलोकन करै हैं, नाही पावैं। कैसा है समयसार ? नित्य है उदय जाका, कोई प्रतिपक्षी होय ताका उदयका विच्छेद न करि सकै है। वहुरि कैसा है ? अखंड है, जामैं अन्य ज्ञेय आदिके निमित्ततैं खंड नाही होय है वहुरि कैसा है ? एक है पर्यायनिकरि अनेक अवस्था होय हैं, तौऊ एकरूपपणाकूं नाही छोडै है वहुरि कैसा है ? अतुल कहिये जाके वरावरी अन्य नाही ऐसा है आलोक कहिये प्रकाश जाका, सूर्यादिकका प्रकाशकी ज्ञानप्रकाशकूं उपमा नाही लागै। वहुरि अपने स्वभावकी जो प्रभा ताका प्राग्भार है जाका भार अन्य सहारी सकै नाही। वहुरि अमल है, रागादिक विकारमलकरि रहित है। ऐसा परमात्माका स्वरूपकूं द्रव्यलिंगी नाही पावै है ॥४८॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलं ॥ ४९ ॥

सं० टी०—व्यवेत्यादिः-व्यवहारेण-श्रमणश्रमणोपासकलक्षणद्विविधेन लिंगेन मोक्षमार्गः इति स्वरूपेण विमूढा-मोहिता दृष्टिर्येषां ते, जनाः-लोका. परमार्थं—निश्चयं, न कलयंति-न प्राप्नुवंति-न जानंति वा तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात् । अत्र दृष्टांतोपन्यासः-इह-जगति, तुषेत्यादिः तुषबोधः-तंडुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा-विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः तुष-तंडुलाच्छादिका त्वच कलयंति-जानंति पुनस्तत्र स्थितं तंडुलं-अक्षत न जानंति तत्र तस्य परिज्ञाना-भावात् । वैतालीयनाम छंदः ।

" षट् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरंतराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौ गुरु ॥ १ ॥ इति छंद उक्तलक्षणसद्भावात् ॥ ४९ ॥ द्रव्यलिंगिना कुतः स्वरूपाप्राप्ति ? इति चेत्—

अर्थ—जे जन व्यवहारहीविषैं विमूढ मोही है बुद्धि जिनकी ऐसे हैं ते परमार्थकूं नाही जानैं हैं । जैसैं लोकविषैं जे तुसहीके ज्ञानविषैं विमुग्धबुद्धि जन हैं ते तुसहीकूं तंदुल जानैं हैं अर तंदुलकूं तंदुल नाही जानैं हैं ॥ भावार्थ—जे परमार्थ आत्माका स्वरूप नाही जानैं हैं अर व्यवहारविषैं मूढ होय रहे हैं शरीरादि परद्रव्यहीकूं आत्मा जानैं हैं ते परमार्थ आत्माकूं नाही जानैं हैं । जैसैं तुष तंडुलका भेद तौ जानैं नाही अर परालकूं कूटैं तिनिके तंडुलकी प्राप्ति नाही तुस तंडुलका भेदज्ञान भये संते तंडुल पावै ॥४९॥ आगैं इसही अर्थकूं दृढ करनेकूं कहै हैं—

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥५०॥

स० टी०—समयसारः-समयेषु पदार्थेषु सारः, एव निश्चित न दृश्यते—नेक्ष्यते, कैः ? द्रव्यलिंगे-श्रमणोऽहं, श्रमणोपासकोऽहमिति य. ममकार अहंकारः तेन मीलितैः -आच्छादितैः, पुम्भिः, कुत. ? यत् यस्मात्कारणात्-किल इति स्पष्टं, इह-जगति, द्रव्यलिंग-वेषधारणादिचिन्हं, अन्यत.-परद्रव्याच्छरीरादे. भवति, हीति-निश्चितं इदं-प्रसिद्धं एक-अद्वितीय ज्ञानमेव-परमात्म-ज्ञानमेव, स्वतः-स्वरूपात् , जायते नान्यतस्तत्-नान्यस्तः ॥ ५० ॥ अथ शास्त्रे परमामन्यते—

अर्थ—द्रव्यलिंगके ममकारकरि मीलित हैं मोही आंधे हैं तिनिकरि समयसार है सो देखियेही नाही है । जातैं इस लोकविषैं द्रव्यलिंग है सो तौ अन्यद्रव्यतैं होय है अर यह ज्ञान है सो आप आत्मद्रव्यतैंही होय है ॥ भावार्थ—जे द्रव्यलिंगकूंही आपा मानैं है ते आंधे हैं । तिनिकूं आपा पर सूझ्या नाही ॥५०॥

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ५१

सं० टी—अलमलं-पूर्यतां-पूर्यतां, कैः ? अतिजल्पैः-इदं मोक्षहेतुः, इदं नेत्यादि वचोजल्पनैः पुनः अनल्पैः-प्रचुरैः, दुर्विकल्पैः-तत्तन्मानससंकल्पैः, अलमलं, अथवा तद्विशेषणं दुर्—दुष्टा विकल्पा यत्रातिजल्पे तैः, जल्पस्य विकल्पपूर्वकत्वात्, इह जगति, नित्यं, एकः अयं परमार्थः-परा—उत्कृष्टा, मा-ज्ञानादिलक्ष्मीर्यस्य स चासौ अर्थः, कुतः आत्मार्थः, चेत्यतां—ध्यायतां ? खलु निश्चित, समयसारात्-परमात्मनः सकाशात्, उत्तरं-अपरं, किंचित्-किमपि ध्येय नास्ति ॥ कीदृशात् तस्मात् ? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः तस्य विसरः—समूहः, तेन पूर्णं-परिपूर्णं तच्च तत् ज्ञानं च विस्फूर्तिमात्रं-विस्फुरणकात्स्न्र्यं यत्र तस्मात् ॥ ५१ ॥ अथ शास्त्रं परिसमापयन् तन्माहात्म्यमावर्ण्यते—

अर्थ—आचार्य कहै है जो अति बहुत कहनेकरि अर बहुत दुर्विकल्पनिकरि पूरी पडो। इस अध्यात्मग्रंथविषैं यह परमार्थ है, सोही एक निरन्तर अनुभवन करना जातैं निश्चयकरि अपने रसका फैलावकरि पूर्ण जो ज्ञान ताका स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार परमात्मा तिस शिवाय अन्य किछूभी सार नाही है॥ भावार्थ—पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभवन करना। निश्चयकरि इस उपरांति किछूभी सार नाही है॥ आगैं इस समयसार ग्रंथकूं पूर्ण करै है। ताकी सूचनिकाका श्लोक है—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ ५२ ॥

सं० टी०—इदं—अध्यात्मतरंगिणीनाम शास्त्रं, समयसारप्राभृतं वा, एकं—सकलशास्त्रातिशायित्वात् परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात्, अक्षयं-आचंद्रार्कं शाश्वतं सत्, पूर्णतां-भव्यतां- पूर्णता-सपूर्णतां याति प्राप्नोति, कीदृशं ? जगच्चक्षुः-जगन्नेत्र, तत्प्रकाशकत्वात्, पुनः कीदृशं ? विज्ञानघनं- आत्मानं अध्यक्षतां नयत्-प्रापयत्, कीदृशं तं ? आनंदमयं-आत्यंतिकसुखनिर्वृत्त, इदं शास्त्रं ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणमधीत्योत्तमं सौख्यं विंदति इत्यभिप्रायः ॥ ५० ॥ अथात्मतत्त्वोपसंहारं दृब्धन्यते—

अर्थ—इदं कहिये यह समयप्राभृत है सो पूर्णताकूं प्राप्त होय है। कैसा है ? अक्षय कहिये जाका विनाश न होय ऐसा जगतके अद्वितीय नेत्रसमान है। जातैं कहा करता है ? विज्ञानघन जो शुद्ध परमात्मा समयसार आनन्दमय ताकूं प्रत्यक्ष प्राप्त करता संता है॥ भावार्थ—यह समयप्राभृत ग्रंथ है सो वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोऊही प्रकार करि नेत्रसमान है। जातैं जैसैं नेत्र घटपटादिककूं प्रत्यक्ष दिखावै है तैसैं यह शुद्ध आत्माका स्वरूपकूं प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखावै है ॥५२॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ॥ ५३ ॥

सं० टी०—इति-उक्तयुक्त्या, ज्ञानमात्रं-ज्ञानमयं, इदं आत्मनस्तत्त्वं-स्वरूपं, अवस्थितं-सुप्रतिष्ठं भावादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वात् अन्यथा अचेतनत्वप्रसंगात् अखण्डम्-परवादिभिः प्रमाणैः

खडयितुमशक्यत्वात्, एक-कर्मोपाधिनिरपेक्षत्वात्, अचलं-शाश्वतत्वात्, स्वसंवेद्यं-स्वानुभवप्रत्यक्षत्वात् अबाधितं—तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्य चित्परमाणोश्चाभवात् ॥ ५३ ॥ अथ स्वरूपनिरूपणानंतर विशदस्याद्वादविद्यानवद्यवादविनोदवेदनाय पातिकापद्य निगद्यते—

अर्थ—इति कहिये या प्रकार आत्माका तत्त्व कहिये परमार्थभूत स्वरूप ज्ञानमात्र अवस्थित भया निश्चित ठहरया। कैसा है ज्ञानमात्रतत्त्व ? अखंड है अनेक ज्ञेयाकारकरि खंड खंड दीखे है, तौऊ ज्ञानमात्रविषै खंड नाही है। बहुरि याही तैं एकरूप है। बहुरि अचल है। ज्ञानरूपतैं चल न होय अर ज्ञेयरूप नाही है। बहुरि स्वसंवेद्य है आपहीकरि आप जाननेयोग्य है। बहुरि अबाधित है काहू खोटी युक्तिकरि बाध्या नाही जाय है ॥ भावार्थ—इहां आत्माका निजस्वरूप ज्ञानही कह्या है जातैं आत्मामैं अनन्त धर्म हैं, तिनिमैं केई तौ साधारण हैं, ते तौ अतिव्याप्तिरूप हैं। तिनितैं आत्मा पिछाण्या जाय नाही। बहुरि केई पर्यायाश्रित हैं, कोई अवस्थामैं है, कोईमैं नाही हैं, ते अव्याप्ति रूप हैं। तिनितै भी आत्मा पिछान्या जाय नाही। बहुरि चेतनता है सो यद्यपि लक्षण है तथापि शक्तिमात्र है, सो अदृष्ट है। तातैं ताकी व्यक्ति दर्शन ज्ञान हैं। तिनिमें ज्ञान साकार है, प्रकट अनुभवगोचर है। तातैं याहीके द्वारैं आत्मा पहिचान्या जाय है ॥ तातैं या ज्ञानहीकूं प्रधानकरि आत्मतत्त्व कह्या है ॥ ऐसा मति जानूं जो आत्माकूं ज्ञानमात्र तत्त्व कह्या है। सो एताही परमार्थ है अन्य धर्म झूटे हैं आत्मामें नाही हैं ऐसा सर्वथा एकांत कीये मिथ्यादृष्टि होय है। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धका मत आवै है। तथा वेदांतका मत आवै है। सो ऐसा एकांत बाधासहित है ॥ ऐसा एकांत अभिप्रायकरि मुनिव्रतभी पालैं, अर आत्माका ज्ञानमात्रका ध्यान भी करैं तौ मिथ्यात्व कटै नाही। मंदकषायनिकै वशतैं स्वर्ग पावै तौ पावौ, मोक्षका साधन तौ होय नाही। तातैं स्याद्वादकरि यथार्थ समझना ॥

ऐसे इहातांई गाथाका व्याख्यान अर तिस व्याख्यानके कलशरूप तथा सूचनिकारूप काव्य टीकाकार कीये। अब इहां टीकाकार विचारे है-जो इस ग्रन्थमैं ज्ञानकूं प्रधानकरि ज्ञानमात्र आत्मा कहते आये। तहां कोई ऐसा तर्क करै, जो जैनमत तौ स्याद्वाद है, ज्ञानमात्र कहनेमैं एकांत आया, स्याद्वादतैं विरोध आया। तथा एकही ज्ञानमैं उपायतत्त्व अर उपेयतत्त्व ऐ दोय कैसे बणै ? ऐसे तर्कके निराकरणके अर्थि किछू कहिये हैं। ताका श्लोक है—

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते ॥ ५४ ॥

सं० टी०—अत्र-समसारपद्यपूर्णताप्रस्तावे भूयोऽपि—पुनरपि पूर्वं तत्त्वस्वरूपमुक्तं ततोऽपि पुन. मनाग्-संक्षेपतः किंचित्, वस्त्वित्यादि-वस्तुनः तत्त्वं—स्वरूपं, तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था, चिंत्यते विचार्यते च। उपेत्यादि-उपायः-स्वप्राप्तये दर्शनज्ञानचारित्रप्राप्तये, उपायः-तेनोपायेन, प्राप्यः आत्मा

तयोर्भावः स्वरूपं, चिंत्यते, किमर्थं ? स्यादित्यादिः स्याद्वादः अनेकांतवादः, तत्र यदेव तत् तदेवातत्, यदेकं तदेवानेकं द्रव्यपर्यायार्पणात् यदेव सत् तदेवासत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावविवक्षातः यदेव नित्यं तदेवानित्यं द्रव्यपर्यायार्पणात् इत्याद्यनेकांतस्य युक्तितोऽप्रसहरूया निरूपणात् तस्य शुद्धयर्थं प्रतिपाद्यचित्तध्वांतनिवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच्च ॥ ५४ ॥ अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्ववादिवादमनूद्य तत्समाधानसंधानमादधते—

अर्थ—इहां इस अधिकारविषैं स्याद्वादके शुद्धताके अर्थि वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था है सो विचारिये है तथा एकही ज्ञानमें उपायभाव अर उपेयभाव किछू एक फेरिभी विचारिये हैं ॥ भावार्थ—यद्यपि इहां ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कह्या है तथापि वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है, सो स्याद्वादतै सधै है। सो ज्ञानमात्र आत्माभी वस्तु है, ताकी व्यवस्था स्याद्वादकरि साधिये है। अर इस ज्ञानहीमें उपायभाव अर उपेयभाव कहिये साध्यसाधकभाव विचारिये है। अब याकी व्यवस्था कहै हैं—स्याद्वाद है सो समस्तवस्तूका साधनेवाला एक निर्बाध अर्हंतसर्वज्ञका शासन है मत है। सो स्याद्वाद सर्ववस्तु अनेकांतात्मक हैं ऐसे कहै है। जातैं सर्वही वस्तुका अनेकांतात्मक कहिये अनेकधर्मरूप स्वभाव है। असत्यार्थ कल्पनाकरि नाही कहे है। जैसा वस्तूका स्वभाव है तैसाही कहै है ॥ सो इहां आत्मा नामा वस्तूकूं ज्ञानमात्रपणाकरि कहते संतें स्याद्वादका परिकोप नाही है। ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकैभी स्वयमेव अनेकांतात्मकपणा है। सो कैसा है सोही कहै हैं ॥ तहां अनेकांतका ऐसा स्वरूप है, जो, जोही वस्तु तत् स्वरूप है, सोही वस्तु अतत्स्वरूप है। बहुरि जोही वस्तु एकस्वरूप है सोही वस्तु अनेकस्वरूप है। बहुरि जोही वस्तु सत्स्वरूप है सोही वस्तू असत्स्वरूप है बहुरि जोही वस्तु नित्यस्वरूप है सोही वस्तु अनित्य स्वरूप है ऐसे एकवस्तुविषैं वस्तुपणाको निपजावनहारी परस्परविरुद्ध दोय शक्तिका प्रकाशना सो अनेकांत है। सो ऐसीं विरुद्ध दोय शक्ति अपना आत्मवस्तूकै ज्ञानमात्रपणा होतैंभी पाइए है। सोही कहिये है। आत्माकै ज्ञानमात्रपणा होतैंभी अंतरंगविषैं चिमकता प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप ताकरि तौ तत्स्वरूपपणा है। बहुरि बाह्य जेते अनंतज्ञेयभावकूं प्राप्त अर ज्ञानस्वरूपतै भिन्न जे परद्रव्यनिके रूप, तिनिकरि अतत्स्वरूपपणा है। तिनि स्वरूप ज्ञान नाही है॥ बहुरि सहभूत प्रवर्त्तते अर क्रमरूप प्रवर्त्तते जे अनंत चैतन्यके अंश तिनिका समुदायरूप अविभागरूप जो द्रव्यपणा ताकरि तौ एकपणा है बहुरि अविभाग एकद्रव्यविषैं व्याप्त जे सहभूत प्रवर्तते अर क्रमरूप प्रवर्तते चैतन्यके अनंत अंश, तिनिरूप पर्याय, तिनिकरि अनेकपणा है ॥ बहुरि अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होनेकी शक्तीका स्वभावपणाकरि सत्त्वरूप है ॥ बहुरि परके द्रव्य क्षेत्र काल भावका होनेकी शक्तीका स्वभावपणाकै अभावकरि असत्त्वस्वरूप है ॥ बहुरि अनादिनिधन अविभाग एकवृत्तिरूप जो परिणमन तिसपणाकरि नित्यपणा स्वरूप है ॥ बहुरि क्रमकरि

प्रवर्तते जे एकसमयपरिणाम अनेकवृत्तीके अंश तिनिकरि परिणमनेपणाकरि अनित्यपणा स्वरूप है एसे तत्पणा, अतत्पणा एकपणा अनेकपणा, सत्पणा असत्पणा, नित्यपणा अनित्यपणा प्रकट प्रकाशेही है ।। इहां तर्क, जो, आत्मवस्तूके ज्ञानमात्रपणा होतेभी स्वयमेव अनेकांत प्रकाशै है, तौ, अर्हंत भगवान् तिसके साधनपणाकरि अनेकांतकूं कौन अर्थी अनुशासन करै हैं उपदेशरूप करै है ? ताका समाधान-जो अज्ञानी जन हैं तिनिके ज्ञानमात्र आत्मवस्तूका प्रसिद्ध करनेके अर्थी कहै हैं । निश्चयकरि अनेकांतविना ज्ञानमात्र आत्मवस्तुही प्रसिद्ध नाही होय है । सोही कहिये है । स्वभावही थकी बहुत भावनिकरि भरया जो यह लोक ताविषैं सर्वभावनिकै अपने स्वभावकरि अद्वैतपणा है । तौऊ द्वैतपणाका निषेध करनेका असमर्थपणा है। तातैं समस्तही वस्तु है सो स्वरूपविषैं प्रवृत्ति अर पररूपतैं व्यावृत्ति इनि दोऊ रीतिकरि दोऊ भावनिकरि आश्रित है, युक्त है, यह नियम है, सोही ज्ञानमात्र भावविषैं लगावना । तहां ज्ञानभाव है सो अन्य बाकीके ज्ञेयभावनिकरि सहित अपना निजज्ञानरसका भरकरि प्रवर्त्या जो ज्ञाताज्ञेयका संबंध तिसपणाकरि अनादिहीतैं ज्ञेयाकार परिणमताही दीखै है। तातैं जो अज्ञानी जन हैं सो ज्ञान तत्त्वकूं ज्ञेयरूप अंगीकार करि अज्ञानी होयकरि अर आप नाशकूं प्राप्त होय है । तिस काल यह अनेकांत है, सो अपना ज्ञानस्वरूपकरि ज्ञेयतैं भिन्न ज्ञानतत्त्वकूं प्रकट करि अर इस आत्माकूं ज्ञातापणाकरि परिणमनतैं ज्ञानी करता संता तिस आत्माकूं उदयरूप करै है । नाश न होने दे है ।। १ ।। बहुरि अज्ञानी जन जिस काल ऐसे मानैं हैं, जो यह सर्व जगत् है सो निश्चयकरि एक आत्मा है । ऐसैं अज्ञानतत्त्वकूं अपना ज्ञानस्वरूपकरि अंगीकार करि अर समस्त जगतकूं आपा मानि ग्रहण करि, अपना भिन्न आत्मा का नाश करै है । तिस काल पररूपस्वरूपकरि अतत् कहिये सर्व जगत् एकही आत्मा नाही है, ऐसैं भिन्न आत्मस्वरूपपणा प्रकट करि अर यह अनेकांत है सो समस्त जगत् भिन्न ज्ञानकूं दिखावता संता आत्माका नाश नाही करने दे है ।। २ ।। बहुरि जिस काल अनेक ज्ञेयनिके आकारनिकरि खंड खंड रूप कीया जो एक ज्ञानका आकार ताकूं देखि एकांतवादी ज्ञानतत्त्व कूं नाशकूं प्राप्त करै है । तिस काल यह अनेकांत है सो ज्ञानतत्त्वके द्रव्यकरि एकपणाकूं प्रकट करता संता ताकूं जीवावै है । नाश नाही होने देवै है ।। ३ ।। बहुरि जिस काल एकांती ज्ञानका एक आकारका ग्रहण करनेका अर्थि अनेक ज्ञेयनिके आकार ज्ञानमैं आवै हैं, तिनिका त्याग करि अर ज्ञानस्वरूप आत्माका नाश करै है । तिस काल यह अनेकांत है सो ज्ञानके पर्यायनिकरि अनेकपणाकूं प्रकट करता संता आत्माका नाश नाही करने दे है ।। ४ ।। बहुरि जिस काल एकांती है सो ज्ञायमान ज्ञानमैं आते जे परद्रव्य तिनिके परिणमनतैं ज्ञाताद्रव्यकूं पर द्रव्यपणाकरि अंगीकार करि आत्माका नाश करै है तिसकाल अपना स्वद्रव्यकरि आत्मा

का सत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही तिस आत्माकूं जीवावे है नाश नाही होने दे है ५ वहुरि जिस काल एकांती है, सो, सर्वद्रव्यनिकूं ज्ञाताद्रव्यकरि अंगीकार तैं मैंही हों, ऐसे परद्रव्य करि आत्माका नाश करै है, तिस काल, परद्रव्यरूप आत्मा नाही है, ऐसैं परद्रव्यकरि आत्माका असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही नाश करने नाही दे है ॥६॥ वहुरि परक्षेत्रविषैं प्राप्त जे ज्ञेय पदार्थ तिनिके आकार तिनिसारिखा परिणमनतैं परक्षेत्रहीकरि ज्ञानकूं सद्रूप अंगीकार करि एकांती नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल अपना क्षेत्रकरि अस्तित्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही जीवावे है, नाश नाही होने दे है ॥ ७ ॥ वहुरि अपने क्षेत्र विषैं होनेके अर्थि परक्षेत्रविषैं प्राप्त जे ज्ञेय तिनिका आकार ज्ञानका होना ताका त्यागकरि ज्ञानकूं ज्ञेयाकाररहित तुच्छ करता संता एकांती आत्माका नाश करै है तिस काल अनेकांत है सो ज्ञानकै अपना क्षेत्रविषैं परक्षेत्रविषैं प्राप्त जे ज्ञेय तिनिके आकाररूप परिणमनेका स्वभावपणा है, ऐसैं परक्षेत्रकरि नास्तिपणाकूं प्रगट करता संता नाश करने न दे है ॥ ८ ॥ वहुरि जिस काल पूर्वे आलंबे थे ज्ञेय पदार्थ तिनिका विनाशका कालविषैं ज्ञानका असत्त्वकूं अंगीकार करि एकांती ज्ञानकूं नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल अपना ज्ञानहीका कालकरि अज्ञानका सत्त्वकूं प्रगट करता संता अनेकांतही ज्ञानकूं जीवावै है, नाश न होने दे है ॥ ९ ॥ वहुरि जिस काल अर्थका आलंबनका कालहीविषैं ज्ञानका सत्त्वकूं ग्रहणकरि एकांती आत्माका नाश करै है तिस काल परके कालकरि असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही नाश होने न दे है ॥ १० ॥ वहूरि जिस काल ज्ञायमान जाननेमैं आवता जो परभाव ताके परिणमनके आकार दीखता जो ज्ञायकभाव ताकूं परभावकरि ग्रहणकरि अर ज्ञानभावकूं एकांती नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल स्वभावकरि ज्ञानका सत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांतही ज्ञानकूं जीवावे है नाश न होने दे है ॥ ११ ॥ वहुरि जिस काल एकांती है सो ऐसा मनावै है जो सर्व भाव हैं ते मै हों, ऐसैं परभावकूं ज्ञायकपणाकरि अंगीकार करि, अर आत्माका नाश करै है, तिस काल परभावनिकरि ज्ञानका असत्त्वकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही आत्मा का नाश न होने दे है ॥ १२ ॥ वहुरि जिस काल अनित्य जे ज्ञानके विशेप तिनिकरि खंडित भया जो नित्यज्ञानसामान्य, सो नाशकूं प्राप्त होय है ऐसा एकांत स्थापै, तिस काल ज्ञानका सामान्यरूपकरि नित्यपणाकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही नाश करने न दे है ॥ १३ ॥ वहुरि जिसकाल नित्य जो ज्ञानसामान्य ताका ग्रहण करनेके अर्थि अनित्य जे ज्ञानके विशेप तिनिका त्यागकरि एकांत है सो आत्माकूं नाशकूं प्राप्त करै है, तिस काल ज्ञानके विशेपरूपकरि अनित्यपणाकूं प्रकट करता संता अनेकांत है सोही तिस आत्माकूं जीवावै है, नाश होने न दे है ॥ १४ ॥ ऐसैं चौदह भंगनिकरि ज्ञानमात्र आत्माकूं एकांत-

करि तौ आत्माका अभाव होना अर अनेकांतकरि आत्माका ठहरना दिखाया। तहां तत् अतत्, अर एक अनेक, नित्य अनित्य, ऐसे तौ छह भंग भये। अर सत्त्व असत्त्वके द्रव्य क्षेत्र काल भावकरि आठ भंग कीये, ऐसे चौदह भंग जानने ॥ अब इनिके कलशरूप १४ काव्य हैं, सो कहिये हैं--

वाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रांतं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥

सं० टी०—पशो. पश्यते वध्यते कर्मेति पशु, अज्ञानी तस्य अतत्स्वभाववादिनोऽज्ञानिन, ज्ञान बोधः, सीदति विशीर्णतां याति युक्तिवलाभावात, कीदृश तत् ? वाह्यार्थैं अचेतनपदार्थैं परिपीतं तत समुत्पन्नो- स्तदाकारधारित्वात्तत्स्वरूपेण ज्ञान उज्झितेत्यादि उज्झिता त्यक्ता, निजप्रव्यक्तिः स्वप्राकट्यं, तथा रिक्ती- भवत् स्वरूपावेदकत्वात् पुनः परित. समतात् पररूपे परात्मकं अचेतनादौ द्रव्ये विश्रात एव निश्चयेन न स्वस्वरूपे। ज्ञानस्यार्थप्राकट्यं न तु स्वप्राकट्यं ज्ञान तु ज्ञायते खलु अर्थप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या इत्यतदा- त्मकत्वं वदतो ज्ञानाभावप्रसगात् अनवस्थादिदोषदुष्टत्वात्। ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात्स्वरूपप्रकाशात्म- कत्वं कथं तदभावात् परस्वरूपेण व्यवस्था इति चेन्न, प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशनवत् ज्ञानस्यापि स्वपरप्रकाशा- त्मकत्वात्, का स्वात्मनि क्रिया विरुद्धा ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा भवनाभावप्रसगात्, उत्पत्तिलक्षणायास्तस्या अनंगीकाराच्च ज्ञप्ति लक्षणाया विरोधाभावात्। पुन. भूयः, इति युक्त्या स्याद्वादिन' अनेकातमतावलंबिनः तत् ज्ञानं पूर्णं स्वगुणपर्यायैरभिन्न सत् समुन्मज्जति सर्वत्र स्वप्रकाशकत्वेन समुच्छलति। इति किं ? इह जगति, यत् ज्ञानादि, तत् तत्स्वरूपं स्वपरप्रकाशात्मक, तत् ज्ञानादि, स्वरूपत. स्वभावत. ततः तदात्मकं स्यात्। कुतः ? दूरोदित्यादि. दूर अनतकाल, उन्मग्नः स्वगुणिनि लय गत. घन. निरतर, यः स्वभावः स्वरूपं, तस्य भर. अतिशयः तस्मात् स्वरूपस्य स्वरूपिणि लीनत्वात्तदात्मत्वमेव ॥ ५८ ॥ अथाभिन्नवादिनो मतमाशंक्य स्याद्भिन्नत्व समाचेष्टते—

अर्थ—पशु कहिये अज्ञानी तिर्यंचसमान सर्वथा एकांती, ताका ज्ञान है सो बाह्य ज्ञेय पदार्थनिकरि समस्तपणे पीया गया ऐसा होता संता छोडि जो अपनी व्यक्ति तिनिकरि रीता भया संता समस्तपणेकरि पररूपहीकेविषैं विश्रांत भया रहि गया। अपना रूप किछू भी न रह्या, सो नष्ट भया। बहुरि स्याद्वादीका ज्ञान है सो जो अपने स्वरूपतैं जो है सो तत्स्वरूपही है, ज्ञानस्वरूपही है, ऐसे तत्स्वरूप भया संता अतिशयकरि प्रगट भया जो ज्ञानका समूहरूप स्वभाव ताके भरतैं संपूर्ण उदयरूप प्रकट होय है ॥ भावार्थ—कोई सर्वथा एकांती तौ ज्ञानकूं ज्ञेयाकार मात्रही मानै है। ताके तौ ज्ञानकूं ज्ञेय पीय गये आप कछू न रह्या। बहुरि स्या- द्वादी ज्ञान अपने स्वरूपकरि ज्ञानही है, ज्ञेयाकार भया तौऊ ज्ञानपणाकूं नाहीं छोड़ै है। ऐसे मानैं है। तातैं तत्स्वरूप ज्ञान प्रकट प्रकाशमान है ॥

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुःपशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वददर्शी पुनर्वि-
श्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥

सं० टी०—ननु यदुक्तं स्याद्वादिभिरभिन्नं तदिष्टमेव तथाहि प्रतिभास एवेदं यत् प्रतिभासते तत् प्रतिभास एव यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासमानं चेदं जगत्, न चात्र जगतः, प्रतिभासमानत्वमसिद्धं साक्षादसाक्षाच्च तस्य प्रतिभासमानत्वे शब्दविकल्पगोचरातिक्रांतत्वेन वक्तुमशक्तेः प्रतिभासश्चिद्रूप एवान्यथा प्रतिभासाविरोधात् तस्य पुरुषाद्वैतत्वात् इति विश्वं ज्ञानं प्रतर्क्य विचार्य कथा ? स्वतत्त्वाशया-स्वप्रतिभासांतःप्रवेशाशया, सकलं दृष्ट्वा-प्रतिभासमयं सर्वं विलोक्य पुरुषाद्वैतमननं तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलब्धेः नित्यत्वं सर्वगतत्वं निराकारत्वं च व्यवतिष्ठते। न हि कश्चिद्देशः कालः आकारश्च प्रतिभासशून्यः प्रतिभासविशेषाणां नीलसुखादीनां विच्छेदात् तेषामसत्यत्वात् यदि ते न प्रतिभासंते तर्हि संतीति कथं ज्ञायते ततो न तैरनैकांतिकः। यच्च कारकक्रियाभेदकर्मफललोकद्वैतविद्याविद्याबंधमोक्षद्वयं तद्बाधकमभ्यधायि तदपि निरस्तं तेषां प्रतिभासस्वभावत्वादन्यथा व्यवस्थानायोगात्। यदपि पक्षहेतुदृष्टांतानामुपनिषद्वाक्यानां च प्रतिभासनमप्रतिभासनमिति दूषणोद्भावनं तदपि प्रत्याख्यातं। प्रतिभासमात्रात्मत्वात्तेषां पंचविंशतिसांख्योपकल्पितानां प्रकृत्यादीनां तथात्वे हेतुत्वे दोषाभावात् स्याद्वादिनामनेकांतात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादिसाधनवत्, तत्त्वानां यमनियमानशनादीनां संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगफलकैवल्यादीनां च प्रतिभासात्मकत्वेन तदंतःप्रविष्टत्वसिद्धेः नैयायिकोपकल्पितप्रमाणप्रमेयादिषोडशतत्त्ववत् एवं मीमांसोपकल्पितानां भट्टप्रभाकरोपकल्पितानां चात्मजनफलादीनां योगाचारसौत्रांतिकवैभाषिकमाध्यमकांगीकृतानां क्षणक्षयलक्षणानां च चतुरार्यसत्यानां च वैशेषिकांगीकृतद्रव्यगुणकर्मादीनां षण्णां पदार्थानां लौकायितकेष्टपृथ्व्यादीनां चतुर्णां नास्तिकाध्यासितनास्तीतितत्त्वस्य च गगनकुसुमादीनां च प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासांतःप्रविष्टत्वसिद्धेः। अप्रतिभासमानत्वे तद्व्यवस्थाविरोधात् तथापि तदंगीकारेऽनिष्टतत्त्वसिद्धिप्रसंगात् न केषांचित्स्वेष्टतत्त्वसिद्धिरतः प्रतिभासमानत्वमेष्टव्यं तथा चोक्तं-

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। आरामं तस्य पश्यंति न तत्पश्यति कश्चन ॥१॥

इति विश्वमयो भूत्वा कश्चिदद्वैतवादी पशुः—पशुरिव-अज्ञानीव, स्वच्छंदं—निरंकुशत्वेन, आचेष्टते-स्वेच्छयेहते प्रतिभासविशेषाणां पररूपत्वेन सत्यत्वात्। पुनः स्याद्वाददर्शी कश्चित् युक्त्या तस्य वस्तुनः स्वतत्त्वं-स्वस्वरूपतः स्वरूपं स्पृशेत्। इति किं ? यत् ज्ञानादि स्वरूपेण तत् तत्त्वं, तत्—ज्ञानादि पररूपतः-परस्वरूपतः तत्त्वं न भवति अन्यथा सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः—

नोदितो दधि खादति किमुष्ट्रं नाभिधावति।

इत्यतिप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात्। कीदृशं तत्त्वं ? विश्वात्-समस्तपदार्थाद्भिन्नं पृथक्, पुनः अविश्वेत्यादि—अविश्व—अविश्वस्वरूपं तच्च तद्विश्वेन विश्वपदार्थेन घटितं च निष्पादितं विश्वपदार्थपरिच्छेदकत्वात्॥ २६॥ अथानेकत्ववादमारेक्यैकत्वमारेकते-

अर्थ–पशु कहिये अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो, समस्त ज्ञेयपदार्थ हैं सो ज्ञानमय है, ऐसैं विचारि करि, अर सकलजगतकूं निजतत्त्वकी आशाकरि देखि आप समस्तवस्तुमयी होय। अर तिर्यंचकी ज्यों स्वच्छंद चेष्टा करै है ॥ बहुरि स्याद्वादका देखनेवाला है सो तिस ज्ञानका निजस्वरूपकूं ऐसा देखै है, जो अपने ज्ञानस्वरूपतैं तत्स्वरूप है ॥ सो पर जे ज्ञेयस्वरूप तिनितैं तत्स्वरूप नाहीं है ऐसे समस्तवस्तुतैं भिन्न अर समस्तज्ञेयवस्तुनिकरि घड्या तौऊ समस्त ज्ञेयस्वरूप नाही, ज्ञेयाकाररूप भया तौऊ न्यारा ऐसा ज्ञानका स्वरूप अनुभवै है ॥ भावार्थ–जो वस्तु अपना स्वरूपतैं तत्स्वरूप है सोही वस्तु परका स्वरूपतैं अतत्स्वरूप है ऐसैं स्याद्वादी देखै है। सो ज्ञान अपना स्वरूपतैं तत्स्वरूप है। तैसही पर ज्ञेयनिका आकाररूप भया हैं तौऊ तिनितैं भिन्न हैं तातैं अतत्स्वरूप हैं। अर एकांतवादी समस्तवस्तुस्वरूप ज्ञानकूं मानि आपाकूं तिनि ज्ञेयमयी मानि अज्ञानी होय पशुकी ज्यौं स्वच्छंद प्रवर्तें है। ऐसा अतत्स्वरूपका भंग है।

विशेष–इस श्लोकसे ग्रन्थकारने ज्ञानाद्वैतवादियोंके सिद्धांतका स्वरूप बता कर उसपर घृणा प्रकटकी है तथा जैन सिद्धांतमें ज्ञानका जो स्वरूप बतलाया है उसकाभी कुछ वर्णन किया है क्योंकि ज्ञानाद्वैतवादीका मत हैं कि जिस प्रकार ज्ञानका निजस्वरूप ज्ञानमें प्रसिद्ध है उसीप्रकार जो पदार्थ प्रतिभासित होते है देखनेमें आते हैं वे भी ज्ञानमे प्रविष्ट हैं ज्ञानस्वरूप हैं यहांपर ऐसी शंका न करनी चाहिये कि यदि सब ज्ञान स्वरूप है तो घट पट आदि व्यवहार क्यों और कैसे होते हैं? क्योंकि ये सब व्यवहार अवास्तविक मिथ्या हैं सबको ज्ञानस्वरूप माननेमें कोई प्रकारका दोष नहिं आसकता तथा नैयायिक जो प्रमाण प्रमेय आदि सोलह तत्त्व मानते हैं मीमांसक आत्मा जन फल आदि छै, सांख्य प्रकृति पुरुष आदि पच्चीस, लोकायतिक पृथ्वी आदि पांच और नास्तिक नास्तितत्व मानता है वे भी सब ज्ञानस्वरूपही हैं ज्ञानसे भिन्न नहीं। परन्तु यह ज्ञानाद्वैतवादीका सिद्धांत प्रत्यक्षबाधित है घट पट आदि कभी ज्ञानस्वरुप हो नहिं सकते इसलिये जैन सिद्धांतमें जो ज्ञानको ज्ञानस्वरूप और जडपदार्थोंसे भिन्न माना है वही यथार्थ है ॥ ५६ ॥

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लस–
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्नेकं–
ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ॥ ५७ ॥

सं० टी०—पशुः-सौगताख्योऽज्ञानी नश्यति-नाशं याति,-तत्कल्पितो ज्ञानक्षणो युक्त्या न व्यवस्थामेतीत्यर्थः, कीदृक्षः सः ? अभितः-समंतात्, त्रुट्यन्—विनश्यन् पूर्वक्षणस्वलक्षणनिर्मूलं विनश्यदुत्तरमुत्पादयति । पुनः कीदृक्षः ? विश्वगित्यादिः-विश्वक् सामस्त्येन, विचित्रा-नीलपीताद्यनेकप्रकाराः, उल्लसंतः स्वाकारार्पणेनोल्लसंतः-गच्छंतः, ते च ते ज्ञेयानां-ज्ञानविषयभूतानां नीलादिक्षणानां आकारा ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वं तैः विशीर्णा-अनेकधा जाता शक्तिः-सामर्थ्यं यस्य नीलपीतादीनां क्षणिकत्वात् तदुत्पत्तितस्तदाकारमनुकुर्वाणं ज्ञानं तदध्यवसायतः प्रमाणं क्षणिकं कारकगुणानां कार्यसद्भावात् क्षणिकं हि सर्वं यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घटः संति च नीलपीतानि च । घटाद्यवयवी न कपालांशमंतरेणोपलभ्यते । स हि अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं साकल्येन वर्तते एकदेशेन वा । यदि साकल्येन तदा यावंतोऽवयवास्तावंतोऽवयविनः । तत्रापि चावयवकल्पनायामनवस्था । एकदेशेन चेत् भंगित्वप्रसंगात् एकत्वं न स्यात् इत्यादियुक्त्या नीलपीताद्यवयवा एव । बाह्येत्यादिः-क्षणिकलक्षणानां बाह्यार्थानां ग्रहणं तदेव स्वभावः-स्वरूपं यस्य भवतोऽतिशयात् ज्ञानमपि क्षणिकं तदप्ययुक्तं यतः अनेकांतवित्स्याद्वादी, एकं पूर्वापरविवर्तव्यापितया अद्वितीयं ज्ञानं पश्यति, कीदृक्षं तत् ? अबाधितेत्यादिः-अबाधितं प्रमाणैरनुभवनं यस्य तत्, न च कस्यापीदृशी प्रतीतिर्यया क्षणिकं वस्तु लब्धमिति सर्वेषां साधारणस्थूलघटादीनां प्राप्तेः, एकद्रव्यतया अहं मतिज्ञानी स एवाहं श्रुतज्ञानी यदेव मया दृष्टं तदेव मया लब्धमित्येकद्रव्यत्वेन भेदभ्रमं-भिन्नज्ञानभ्रांतिं ध्वंसयन्-विनाशयन् अन्यथा जीवांतरवत् स्वात्मन्यपि भेदप्रसंगात् स्याद्वादी कीदृक्षया तया ? सदा व्युदितया-सदा-नित्य, आबालगोपालचांडालाबालादीनां प्रसिद्ध्या विद्यमानतया ॥ ५७ ॥ अथैकज्ञानमतमपि निराचिकीर्षुरनेकतां ज्ञानस्य चिकीर्षति—

अर्थ—पशु कहिये अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो ज्ञानका स्वभाव बाह्य ज्ञेयपदार्थका ग्रहणरूप है ताके भरतैं समस्त अनेक उदय भये प्रकट ज्ञानमैं आये जे ज्ञेयनिके आकार तिनिकरि खंड खंड बिगडी है शक्ति जाकी ऐसा भया संता समस्तपणैंकरि तूटता खंड खंड होता आप नाशकूं प्राप्त होय है । बहुरि अनेकांतका जाननेवाला है सो सदा उदयरूप जो ज्ञानका एकद्रव्यपणा तिसकरि ज्ञेयनिके आकार होनेतैं भया जो सर्वथा भेदका भ्रम ताही दूरि करता संता निर्बाध अनुभवनस्वरूप ज्ञानकूं एक देखै ॥ भावार्थ—ज्ञान है सो ज्ञेयनिके आकार परिणमनेतैं अनेक दीखे है । ताकूं सर्वथा एकांतवादी अनेक खंडखंडरूप देखता संता ज्ञानमय जो आपा ताका नाश करै है । अर स्याद्वादी ज्ञानकूं ज्ञेयाकार भया है तौऊ सदा उदयरूप द्रव्यपणाकरि एक देखै है । यह एकस्वरूप भंग है ॥

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयं—
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥ ५८ ।

सं० टी०—पशुः—अज्ञानी सांख्यादिः कश्चित्, स्फुटमपि—अनेकाकारतया व्यक्तमपि ज्ञानं नेच्छति, कीदृक्षः सन् ? एकेत्यादिः—ज्ञानस्य एकाकारं—एकत्वं, चिकीर्षया—कर्तुमिच्छया, ज्ञेयेत्यादिः—ज्ञेयस्य—पदार्थस्य, आकारः—ज्ञाने तदाकारः, स एव कलंकः—कालिमा, ज्ञाने तदाकारस्याभावात् एकस्वभावत्वात्तस्य कूटस्थनित्यत्वात् तेन मेचकः—चित्रितः, चित्—ज्ञानं, तत्र प्रक्षालनं अनेकाकारनिवारणं, कल्पयन्—कुर्वन्, तत्राह अनेकांतवित् तत्—ज्ञानं, पश्यति—ईक्षते, कीदृशं तत् ? पर्यायैः—मतिश्रुतादिज्ञानविवर्तैः, अनेकतां—कथंचिदनेकत्वं परिमृशन्—अंगीकुर्वन्, सर्वथैकत्वे नानाज्ञेयग्रहणं न स्यात् एकांतज्ञानस्य नित्यमसंभवात् तदभावः स्यात्। तदुक्तमष्टसहस्र्यां—

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिंद्रियार्थवत्। ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥१॥ इति

ननु ज्ञानं पर्यायैरनेकत्वं दधदशुद्धं स्यात् पर्यायस्याशुद्धत्वस्थापनात् इति चेन्न, स्वतः—स्वभावतः, क्षालितं—निर्मलं, यतः। ननु ज्ञानस्यानेकत्वमेवेष्टं दृष्टेष्टानां तद्विषयाणामिष्टत्वात् जगतो विचित्रत्वात् ? इति चेन्न कुतः ? पर्यायापेक्षया वैचित्र्येऽपि एकज्ञानद्रव्यतया अविचित्रतां—एकस्वरूपतां, उपगतं—प्राप्तं, अतः कथंचिदेकं द्रव्यार्पणात्, कथंचिदनेकं पर्यायार्पणात् ॥५८॥ अथ परद्रव्यास्तित्वन्यस्तं ज्ञानं निराकृत्य स्वास्तित्वास्तिक्यमागम्यते—

अर्थ—पशु अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो ज्ञेयनिके आकारनिकरि कलंककरि अनेकाकाररूप मलिन जो चैतन्य ताविषैं एक चैतन्यका मात्र आकार करनेकी इच्छा करि प्रक्षालन कहिये धोवना कल्पता संता ज्ञान अनेकाकार प्रकट है तौऊ ताकूं नाही मानै है एकाकारही मानि ज्ञानका अभाव करै है। बहुरि अनेकांतका जाननेवाला है सो ज्ञेयाकारकरि ज्ञानका विचित्रपणा है तौऊ एकपणाकूं प्राप्त ज्ञान है सो आप स्वयमेव प्रक्षाल्या हुवा शुद्ध है, एकाकार है अर पर्यायनिकरि ताके अनेकताकूं अनुभवै है॥ भावार्थ—एकांतवादी तौ ज्ञानविषैं ज्ञेयाकारकूं मैल जाणि एकाकार करनेकूं ज्ञेयाकारकूं धोय दूरि करी ज्ञानका नाश करै है। बहुरि अनेकांती ज्ञानकूं स्वरूपकरि अनेकाकारपणा मानै है। सो ऐसा वस्तुस्वभाव है सो सत्यार्थ है ऐसा अनेकस्वरूप भंग है॥

विशेष—इस श्लोकमें ज्ञानको कथंचित् एकाकार और कथंचित् अनेकाकार बतलाया है यहांपर यह शंका करना अनुचित है कि यदि ज्ञान पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकाकार है तो पर्यायोंके अशुद्ध होनेसे ज्ञानभी अशुद्ध होगा ? क्योंकि यह ज्ञान स्वभावसे ही निर्मल है वह अशुद्ध नहिं हो सकता। यदि कहो ज्ञानका विषय समस्त जगत है और वह विचित्र-अनेकाकार है इसलिये ज्ञानके भी सर्वथा अनेकाकार ही मान लेना चाहिये सो ठीक नही क्योंकि उसकी ज्ञानद्रव्य एक ही है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह एक पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनेक है॥ ५८॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।

स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ ५९ ॥

सं० टी०—पशुः-परद्रव्येण सदिति प्रतिपद्यमानः कश्चित् नश्यति स्वपक्षाद्भ्रंशं लक्षयति-परितः-सामस्त्येन स्वेत्यादिः—स्वस्य—आत्मनः, द्रव्यं द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यं, तस्यानवलोकनेन-स्वामित्वानीक्षमाणेन शून्यः, पुनः कीदृक्षः ? प्रत्यक्षेत्यादिः-प्रत्यक्षेण-देशप्रज्ञानेन-आलिखिता आज्ञाता, स्फुटा-व्यक्ता, स्थिरा-अनेककालस्थायित्वात् सा चासौ परद्रव्यास्तिता च, न च घटास्तित्वं पटास्तित्वेऽस्ति सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकरणात्, नहि पटादयः घटादय इव पय आहरणलक्षणामर्थक्रिया कुर्वंति घटादिज्ञाग वा इति परास्तित्वाभावेपि तया वंचितः । स्याद्वादी तु कथं व्यवतिष्ठते-अनेकांतमतमतिः स्वतत्त्वं जीवति स्थिरं स्थापयतीत्यर्थः । कीदृक्षः ? विशुद्धेत्यादि-विशुद्धज्ञानतेजसा पूर्णो भवन्-स्वमनोरथं पूर्णीकुर्वन्, कीदृशेन तेन समुन्मज्जता-समुच्छलता, जगति प्रकाशं गच्छता, किंकृत्वा ? सद्यः-तत्कालं, स्वेत्यादिः—स्वस्य-आत्मनः द्रव्यास्तित्व तया निपुणं यथोक्तं अस्तित्वं निरूप्य अवलोक्य ॥ ५९ ॥ अथ परद्रव्यस्वरूपं ब्रह्मेतिवादिनं प्रति परद्रव्येणासदिति संन्यस्यते—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो प्रत्यक्षप्रमाणकरि आलिखित कहिये चितारया हुवा दीखता स्फुट प्रकट स्थूल अर स्थिर कहिये निश्चल ऐसा परद्रव्यकूं देखि तिसका अस्तित्वकरि ठिग्या हुवा अपना निज आत्मद्रव्यका अस्तित्व नाही देखनेकरि समस्तपणैं सर्वथाशून्य होता आपका नाश करै है । बहुरि स्याद्वादी हैं सो अपना निजद्रव्यका अस्तिपणाकरि निपुण जैसे होय तैसैं निज आत्मद्रव्यका निरूपणकरि तत्काल प्रकट होता जो विशुद्धज्ञानरूप तेज ताकरि पूर्ण होता जीवै नष्ट न होय हैं ॥ भावार्थ—एकांती बाह्य परद्रव्यकूं प्रत्यक्ष देखि ताहीका अस्तित्व मान्या । अर अपना आत्मद्रव्य इन्द्रियप्रत्यक्षकरि दीख्या नाही । जाकूं शून्य मानि आत्माका नाश करै है ॥ बहुरि स्याद्वादी ज्ञानरूप तेजकरि अपना आत्मद्रव्यका अस्तित्वके अवलोकनकरि आप जीवै है, आपका नाश नाहीं करै है । यह स्वद्रव्यअपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ ६० ॥

सं० टी०—पशुः-अद्वैतैकांतावलंबी, स्वेत्यादिः-स्वस्य द्रव्यं तस्य भ्रमतः-भ्रांतेः, परद्रव्येषु समस्तचेतनाचेतनेष्वपरद्रव्येषु, किल-निश्चितं, विश्राम्यति-विश्रामं याति, परद्रव्यं सर्वं स्वद्रव्यमिति कृत्वा तिष्ठति, किंकृत्वा ? पुरुषं-ब्रह्म, सर्वद्रव्यमयं—समस्त-चेतनेतरवस्तुमयं प्रपद्य-अंगीकृत्य, तदभ्युपगमे वेदवाक्यं

"पुरुष एवेद यद्भूतं यच्च भाव्यं स एव हि सकललोकप्रलयस्थितिहेतुरिति" सर्वेषा प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासात्.–प्रविष्टत्वं तस्यैकत्वे घटपटलकुटमुकुटशकटादीना भेदस्तु दुर्वासनावासित - दुर्वासनया अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासित:—कल्पित' इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासित' दुर्वासनया–अनादिकालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासित:–वासनाविपयीकृत: । स्याद्वादी तु समस्तवस्तुसर्वपदार्थेषु स्वद्रव्यमेव स्वद्रव्येणास्तित्वमेव आश्रयेत्—भजेत् । किंकुर्वन् ? तेषु परद्रव्यात्मना—परस्वरूपेण नास्तित्वं जानन् प्रमाणबलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्, कीदृक्ष स: ? निर्मलेत्यादि:–निर्मल.–द्रव्यमलकलंकरहित:, शुद्ध:—भावकर्मविकल , स चासौ बोधश्च तेन महिमा–माहात्म्य यस्य स. ॥ ६० ॥ अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं तुदति—

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पुरुष जो आत्मा ताकूं सर्वद्रव्यमयी एक कल्पिकरि अर कुनयकी वासनाकरि वासित हुआ प्रकट परद्रव्यविषैं स्वद्रव्यका भ्रमकरि विश्राम करै है। वहुरि स्याद्वादी है सो समस्तही वस्तुविषैं परद्रव्यस्वरूप करि नास्तिताकूं जानता संता-निर्मल है शुद्धज्ञानकी महिमा जाकी ऐसा हुवा स्वद्रव्यहीकूं आश्रय करै है।। भावार्थ–एकांतवादी तौ सर्वद्रव्यमय एक आत्माकूं मानि परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता है ताका लोप करै है। अर स्याद्वादी समस्तविषैं परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता मानि अपना निजद्रव्यमें रमै है। यह परद्रव्य अपेक्षा नास्तिताका भंग है ॥

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥ ६१ ॥

सं० टी०—कश्चिन्नैयायिकादि. पशु.–अज्ञानी, सीदत्येव–स्वस्थित्यभावाद्विषाद यात्येव । किंकुर्वन् ? अभित:–समतात् बहिः पतंतस्वक्षेत्रात्परक्षेत्रे पतत, पुमास–आत्मन, पश्यन्–अवलोकयन्, सदा–नित्यं आत्मनः व्यापकत्वागीकारात्, कीदृश. स: ? भिन्नेत्यादि.–भिन्नं च तत् क्षेत्र तत्र निषण्णा–वर्तमाना तच्च तद्बोध्यं–ज्ञातुं योग्य द्रव्य च तत्र नियत:–निश्चित:. व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया–आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात् इतिसान्निकर्षादिव्यापार. बोध्यक्षेत्रगमनलक्षण: तत्र निष्ठ:, तत्पक्षावलबी स्वव्यवस्थानाभावात्सीदत्येव । स्याद्वादवेदी पुन: कथ तिष्ठति ? स्वेत्यादि: स्वस्य क्षेत्रे अस्तिता–अस्तित्व तया निरुद्धरभसः सन्निकर्षादीना निरुद्धो रभस:–वेग:, येन स:, प्रमाणपरीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसगेन दूषितत्वात् । नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयोः सद्भावे समवेतयोर्घटरसयो: स कथ न स्यात् इति निरस्तत्वात् । तर्हि क्वचिदपि बोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न स्यात् इति वदंत प्रति स्याद्वादवादी कीदृक्षो भवस्तिष्ठति ? आत्मेत्यादि:–आत्मनि स्वस्मिन् निखातं व्यवस्थित तच्च यद्बोध्य च स्वरूपलक्षण बोध्यमित्यर्थ: तत्र नियता–निश्चिता व्यापारशक्ति:, येन स ईदृक्षो भवन् सन ॥ ६१ ॥ अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभाव वदत प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं क्वणति—

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो भिन्नक्षेत्रविषें तिष्ठया जे ज्ञेयपदार्थ तिनिविषैं ज्ञेयज्ञायकसंबंधरूप निश्चितव्यापारविषें तिष्ठया संता पुरुषकूं समस्तपणे बाह्यज्ञेयनिविषैंही पडता संता ताकूं देखता संता कष्टहीकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादका जाननेवाला है सो अपनें क्षेत्रविषें अपना अस्तित्वपणाकरि रोक्या है अपना रभस ज्यानें ऐसा भया संता आत्माहीविषें आकाररूप भये जे ज्ञेय तिनिका निश्चितव्यापारकी शक्तिरूप होता संता अपने क्षेत्रहीविषें अस्तित्वरूप तिष्ठै है ॥ भावार्थ–एकांतवादी तो भिन्नक्षेत्रविषें ज्ञेय पदार्थ तिष्ठै हैं तिनिके जाननेके व्यापाररूप होता पुरुषको बाह्य पडताही मानि नष्ट करै है। बहुरि स्याद्वादी अपना क्षेत्रविषैंही तिष्ट्या पुरुष अन्यक्षेत्रविषैं तिष्ठते ज्ञेयनिकूं जानता संता अपने क्षेत्रही विषैं अस्तित्वकूं धारै है, ऐसा मानता संता आत्माहीविषें तिष्ठै है। यह स्वक्षेत्रविषैं अस्तित्वका भंग है ॥ ६१ ॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ ६२ ॥

सं० टी०—पशुः कश्चिदज्ञानी प्रणश्यति–स्वक्षयं नयति, किंकृत्वा ? पृथगित्यादिः पृथग्,–भिन्नं, विधिः प्रयोजनं येषा ते ते च ते परक्षेत्रे–स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे, स्थितार्थाश्च तेषा उज्झन–परिहरणं तस्मात् तुच्छभूय निस्स्वभावं भूत्वा, किमर्थं ? स्वक्षेत्रे स्थितये–स्वक्षेत्रे भवनाय। स्याद्वादी तु पुनः परान् परिच्छेद्यपदार्थान्, आकारकर्षी आकारग्राही सन्. न तुच्छतां–न तुच्छभावतां, अनुभवति। ननु पराकारकर्षी स्याद्वादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशंकायामाह–त्यक्तार्थोऽपि त्यक्तपरद्रव्योऽपि परिच्छिनत्ति। त्यक्तार्थत्वं कथं ? परक्षेत्रे स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे नास्तितां वदन्–प्रतिपादयन्। ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्त्विति चेन्न यतः स्वधामनि स्वक्षेत्रे वसन्–अस्तित्वं भजन्, पुनः किं कुर्वन् ? चिदाकारान्–चित्पर्यायान, वमन् उद्गिरन. कैः सह ? अर्थैः–पदार्थैः ॥ ६२ ॥ अथ स्वकालास्तित्वं प्रीणाति—

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो अपना क्षेत्रविषें तिष्ठनेके अर्थी न्यारे न्यारे परक्षेत्रविषैं तिष्ठे ज्ञेय पदार्थ तिनके छोडनेतैं तुच्छ होयकरि अपनें चैतन्यके ज्ञेयरूप आकारनिकूं परज्ञेय अर्थकी साथि रमता संता जैसें अर्थनिकूं छोडै तैसें चैतन्यके आकारनिकूं भी छोडै। तब आपा तुच्छ रह्या। ऐसा आपका नाश करै है। बहुरि स्याद्वादी अपने क्षेत्रविषें बसता संता परक्षेत्र विषैं अपनी नास्तिताकूं जानता संता यद्यपि परक्षेत्र ज्ञेय पदार्थनिकूं छोडै है तोऊ अपने चैतन्यके ज्ञेयरूप आकार भये तिनिकूं परतैं खेचनेवाला होता तुच्छताकूं नाही

अनुभवै है नष्ट नाही होय है ।। भावार्थ—एकांती तौ परक्षेत्रविषैं तिष्ठते ज्ञेयपदार्थनिके आकार चैतन्यके आकार भये तिनिकूं जैसे अर्थनिकैं छोड़े है तैसे चैतन्यके आकारनिकूं भी छोडै है ऐसैं जानै है । चैतन्यके आकारनिकूं अपना करूंगा तो अपना क्षेत्र छुटि जायगा । तातैं आप चैतन्यके आकाररहित तुच्छ होय है, नष्ट होय है । बहुरि स्याद्वादी ज्ञेयपदार्थनिकूं छोडे है, तौऊ चैतन्यके आकारनिकूं छोड़ै नाही है । अपने क्षेत्रविषैं बसता परक्षेत्र विषैं अपनी नास्ति ताकूं जानता तुच्छ नाही होय है, नष्ट नाही होय है ।। यह परक्षेत्रनास्तिताका भंग है ।।

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।। ६३ ।।

सं० टी०—पशु.–कश्चिदज्ञानी, सीदत्येव–विनश्यत्येव, किं कुर्वन् ? पूर्वेत्यादिः—पूर्वा–स्वोत्पत्तिक्षणे, आलंबितं–ज्ञेयस्वरूपेण अवलंबितं तच्च तद्बोध्यं च ज्ञेयं तस्य नाशः क्षय. तस्य समये–क्षणे, ज्ञानस्य बोधस्य, नाशं–विनाशं विदन्—जानन् अत्यंततुच्छः अत्यंत–निश्शेषं तुच्छः–निस्स्वभावः सर्वेषां तुच्छस्वभावत्वात् निरन्वयविनाशात् । सोऽपि वादी तुच्छस्वभावः तन्मध्ये पतितत्वात् किंचनापि–किमपि, चेतनाचेतनं स्थिरं न कलयन् । पुनः स्याद्वादवेदी पूर्णः–पूर्वापरकालस्थायित्वेन पूर्णमनोरथस्तिष्ठति आस्ते । किंकुर्वन् ? अस्य–ज्ञानस्य, निजकालतः–स्वकालतः, अस्तित्वं कलयन् किंकृत्वा ? मुहुः–पुनः, बाह्यवस्तुषु बहिःपदार्थेषु, भूत्वा–तद्ग्राहकस्वरूपेणोत्पद्य, कीदृशेषु तेषु ? विनश्यत्स्वपि–पर्यायापेक्षया प्रतिक्षणं विनाशं गच्छत्सु अपि शब्दात् द्रव्यांशादविनश्यत्सु । बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि, ज्ञानं न विनश्यति स्वकाले सत्वात् ।। ६३ ।। अथ परकाले नास्तित्वमाविर्भूते—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पूर्वकालमें आलंबे जे ज्ञेयपदार्थ तिनिका नाश होनेके समयविषैं ज्ञानका भी नाशकूं जानता संता किछू भी नाही जानता संता तुच्छ भया नाशकूं प्राप्त होय है । बहुरि स्याद्वादका वेदी है सो इस आत्माका अपने कालतैं अस्तित्वकूं जानता संता बाह्यवस्तु बारम्बार होयकरि नष्ट होते संते भी आप पूर्णही तिष्ठै है ।। भावार्थ—पहिले ज्ञेय पदार्थ जाने थे उत्तरकालमें विनसि गये तिनिकूं देखि एकांती अपना ज्ञानकाभी नाश मानि अज्ञानी हुवा आत्माका नाश करै है । बहुरि स्याद्वादी ज्ञेयपदार्थनिकूं नष्ट होतैंभी अपना अस्तित्व अपनाही कालतैं मानता नष्ट न होय है ।। यह स्वकालअपेक्षा अस्तित्वका भंग है ।।६३।।

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि—
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।

नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ॥ ६४ ॥

सं० टी०—पशुः-कश्चिदज्ञानी, परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी नश्यति-स्वपक्षक्षयेण स्वयं क्षयं याति। कीदृक्षः सन् ? मनसा-चित्तेन कृत्वा भ्राम्यन्-अन्यथार्थस्यान्यथार्थकल्पनया भ्रमं गच्छन्, कीदृशेन तेन ? वहिरित्यादिः-वहिर्ज्ञेयं-वाह्याचेतनादिद्रव्यं तदेवालंबनं-अवलंबनं तत्र लालसं यत्तेन, पुनः कीदृक्षः सः ? अर्थेत्यादिः-अर्थस्य-ज्ञेयस्य आलवनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलंबनं तस्य काले-समये एव ज्ञानस्य सत्त्वं अस्तित्व, कलयन्-अगीकुर्वन् तदुक्तं तन्मते—

अर्थस्यासंभवे भावात्प्रत्यक्षे च प्रमाणता। प्रतिवद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयं ॥ इति ॥

अर्थालंबनलक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसंगात्। स्याद्वादवेदी पुनः अस्य-ज्ञानस्य परकालतः परकालेन, नास्तित्वं-असत्त्वं कलयन्-अगीकुर्वन्, तिष्ठति-आस्ते, ननु यथा परकालेन नास्तित्वं स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेन्न यतः आत्मेत्यादिः-आत्मनि-चिद्रूपे, निखातं-आरोपितं तच्च तन्नित्यं-द्रव्यरूपतया शाश्वतं, सहजज्ञानं च चिद्रूपस्य शाश्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्य एकपुंजीभवन्-अद्वितीयसमूहः सन् ॥ ६४ ॥ अथ स्वभावास्तित्वमनुभूयते—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो ज्ञेयपदार्थके आलंवनकालही ज्ञानका अस्तित्व जानता संता वाह्यज्ञेयका आलंवनविषैं चित्तकूं अनुरागसहित करि अर वाह्य भ्रमता संता नाशकूं प्राप्त होय है। वहुरि स्याद्वादका वेदी है सो परकालतैं अपना आत्माका नास्तित्वकूं जानता संता आत्माविषै उकिरया जो नित्य स्वाभाविक ज्ञानपुञ्ज तिस स्वरूप होता संता तिष्ठै है नष्ट न होय है ॥ भावार्थ—एकांती तौ ज्ञेयके आलंवनके कालही ज्ञानका सत्व जानै है सो ज्ञेयके आलंवनविषैं मन लगाय वाह्य भ्रमता संता नष्ट होय है। वहुरि स्याद्वादी ज्ञेयके कालतैं अपना अस्तित्व नाही जानै है, अपनेही कालतैं अपना अस्तित्व जानै है। तातैं ज्ञेयतैं न्यारा ही अपना ज्ञानका पुञ्जरूप होता नष्ट न होय है यह परकाल अपेक्षा नास्तित्वका भंग है ॥६४॥

विश्रांतः परभावभावकलनान्नित्यं वहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ ६५ ॥

सं० टी०-पशुः-परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिदज्ञाता, नश्यत्येव कीदृशः ? नित्यं-निरंतरं वहिर्वस्तुषु-नीलादिज्ञेयलक्षणेषु, विश्रातः-स्थितः, कुतः ? परेत्यादिः-परे च ते भावाश्च नीलपीतादयस्तेषां भावः स्वभाव., तस्य कलना-ग्रहणं, आत्मसात्करणं तस्मात्। स्याद्वादवेदी तु न नाशमेति-विनाशं न प्राप्नोति

कीदृशः ? सहजेत्यादिः सहजः–स्वाभाविकः स्पष्टीकृतः प्रत्ययः–ज्ञान, येन सः, स्वस्वभावनियतत्वात् सर्वस्माद् ज्ञेयाद्विभक्तः–भिन्नः, भवन्–सन् परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात् । कुतः ? नियतेत्यादिः नियतः निश्चितः, स्वभावः—चैतन्यादिस्वरूपं, तेन भवनं यस्य तत्र तज्ज्ञान च तस्माद्, कीदृक्ष सः ? स्वेत्यादिः स्वस्य भावः पर्यायः, ज्ञानादिलक्षणं, तस्य महिमा—माहात्म्यं यत्र तस्मिन्नात्मनि, एकातेत्यादिः एकांतत् सर्वथास्तित्वनास्तित्वादेः निर्गतं चेतनज्ञान, यस्य सः, आत्मनि एकातज्ञानाभावात् अनेकांतज्ञान ॥ ६५ ॥ अथापरपर्यायपरं ब्रह्म निषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति–

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो परभावकूं ही अपना भाव जाननेतें बाह्यवस्तुनिविषैं विश्राम करता संता अपना स्वभावकी महिमाविषैं एकांतकरि निश्चेतन भया जड होता संता आप नाशकूं प्राप्त होय है। बहुरि स्याद्वादी है सो सर्वहीं वस्तुविषै अपना निश्चित नियमरूप जो स्वभावभावका भवनस्वरूप ज्ञान तातैं सर्वतैं न्यारा होता संता सहजस्वभावका– स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभवरूप कीया है प्रत्यय कहिये प्रतीतिरूप जानपना जानैं ऐसा भया नाशकूं नाही प्राप्त होय है भावार्थ–एकांती तो परभावकूं निजभाव जानि बाह्यवस्तूविषैं विश्राम करता संता आत्माका नाश करैं हैं। बहुरि स्याद्वादी अपना ज्ञानभाव यद्यपि ज्ञेयाकार होय है, तथापि ज्ञानहीकूं अपना भाव जानता संता आपका नाश नाही करैं हैं ॥ यह अपना भावकी अपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥६५॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं
भरादारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥ ६६ ॥

सं० टी०—सर्वभावमयं पुरुष कल्पयन् पशुः–कश्चिदज्ञानी, स्वैरं–स्वेच्छया, यमनियमासनाद्यभावात्, क्रीडति–विहरति इतस्ततः। कीदृक्षः ? गतभयः–गतः—नष्टः, भयः–इहपरलोकादिलक्षणो यस्य सः, सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभाव, पुनः सर्वत्रापि–निषिद्धानुष्ठानेऽपि अनिवारितः अलावूनि मज्जंति । ग्रावाण. प्लवंते, अंधो मणिमविंदत् तमनंगुलिरावतत् उत्ताना वै देवगावो वहतीत्यादीना वेदवाक्याना पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादिप्ररूपकाना च सद्भावान्न तेषा कश्चिन्निवारकः। पुन शुद्धेत्यादि.—शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभपर्यायमयत्वात्, किंकृत्वा ? आत्मनि–चिद्रूपे, सर्वेत्यादि–सर्वभावानां–समस्तस्वभावानां, भवनं–अस्तित्वं, अध्यास्य–अध्यारोप्य। स्याद्वादी तु विशुद्ध एव—निर्मलस्वज्ञाननियत एव लसति विलासं करोति दृष्टेष्टविरोधाभावात्। कीदृक्ष ? भरात्—अतिशयेन, स्वस्य–आत्मनः, स्वभाव–स्वरूपं, आरूढः–विश्रांतः, स्वभावेन सत्वात् तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु तन्निवारणार्थमाह–परेत्यादि–परे च ते भावाश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषा भावाः पर्यायाः रागद्वेषनीलपीतादयः तेषा विरहेण–अभावेन, व्यालोकः–स्वतत्त्वावलोकन तेन निष्कंपितः–निश्चल., प्रमाणप्रसिद्धत्वात् ॥ ६६ ॥ अथ सर्वस्य क्षणभंगाभोगभंगिसंगतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो अपने आत्माविषैं सर्वज्ञेयपदार्थनिका होना निश्चय करि अर शुद्धज्ञानस्वभावतैं च्युत भया संता सर्वपदार्थनिविषैं निःशंक वर्जनारहित स्वेच्छाचारी भया क्रीडा करै है। अपना भावका लोप करै है। बहुरि स्याद्वादी है सो अपनाही भावविषैं सर्वथा आरूढ भया परभावके अपने भावविषैं अभावका प्रकटपणा है ताकरि निश्चय भया शुद्धही शोभायमान है॥ भावार्थ—एकांती तौ परभावनिकूं आपा जानि अपने शुद्धस्वभावसूं च्युत भया सर्वत्र निःशंक स्वेच्छातैं प्रवर्ते है। बहुरि स्याद्वादी परभावनिकूं जानै है तौऊ तिनितैं न्यारा अपना आत्माकूं शुद्धज्ञानस्वभाव अनुभवता संता शोभै है। यह परभाव अपेक्षा नास्तित्वका भंग है॥

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ।६७।

सं० टी०—प्रायः—बाहुल्येन, पशुः—सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी नश्यति—सीदति, कीदृक्षः? क्षणेत्यादिः—क्षणे पदार्थानां भंगः—विनाशः, तस्य संगः—संगतिः, तत्र पतितः—तदंगीकारपरवशीभूतः, कुतः? निर्ज्ञानात्—स्वपक्षसिद्धदृष्टेष्टप्रमाणनिर्णयात् कल्पनापोढमभ्रांतं प्रत्यक्षं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिलक्षणसद्भावात्, ज्ञानांशेत्यादिः—ज्ञानानामंशाः—पर्यायाः, सुखदुःखाहंकारादयः, तेषां नानात्मना—परस्परं सर्वथा भिन्नस्वभावेन, प्रादुरित्यादिः—पीतादिज्ञानक्षणानां प्रादुर्भाव उत्पत्ति, नीलादिज्ञानक्षणानां विरामः—विनाशः, तेन मुद्रितं—लांछितं वस्तु वहतीति। ननु स्याद्वादिनां प्रतिक्षणं क्षणिकानां पर्यायाणां सद्भावात्सुगतगतिगमनमारमणमेव विभावपर्यायाणां तु नरकादीनां तु स्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तेषामसत्त्वात्? इति चेन्न यतः स्याद्वादी तु जीवति—समस्तमतमडनखंडनेन विलासित्वात् उज्जीवति। कीदृशः? चिदात्मना चेतनास्वरूपेण सर्वत्रावग्रहेहादौ चैतन्यस्वभावेन नित्योदितं—नित्यस्वरूपेणोदितं चिद्वस्तु—चैतन्यद्रव्यं, परिमृशन्—कलयन् प्रमाणबलादनुभवन्नित्यर्थः। पुनः टंकोदित्यादिः—टंकेन उत्कीर्णघनस्वभावः—निरंतरप्रकाशमानस्वरूपं स एव महिमा—माहात्म्यं यस्य तत् टंकोत्कीर्णं च घनस्वभावमहिमा च तत् तज्ज्ञानं च भवन्—जायमानः सन्॥ ६७॥ अथ सर्वथा सत्यनित्यचित्तशातनमनित्यत्वमात्मनो ज्ञानस्य विज्ञापयति—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो उत्पादव्ययकरि लक्षित प्राप्त होता जो ज्ञान ताकै अंशनिकरि नानास्वरूपका निर्णयका ज्ञानतैं क्षणभंगका संगमैं पड्या बाहुल्यपणे आपाका नाश करै है। बहुरि स्याद्वादी है सो चैतन्यस्वरूपकरि चैतन्यवस्तूकूं नित्य उदयरूप अनुभवता संता टंकोत्कीर्ण घनस्वभाव है महिमा जाकी ऐसा ज्ञानरूप होता संता जीवै है। आपका नाश नाही करै है॥ भावार्थ—एकांती तौ ज्ञेयके आकारवत् ज्ञानकूं उपजता विनसता देखी अर

क्षण भंगकी संगतीवत् आपका नाश करै है। बहुरि स्याद्वादी है सो ज्ञान ज्ञेयकी साथि उपजै विनशै है तौऊ चैतन्यभावका नित्य उदय अनुभवता संता ज्ञानी होता जीवै है आपका नाश नही करै है यह नित्यपणाका भंग है ॥ ६७ ॥

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात ॥६८॥

सं० टी०—पशुः-कश्चिन्नित्यैकांतवादी शठ, किंचनापि-किमपि ज्ञान भिन्नं-पृथक्, वाञ्छति-ईहते, कुतः ? उच्छलदित्यादिः उत्-ऊर्ध्वमुच्छलती, अच्छा-निर्मला, सा चासौ इचचित्परिणति,चित्पर्यायः तस्याः, पर्यायपर्यायिणोः परस्परं भेदात् ज्ञानस्य नित्यत्व, कया ? टंकोदित्यादि'-टंकेनोत्कीर्णो पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात् स चासौ बोधश्च तस्य विसरः-निवहः, स एवाकारः तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं तस्य वाञ्छा-नित्यत्वात्मज्ञानाकाङ्क्षा तया। स्याद्वादी स्यात्-कथंचिच्छब्देनोपलक्षितो वादः-जल्पनं, विद्यते यस्य सः, वस्तुनस्तथात्वात् तथा काङ्क्षायाः समुत्पत्तेः, तथा विवक्षायाः सद्भावात् अनेकांतात्मकं सर्वं एकांतस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकांतवादी ज्ञान नित्य-पूर्वापरावग्रहेहादिषु व्याप्तज्ञानत्वसामान्येन स्यान्नित्यं, आसादयति-प्राप्नोति, कीदृशं ? उज्ज्वलं-अवदातं, अनित्यतापरिगमेऽपि वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने अपिशब्दान्न केवल नित्यमेव अनित्यतापरिज्ञाने सत्यपि, नन्वनित्यतापरिज्ञानमात्रवस्तुशुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्न पुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति तदपि स्वमनोरथमात्र यतः अनित्यतां वस्तुगतानित्यत्वं परिमृशन् अर्थक्रिययोपलभमानः कुतः ? चिदित्यादिः चिद्वस्तुनः-चेतनारूपवस्तुपर्यायस्य वृत्तिः-वर्तना तस्याः क्रमात्—अनुक्रमात्, ॥ ६८ ॥ अथानेकांतमतव्यवस्था सुघटेति संजायतीति इति पद्यद्वयेन—

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो टंकोत्कीर्ण निर्मलज्ञानका फैलावरूप एक आकार जो आत्मतत्त्व, ताकी आशाकरि अर आपविषैं उछलती जो निर्मल चैतन्यकी परिणति, तासैं न्यारा किछू आत्माकूं चाहै है। सो किछू है नाही ॥ बहुरि स्याद्वादी है सो नित्यज्ञान हुए भी अनित्यताकूं प्राप्त होतैंभी उज्वल देदीप्यमान चैतन्यवस्तुकी प्रवृत्तिके क्रमतैं ज्ञानके अनित्यताकूं अनुभवता संता ज्ञानकूं अंगीकार करै है ॥ भावार्थ—एकांती तौ ज्ञानकूं एकाकार नित्य ग्रहण करनेकी वांछा करि अर ज्ञानचैतन्यकी परिणति उपजै विनशै है तातैं भिन्न किछू मानै है, सो परिणाम सिवाय परिणामी किछू न्यारा ही है नाही ॥ बहुरि स्याद्वादी है सो यद्यपि ज्ञान नित्य है, तौऊ चैतन्यकी परिणति क्रमतैं उपजै विनशै है, ताके क्रमतैं ज्ञानकी अनित्यता मानै है, वस्तुस्वभाव ऐसाही है,यह अनित्यपणाका भंग है ॥६९॥ अब कहै हैं, जो, ऐसा अनेकांत है, सो जे अज्ञानकरि मोही मूढ है, तिनिकूं आत्मतत्त्वकूं ज्ञानमात्र साधता संता

स्वयमेव अनुभवनमें आवै है ॥

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥ ६९ ॥

सं० टी०—इति अमुना प्रकारेण, स्वयमेव—स्वय प्रकाशमानत्वादिस्वरूपेण, आलोकाद्युपायेन च आत्मतत्वं—आत्मस्वरूपं अनेकांतः—स्याद्भिन्नाभिन्नत्वसत्त्वासत्त्वैकानेकत्वनित्यत्त्वादयः अनुभूयते—स्वानुभवप्रत्यक्षीक्रियते, किंकुर्वन् ? अज्ञानेत्यादिः—अज्ञानेन—अनादिकालविजृंभितमोहाज्ञानेन विमूढानां—मोहितानां, ज्ञानमात्रं—ज्ञानसाकाल्य, प्रसाधयन्—स्वरूपप्रकाशनादिभिर्दर्शयन् ॥ ६९ ॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्तप्रकार अनेकांत है सो जे अज्ञानकरि प्राणी मूढ भये हैं तिनिकूं समझावनेकूं आत्मतत्त्वकूं ज्ञानमात्र साधता संता आपै आप अनुभवगोचर होय है ॥ भावार्थ—अनादिकालके प्राणी स्वयमेव तथा एकांतवादका उपदेशकरि आत्मतत्त्वकूं ज्ञानका अनुभवनतैं अनेक प्रकार पक्षपातकरि आत्माका नाश करै हैं। तिनिकूं समझावनेकूं आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्रही कहिकरि, अर तिसकूं अनेकांतस्वरूप प्रकटकरि स्याद्वादतैं दिखाया है, सो यह असत्कल्पना नाही है। ज्ञानमात्र वस्तु अनेकधर्मसहित आपै आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभासमैं आवै है। सो प्रवीण पुरुष अपना आपाकी तरफ देखि अनुभवकरि देखो। ज्ञान तत्स्वरूप अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावतैं सत्स्वरूप नित्यस्वरूप परके क्षेत्र काल भावतैं असत्स्वरूप अनित्यस्वरूप, इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवगोचरकरि अनेकधर्मस्वरूप प्रतीतीमैं ल्यावो। यह ही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकांत मानै मिथ्याज्ञान है, ऐसा जानना ॥६९॥ अब अनेकांतकी महिमा करै हैं—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ ७० ॥

सं. टी.—अनेकांतः—कथंचिद्धर्मः, व्यवस्थितः, प्रमाणनयोपन्यासैः सुप्रतिष्ठः, कया ? एवमित्यादिः एवमुक्तप्रकारेण पूर्वं स्याद्वादसमर्थनेन, तत्त्वस्य—वस्तुयाथात्म्यस्य आत्मतत्त्वस्य वा व्यवस्थितिः—व्यवस्थानं, तया। किंकुर्वन्, स्वयं—आत्मना कृत्वा, स्वं आत्मनं, व्यवस्थापयन् सुस्थिरीकुर्वन् पुनः जैनं सर्वज्ञभट्टारकप्रणीतं, शासनं—मतं, व्यवस्थापयन् अथवा यतोऽनेकांतात् इत्याध्याहार्यो जैनं शासनं अलंघ्य—एकांतमतमतिविजृंभितमिथ्यादृष्टिकोटिभिन लंघितुं शक्यं ॥ ७० ॥ अथानंतशक्तियुक्तितां संवक्ति—

अर्थ—या प्रकार तत्त्व कहिये वस्तुका यथार्थ स्वरूपकी व्यवस्थितिकरि अपने स्वरूपकूं आपही स्थापना करता संता अनेकांत है सो व्यवस्थित भया निश्चित ठहरया। सो कैसा है यह ? लंघ्या न जाय जीत्या न जाय ऐसा जिनदेवका शासन है मत है, आज्ञा है। भावार्थ—यह अनेकांत है सोही निर्बाध जिनमत है। सो जैसैं वस्तूका स्वरूप है तैसै स्थापता आपै आप

सिद्ध भया है। असत्कल्पनाकरि वचनमात्र प्रलाप काहूने न कह्या है। निपुण पुरुषनिके विचारि प्रत्यक्ष अनुमानप्रमाणकरि अनुभवकरि देखो। इहां कोई तर्क करै है, जो आत्मा अनेकांतमयी है, अनंतधर्मा है, तौऊ ताका ज्ञानमात्रपणाकरि नाम कौन अर्थी कीया? ज्ञानमात्र कहनेमें तौ अन्यधर्मनिका निषेध जान्या जाय है, ताका समाधान—जो, इहां लक्षणकी प्रसिद्धिकरि लक्ष्यकै प्रसिद्धिके अर्थी आत्माका ज्ञानमात्रपणाकरि नाम कीया है, जो आत्मा ज्ञानमात्र है सोही कहै हैं, आत्माका ज्ञान लक्षण है॥ जातैं तिस आत्माका सो ज्ञान असाधारण गुण है, यहु ज्ञान काहू अन्यद्रव्यमैं पाइए नाही, तिस कारणकरि इस ज्ञानलक्षणकी प्रसिद्धि करि, अर ताकरि लक्ष्य कहिये लखने योग्य जो आत्मा ताकी प्रसिद्धि होय है। लक्षण होय जाकू बाहुल्यपणैंकरि सर्व जाणैं सो होय। अर लक्ष्य होय सो जाकूं प्रसिद्ध न जानिये सो होय। यातैं लक्षण कहनेतैं लक्ष्य प्रसिद्ध होय है। इहां फेरि तर्क करै है, जो, इस लक्षणकी प्रसिद्धि करि कहा साध्य है? लक्ष्यही साधने योग्य है, आत्माहीकूं साधना था। ताका समाधान—जो अप्रसिद्ध है लक्षण जाकै ऐसा अज्ञानी पुरुषकै लक्ष्यकी प्रसिद्धि नाही होय। अज्ञानीकूं पहलैं लक्षण दिखाइये तब लक्ष्यकूं ग्रहण करै। जातैं जाकै लक्षण प्रसिद्ध होय ताहीकै तिस लक्षणस्वरूप लक्ष्यकी प्रसिद्धि होय है।

फेरि पूछै हैं, जो वह लक्ष्य न्यारा ही कहा है, जो ज्ञानकी प्रसिद्धिकरि तिसतैं न्याराही सिद्ध होय है। ताका उत्तर—जो ज्ञानतैं न्यारा ही तौ लक्ष्य आत्मा नाहीं है जातैं द्रव्यपणाकरि ज्ञानकै अर आत्माकै भेद नाही है—अभेदही है॥ इहां फेरि पूछै है, जो ज्ञान आत्मा अभेदरूप है तौ लक्ष्यलक्षणका भेद काहेकरि कीया हुवा होय है? ताका उत्तर-जो प्रसिद्धिकरि प्रसाध्यमान-पणा है ताकरि कीया भेद है। ज्ञान प्रसिद्ध है। जातैं ज्ञानमात्रकै स्वसंवेदनकरि सिद्धपणा है। सर्व प्राणीनिकै स्वसंवेदनरूप अनुभवमैं आवै है। तिस प्रसिद्धिकरि साध्या हुवा तिस ज्ञानतैं अविनाभावी जे अनंत धर्म तिनिका समुदायरूप अभिन्नप्रदेशरूप मूर्ति आत्मा है। तातैं ज्ञान-मात्रविषैं अचलित निश्चल लगाई उकीरी जो दृष्टि ताकरि क्रमरूप अर अक्रमरूप युगपद्रूप प्रवतता जो तिस ज्ञानतैं अविनाभूत अनंत धर्मका समूह जेता जो कछू लखिये है, तेता सो कछू समस्तही एक निश्चयकरि आत्मा है। इसही प्रयोजनकै अर्थी इस अध्यात्मप्रकरणविषै इस आत्माका ज्ञानमात्रपणाकरि व्यपदेश कीया है, नाम कह्या है। फेरि पूछै हैं, जो, क्रमरूप अर अक्रमरूप प्रवर्तै हैं अनंत धर्म जा विषैं ऐसा आत्माकै ज्ञानमात्रपणा कैसा है? ताका समाधान—जो परस्पर व्यतिरिक्त कहिये न्यारा न्यारा स्वरूपकूं धारै जो अनंत धर्म तिनिका समुदायरूप परिणई जो एक ज्ञप्ति कहिये ज्ञानक्रिया तिसमात्र भावरूपकरि आपै आप स्वयमेव

होनेतैं आत्मा के ज्ञानमात्रपणा है। आत्माके जेते धर्म है तेते सर्वही परिणमनरूप हैं। यद्यपि तिनिके लक्षणभेदकरि भेद है, तथापि प्रदेशभेद नाही है। तातैं एक असाधारण ज्ञानकूं कहते सर्व यामें आय गये। याहीतैं इस आत्माका ज्ञानमात्र जो एक भाव ताकै अन्तः–पातिनीं कहिये याहीमें आय पडनेवाली अनंतशक्ति उदय होय है उघडें है।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु निर्भरोऽपि यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्तु वस्तु ॥७१॥

सं०टी०–यः भावः-पदार्थः, ज्ञानेत्यादिः ज्ञानमात्रस्वरूपता न जहाति न त्यजति। ननु क्रमाक्रमवृत्त्यानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वमिति चेदुच्यते–परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात् ज्ञानमात्रत्वं। कीदृशोऽपि? इत्यादीत्यादिः–गत्याद्याः–भिन्नाभिन्नत्वाद्याः, ताश्च ता अनेकनिजशक्तयस्तासु सतीषु, निर्भरोऽपि अतिशयं गतोऽपि ज्ञानमात्र एव। इह जगति,–तत्–चित् चेतना वस्तु द्रव्य, अस्ति-विद्यते कीदृशं? द्रव्यपर्ययमयं द्रव्यपर्यायात्मकं, एवं–पूर्वोक्तप्रकारेण क्रमेत्यादिः–क्रमः–कालकृतः,–अक्रमः–युगपत्, क्रमश्चाक्रमश्च क्रमाक्रमौ, ताभ्यां विवर्तिनः वर्तनशीलाः विवर्ताः-पर्यायाः, तैः चित्रं-चित्रतां नीतं यथा दीपः क्रमेण अक्रमेण तमोनाशपदार्थप्रकाशादिपर्यायात्मकः तैलशोषणवृत्तिमुखदाहको ज्वालोत्पादनादिपर्यायात्मकस्तथात्मादिः ॥ ७१ ॥ अथ स्याद्वादतः शुद्धिं दीव्यति—

अर्थ–इति कहिये ऐसे भिन्न अभिन्नत्वादि अनेक अपनी शक्तिनिकरि भले प्रकार भया है तौऊ जो भाव ज्ञानमात्रमयीपणाकूं नाही छोडै है सो चैतन्य आत्मा द्रव्यपर्यायमयी इस लोकमैं वस्तु है। कैसा है? क्रमरूप अक्रमरूप विशेष वर्तनेवाले जे विवर्त कहिये परिणमनके विकाररूप अवस्था तिनिकरि चित्र कहिये नानाप्रकार होय प्रवर्तै है।। भावार्थ–कोई जानेगा कि ज्ञानमात्र कह्या सो आत्मा एकस्वरूप ही है सो ऐसैं नाही है। वस्तुका स्वरूप द्रव्य-पर्यायमयी है, अर चैतन्य भी वस्तु है; सो अनंतशक्तिकरि भरया है। सो क्रमरूप अर अक्रम-रूप अनेक परिणामके विकारनिका समूहरूप अनेकाकार होय है। अर ज्ञान असाधारण भाव है। ताकूं नाही छोडै है। सर्व अवस्था परिणामपर्यायी हैं ते ज्ञानमय हैं ।।७१।। अब इस अनेक-स्वरूप वस्तूकूं जे जानैं है श्रद्धैं है, अनुभवैं हैं तिनिके वडाईके अर्थ कलशरूप काव्य कहै हैं–

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयंतः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयंतः ॥७२॥

सं० टी०—संतः–सत्पुरुषाः, ज्ञानीभवंति–संसारवर्ति अज्ञानं ज्ञानं भवंतीति ज्ञानीभवंति, किंकृत्वा? इति–पूर्वोक्तप्रकारेण, स्याद्वादशुद्धिं–अनेकांतशुद्धिं, अधिकां–विचारेत प्रकर्षप्राप्तां, अधिगम्य–ज्ञात्वा, निश्चित्य वा। कीदृशास्ते? स्वयमेव–स्वात्मना कृत्वा, वस्त्वित्यादिः–वस्तुनः तत्त्व–स्वरूपं–अनेकांतात्मकं वस्य व्यवस्थितिः—व्यवस्था, तां प्रविलोकयन्तः—ईक्षमाणाः, कया? नैकांतेत्यादिः—न एकांतो नैकांतः

स्याद्वादः, क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोप' तत्र सगता-सम्यक् प्राप्ता दृक् दृष्टि', तया, पुन. कीदृक्षा' ? जिननीतिं-सर्वज्ञप्रकाशितमार्गं, अलघयत:—अनुल्लघयत. ॥ ७२ ॥ अथास्योपायोपेयभाव. सभाव्यते—

अर्थ—वस्तु हैं सो स्वयमेव आपैं आप अनेकांतात्मक है ऐसैं वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थाकूं अनेकांत-विषैं संगत कहिये प्राप्तकरी जो दृष्टि ताकरि निलोकते देखते संतै सत्पुरुष हैं सो स्याद्वादकी अधिकशुद्धिकूं अंगीकार करिकैं अर ज्ञानी होय हैं। कैसे भये संते ? जिनेश्वर देवका स्याद्वाद-न्याय ताकूं नाही उल्लंघन करते हैं ॥ भावार्थ—जे सत्पुरुष अनेकांतकूं लगाई दृष्टिकरि ऐसे अनेकांतरूप वस्तुतत्त्वकी मर्यादाकूं देखते हैं, ते स्याद्वादकी शुद्धिकूं पायकरि ज्ञानी होय हैं। अर जिनदेवके स्याद्वादन्यायकूं नाही उल्लंघैं हैं। स्याद्वाद न्याय जैसैं वस्तु तैसैं कहै है। असत्कल्पना नाही करैं हैं ॥ ऐसैं स्याद्वादका अधिकार पूर्ण कीया ॥ ७२ ॥ अब ज्ञानमात्र भावके उपाय अर उपेय ए दोऊ भाव विचारिये है—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥ ७३ ॥

स० टी०—ये-साधव'-कथमपि-केनापि प्रकारेण, महता कष्टेन वा ज्ञानेत्यादि:-ज्ञानमात्र:-ज्ञानेन साकल्य., स चासौ निजभावश्च-स्वात्मपरिणाम, तेन निर्वृत्ता भूमिं-शुद्धोपयोगभूमिं, श्रयंति भजन्ते, कीदृशा ता ? अकपां-निश्चला, अपनीतमोहा. अपनीत.—निराकृत., मोहः रागद्वेषाज्ञानादिर्यैः ते योगिनः, साधकत्वं रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्व, अधिगम्य-आश्रित्य, सिद्धाः, उपेयाः-साध्याः, भवंति-जायन्ते, आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेयभावो विद्यत एव तस्यैकस्यापि स्वयसाधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। मूढाः-अज्ञानिनस्तु अमू अन्तर्लीनानेकातज्ञानमात्रैकभावरूपा भूमिं, अनुपलभ्य-अप्राप्य परिभ्रमति ससारापारभूमिमण्डलीमाक्रमन्ते ॥ ७३ ॥ अथ शुद्धोपयोगभूमिप्राप्त्युपाय लक्षयति—

अर्थ—जे भव्यपुरुष कोई प्रकारकरि कैसेही दूरी भया है मोह अज्ञान मिथ्यात्व जिनिका ऐसे हैं, ते ज्ञानमात्र निजभावमयी निश्चलभूमिकाकूं आश्रय करैं हैं। ते पुरुष साधकपणाकूं अंगीकारकरि सिद्ध होय हैं। बहुरि जे मूढ मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, ते इस भूमिकाकूं न पाय अर संसारमें भ्रमै हैं। भावार्थ—जे पुरुष गुरुके उपदेशतैं तथा स्वयमेव काललब्धीकूं पाय मिथ्यात्वसूं रहित होय है ते ज्ञानमात्र अपना स्वरूपकूं पाय साधक होय, सिद्ध होय है अर जे ज्ञानमात्र आत्माकूं नाही पावै हैं, ते संसारमें भ्रमै हैं ।७३। अब कहै हैं, जो वह भूमिका ऐसे पावै हैं -

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ७४ ॥

स०टी०—स एव एकः अद्वितीयो मुनिः इमा—प्रत्यक्षा, भूमि शुद्धोपयोगस्थानं, श्रयति—भजति, कीदृक्षः ? ज्ञानेत्यादिः—ज्ञान —स्वात्मज्ञानं, क्रियां—स्वात्माचरणलक्षणां चारित्र त्रयोदशप्रकारलक्षणं वा नयः—नयति—प्राप्नोति स्वात्मस्वरूपमिति नयः प्रमाणैकदेशो नैगमादि । दर्शन वा ज्ञान च क्रिया च नयश्च तेषां परस्परं अन्योन्य, तीव्रमैत्री—अत्यतसखित्वम् तया, अपात्र पात्र कृत इति पात्रीकृतः, स कः ? य.—योगो भावयति—ध्यानविषयीकरोति, कथ ? अहरहः—दिने दिने, तत्सामर्थ्यात्प्रतिक्षणं, कं ? स्वं—आत्मानं, क ? इह—आत्मनि, स्वस्वरूपे काभ्यां स्यादित्यादिः—स्याद्वादः श्रुतज्ञानं । तथा चोक्तं देवागमे—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाच्च वस्तु ह्यन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥

तत्र कौशल्य, निपुणता, सुनिश्चलः—सुष्ठु अक्षोभ्यः, स चासौ संयमः—चारित्रं च द्वन्द्वः ताभ्यां । कीदृक्षः सः ? उपयुक्तः—शुद्धोपयोगे सावधानः ॥ ७४ ॥ अथात्मोदयमावश्यति—

अर्थ—जो पुरुष स्याद्वादन्यायका प्रवीणपणा अर निश्चलव्रतसमितिगुप्तिरूप संयम इनि दोऊनिकरि अपने ज्ञानस्वरूप आत्माविषैं उपयोग लगावता संता आत्माकूं निरंतर भावै है, सोही पुरुष ज्ञाननय अर क्रियानयकरि इनि दोऊनिकेविषैं परस्पर भया जो तीव्र मैत्री भाव तिसका पात्ररूप भया इस निजभावमयी भूमिकाकूं पावै है ॥ भावार्थ—जो ज्ञाननयहीकूं ग्रहणकरि क्रियानयकूं छोडे है, सो प्रमादी स्वच्छन्द भया इस भूमिकूं न पावै हैं। बहुरि जो क्रिया नयकूं ग्रहणकरि ज्ञाननयकूं नाही जानै है सो भी शुभकर्ममैं संतुष्ट भया इस निष्कर्मभूमिकाकूं नाही पावै है। बहुरि ज्ञान पाय निश्चल संयमकूं अंगीकार करै हैं तिनके ज्ञाननयके अर क्रियानयके परस्पर अत्यंत मित्रता होय है ते इस भूमिकाकूं पावै हैं। इनि दोऊ नयनिका ग्रहणत्यागका रूप वा फल पंचास्तिकायग्रन्थके अन्तमैं कह्या है, तहांतै जानना ॥ अब कहै हैं, इस भूमिकाकूं पावै है सोही आत्माकूं पावै है—

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥७५॥

सं० टी०—तस्यैव मुनेः शुद्धोपयोगभूमिनतस्य न पुनरन्यस्य, अयं—आत्मा—चिद्रूपः, उदयति उदयं प्राप्नोति—साक्षाद्भवतीत्यर्थः, कीदृक्षः सः ? चिदित्यादिः—चित्पिंडः—ज्ञानपिंडः तस्य चंडिमा—प्रौढत्वं, तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः स एव हासः—झर्झरं यस्य सः अन्योऽप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः पुनः कीदृशः ? शुद्धेत्यादिः शुद्धः—कर्ममलकलङ्करहितः स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः तस्य भरः—समूहः स एव निर्भरप्रभातः—सातिशयप्रातःकालो यस्य सः अन्यस्याप्युदये प्रातः कालो भवति । पुनःकीदृशः, आनन्देत्यादि —आनन्दे—अकर्मशर्मणि सुस्थितं सुप्रतिष्ठं सदा नित्यं, अस्खलितैकरूप स्खलितरहितं एक अद्वितीय स्वरूपं यस्य स,अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः ॥ ७५ ॥ अथ स्वस्वभावविस्फुरणं काम्यति—

अर्थ—जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार भूमिकूं पावै है तिसही पुरुषके यह आत्मा उदय होय है। कैसा है आत्मा ? चैतन्यका जो पिंड ताका निरर्गलविलास करनेवाला जो विकास प्रफुल्लित

-होना तिसरूप है हास कहिये फूलना जाका, बहुरि कैसा है, शुद्धप्रकाशका भर कहिये समूह ताकरि भला प्रभातसारिखा उदयरूप है। बहुरि कैसा है? आनंदकरि भलै प्रकार तिष्ठया सदा नाही चिगता है एकरूप जाका ऐसा है बहुरि कैसा है? अचल है अर्चि कहिये ज्ञानरूप दीप्ति जाकी ॥ भावार्थ–इहां चित्पिंड इत्यादि विशेषणतै तौ अनंतदर्शनका प्रकट होना जनाया है। बहुरि कैसा है? अचल है शुद्धप्रकाश इत्यादि विशेषणतै अनंतज्ञानका प्रकट होना जनाया है। अरु आनंदसुस्थित इत्यादि विशेषणकरि अनंत सुखका प्रकट होना जनाया है। अर अचलार्चि इस विशेषणकरि अनंतवीर्यका प्रकट होना जनाया है। पूर्वोक्त भूमिके आश्रयतै ऐसा उदय हो है ॥७५॥ अब कहै हैं, ऐसाही आत्मस्वभाव हमारै प्रकट होऊ–

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु प्रभावः ७६

स० टी०—इति–हेतोः, अय–प्रसिद्ध, स्वभाव.–आत्मस्वरूप स्फुरतु–प्रकाश यातु, पर–केवल, कीदृशः सः? नित्योदयः नित्य सदा उदयो यस्य सः। इति किं? मयि शुद्धभावे आत्मनि उदिते उदयं प्राप्ते सति, अन्यभावैः–शुभाशुभोपयोगैः किं? न किमपि स्यात्। कीदृशैस्तैः? बंधेत्यादिः–कर्मणां बन्धश्च मोक्षश्च बंधमोक्षौ तयोः पंथाः—मार्गः, तत्र पातिभिः पतनशीलैः अयं बंधहेतुः, अयं मोक्षहेतुः, इत्यादीनां भावानां प्रयोजनाभावात्। कीदृशे तस्मिन्? स्यादित्यादिः–स्याद्वादः—श्रुत–भावश्रुतं, तेन दीपित, लसन्महः–उल्लसत्तेजः यस्य तस्मिन्, प्रकाशे स्वपरप्रकाशात्मके, पुनः शुद्धेत्यादिः–शुद्धस्वभावे महिमा–माहात्म्यं यस्य तस्मिन् ॥ ७६ ॥ अथ चिन्महो रोचते—

अर्थ–मोविषैं स्याद्वादकरि दीपित कहिये प्रकाशरूप भया है लहलाट करता तेजःपुञ्ज जामैं, बहुरि शुद्ध स्वभावकी है महिमा जामें ऐसा ज्ञानप्रकाश उदय होतैं बंधमोक्षके मार्गमें पटकनेवाले जे अन्यभाव तिनिकरि कहा साध्य है? मेरे तौ केवल अनन्तचतुष्टयरूप यह अपना स्वभाव सो निरंतर उदयरूप भया स्फुरायमान होउ ॥ भावार्थ–स्याद्वादकरि यथार्थ आत्मज्ञान भये पीछे याका फल पूर्ण आत्माका प्रगट होना है सो मोक्षका इच्छक पुरुष यह ही प्रार्थना करै है, जो मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा उदय होऊ। अन्यभाव बंधमोक्षमार्ग की कथारूप है, तिनिकरि कहा प्रयोजन है? अब कहै हैं, जो, नयकरि आत्मा साधिये हैं, परन्तु नयहीपरि दृष्टि रहै तौ नयनिके परस्पर विरोध भी है। तातै मैं नयनिकूं अविरोध करि आत्माकूं अनुभवूं हों।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेकमेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ ७७ ॥

सं० टी०—अयमात्मा—चिद्रूप, नय इत्यादिः—नयानां—द्रव्यपर्यायाणां ईक्षणं—अवलोकनं, तेन खण्ड्यमानः—भिद्यमानः, प्रणश्यति द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खण्ड्यते इत्यर्थः। कीदृक्? चित्रेत्यादि.—चित्राः—नानाप्रकाराः, ताश्च ता आत्मशक्तयश्च—जीवशक्तिचितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्ति प्रभुत्वशक्तिविभुत्वशक्तिसर्वदर्शित्वशक्तिसर्वज्ञत्वशक्तिस्वच्छत्वशक्तिप्रकाशशक्तिसंकुचितविकाशत्वशक्तिकार्यकारणशक्तिपरिणाम्यपरिणामिकत्वशक्तित्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पादव्ययध्रुवत्वपरिणाममूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्वनिष्क्रियत्वनियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्वसाधारणासाधारणधर्मत्वानंतधर्मत्वविरुद्धधर्मत्वतत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्वभावाभावाभावाभावभावभावाभावाभावभावक्रिया कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादानाधिकरणत्वसंबन्धादयः—शक्तयः, तासां समुदायेन निर्वृत्तः, अस्मात्कारणात्, अहं—चित् चेतना महः—धाम, अस्मि—भवामि कीदृशं महः? अखण्डं—न खण्ड्यते केनापीत्यखंड. अनिराकृत इत्यादि.—अनिराकृता—न दूरीकृता व्यवहारनयापेक्षया खण्डाः पर्याया यस्य तत् एकं—अद्वितीयं कर्म व्यतिरिक्तत्वात् एकांतशांत—एकांतेन अद्वितीयेन स्वभावेन शांतं—समारूढं पुनः अचलं स्वस्वभावत्वादविनश्वरत्वान्निश्चलं ॥ ७७ ॥ अथ ज्ञानमात्रत्वं संस्थाप्यते आत्मन—

अर्थ—यह आत्मा है सो चित्र कहिये अनेक प्रकार जे अपनी शक्ति तिनिकै समुदायमय है। सो नयनिकी दृष्टिकरि भेदरूप कीया हुवा तत्काल खंडखंडरूप होय नाशकूं प्राप्त होय है। तातैं मैं मेरा आत्माकूं ऐसैं अनुभवूं हों जो, मैं चैतन्यमात्र मह वस्तु हों सो कैसा हों? नाही निराकरण कीये हैं खंड जामैं तौऊ खंड—भेद रहित अखंड हों, एक हों बहुरि एकांतशांतरूप हों। जामैं कर्मका उदयका लेश नाहीं ऐसा शांतभावमय हों॥ अर अचल हों, कर्मका उदयका चलाया चलूं नाही हों॥ भावार्थ—आत्मामैं अनेकशक्ति है, अर एक एक शक्तीका ग्राहक एक एक नय है, सो नयनिकी एकांत दृष्टिकरिही देखिये तौ आत्माका खंड खंड होय नाश होय जाय। तातैं स्याद्वादी नयनिका विरोध मेटि चैतन्यमात्र वस्तु अनेकशक्तिसमूहरूप सामान्यविशेषस्वरूप सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करै है। ऐसा वस्तुका स्वरूप है तामैं विरोध नाहीं॥ अब अखंड आत्मा का ऐसा अनुभव करै सो कहै हैं जो ज्ञान तौ मैं हौं, ज्ञेय ज्ञेय है—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ ७८ ॥

सं० टी—योऽयं—प्रसिद्धः, ज्ञानमात्रः—ज्ञानस्य मात्रं—कार्त्स्न्यं यत्र स भावः—पदार्थः स एवाहं अस्मि भवामि, यः ज्ञेयज्ञानमात्रः ज्ञेयानां—पदार्थानां, ज्ञानमात्रः—तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्रः सोऽहं नैव ज्ञेयः ज्ञातव्यः, तर्हि कीदृगोऽहं? ज्ञेयेत्यादिः—ज्ञेयश्च ज्ञानं च तत्परिच्छेदकं ज्ञेयज्ञाने तयोः कल्लोलाः वीचयः, अर्थाद्विकल्पास्तेषु वल्गन्—चलनं कुर्वन् तद्ग्रहणं कुर्वन्नित्यर्थः तच्च तज्ज्ञानं च तदेव ज्ञेयं—परिच्छेद्यं, तस्य यो ज्ञातृमत्—ज्ञायकं—स्वपरपरिच्छेदकं तच्च तद्वस्तु च तदेव मात्रं—प्रमाणं यस्य सः ज्ञेयः—ज्ञातव्यः ॥ ७८ ॥ अथात्मनः प्रतिभासमेदं संपूरयति—

अर्थ—जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हौं सो ज्ञेयका ज्ञानमात्रही नाही जानना । तौ यह ज्ञानमात्रभाव कैसा जानना ? ज्ञेयनिके आकार जे ज्ञानके कल्लोल तिनिकूं विलगता ऐसा ज्ञान, सोही ज्ञान सो ही ज्ञेय सोही ज्ञाता ऐसें ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इनि तीन भावनिसहित वस्तुमात्र जानना भावार्थ—अनुभव करते ज्ञानमात्र अनुभवै । तब बाह्य ज्ञेय तौ न्यारेही ज्ञानमैं पैठे नाही बहुरि ज्ञेयनिके आकारही झलके ज्ञानमें है । सो ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप दीखे है, ए ज्ञानके कल्लोल हैं । सो ऐसा ज्ञानरूप भी ज्ञानका स्वरूप है । अर आपकरि आप जाननेयोग्य है तातै ज्ञेयरूपभी है ।। अर आपही आपकूं जाननेवाला हैं यातैं ज्ञाताभी है । ऐसे तीनूं भावस्वरूप ज्ञान एक है । याहीतैं सामान्यविशेषस्वरूप वस्तु कहिये तिसमात्रही ज्ञानमात्र कहिये ।। सो अनुभव करनेवाला ऐसैंही अनुभव करै, जो, ऐसा ज्ञानभाव यह मै हौं ।। अब कहै हैं, अनुभवकी दशामैं अनेकरूप दीखे हैं तौऊ यथार्थज्ञाता निर्मल ज्ञानकूं भूलै नाही है—

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्

श० टी०—ममात्मन. तत्त्वा–ज्ञानस्वरूप, क्वचित्–कस्मिन् क्षणे, बहि.–पदार्थग्रहणसमये, मेचकं चित्रस्वरूप पक्षांतरे रागद्वेषकलुषीकृत वा लसति–विलास करोति 'पचवर्णं भवेद्रत्न मेचकाख्यमिति–वचनात् तद्वत् ज्ञानमपि चित्राकार मेचक भण्यते । पुनः—भूयः, क्वचित् सहजशुद्धटकोत्कीर्णस्वरसस्वभावालबनसमये अमेचकं–बहिश्चित्राकाररहित रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा विलसति । कीदृश ? सहज–यदमेचकस्वरूपं तत्स्वरसज, एव–निश्चयेन, परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात् पुन. क्वचित्–स्वपरग्रहणोन्मुखसमये, मेचकामेचकं परस्वरूपग्रहणेन मेचक, स्वरूपग्रहणेन अमेचक प्रतिभासते तथापि मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासेऽपि, तत् आत्मतत्त्व कर्तृ, अमलमेधसा–निर्मलज्ञानिना, मनः चित्त, कर्मतापन्न न विमोहयति मोहं न प्रापयति, सहेतुविशेषणमाह परस्परेत्यादि—परस्पर—अन्योन्यं, सुसहता—सम्यग्मिलिता सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं, तेषां चक्रं समूहो यत्र तत्, पुनः स्फुरत्–देदीप्यमान ।। ७६ ।। अथैकत्वानेकत्वादिप्रतिभासन बाभायते—

अर्थ—अनुभवन करनेवाला कहै है—जो, मेरा आत्मतत्त्व है सो कहूं तौ मेचक लखै है अनेकाकार दीखै हैं । बहुरि कहूं अमेचक कहिये अनेकाकाररहित शुद्ध एकाकार दीखै है बहुरि कहूं मेचकामेचक कहिये दोऊ रूप दीखै है । तौऊ जे निर्मलबुद्धि हैं तिनिका मनकूं भ्रमरूप नाही करै है । जातै कैसा है ? परस्पर भलै प्रकार मिली जे प्रकट अनेक शक्ति तिनिका समूह स्वरूप स्फुरायमान होता है । भावार्थ—आत्मतत्त्व है सो तो अनेक शक्तीकूं लीये है । तातै कोई अवस्थामें तौ अनेक आकार कर्म उदयके निमित्तकरि अनुभवमें आवै हैं । बहुरि कोई अवस्थामें शुद्ध एकाकार अनुभवमें आवै है बहुरि कोई अवस्थामें शुद्धाशुद्धरूप अनुभवमे आवै है।

तौऊ यथार्थज्ञानी स्याद्वादके बलकरि भ्रमरूप न होय है। जैसा है तैसा मानै है ज्ञानमात्रसूं च्युत न होय है॥ अब कहै हैं, जो, अनेकरूपकूं धरता यह आत्माका अद्भुत आश्चर्यकारी विभव है—

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकतामितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजैरहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं ॥८०॥

सं० टी०—अहो-महाश्चर्ये, तदिद, आत्मनः-चिद्रूपस्य सहजं-स्वाभाविकं, वैभवं-माहात्म्यं, अद्भुतं आश्चर्यकारि, तत् किं ? यदिदं इतः-अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्, अनेकतां-ज्ञानदर्शनस्ववीर्याद्यनेकस्वरूपं गतं—प्राप्तं, अपि-पुनः, यत् इतः-अस्मात् संग्रहनयात्, सदापि-सर्वदापि, एकतां-आत्मद्रव्येणैकत्वं गतं-प्राप्तं। ननु यदनेक तदेकं कथं स्यात् अन्यथा घटपटादीनामनेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेन्न, नयार्पणादेकत्वानेकत्वघटनात् सदात्मना घटादीनामनेकत्वेऽपि एकत्वघटनाच्च अन्यथाऽभावप्रसंगात् यत् इतः-ऋजुसूत्रनयात् क्षणविभंगुरं-प्रतिक्षण विनश्वरं पुनः-यत्, इतः-द्रव्यार्थिकनयात्, सदैव-नित्यमेव,ध्रुवं-नित्यं, सदैवोदयात्-उत्पादाद्यभावे सदा प्रकाशमानत्वात्। ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योन्यं विरोधात् इति चेन्न नयविवक्षासद्भावात् मृद्द्रव्यवत् यथा मृद्द्रव्य मृत्पिंडाकारेण विनष्टं तद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वं च तथात्मद्रव्यस्यापि यत् पुनः इतः-द्रव्यार्पणात् पर केवलं, अविस्तृतं-विस्ताराभावविशिष्टं, इतः—पर्यायविवक्षातः, निजैः—आत्मीयैः प्रदेशैः असंख्यसंख्यावच्छिन्नैर्धृतं-भृतं, विस्तारिद्रव्यमित्यर्थः ॥ ८० ॥ अथात्मनः स्वभावो विजयते—

अर्थ—अहो बडा आश्चर्यकारी ! सो यह आत्माका स्वाभाविक अद्भुत विभव है जो इतः कहिये एक तरफ देखिये तौ अनेकताकूं धारता है, यह पर्यायदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ सदाही एकताकूं धारता है, यह द्रव्यदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ क्षणभंगुर है, यहभी क्रमभावी पर्यायदृष्टि है। बहुरि एक तरफ देखिये तौ ध्रुव दीखै है, यह सहभावी गुणदृष्टि है। जातैं सदा उदयरूप दीखै है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ परमविस्तारस्वरूप दीखै है यह ज्ञान अपेक्षा सर्वगतदृष्टि है। बहुरि एकतरफ देखिये तौ अपने प्रदेशनिकरि धारिये है, यह प्रदेशनिकी अपेक्षा दृष्टि है। ऐसा आश्चर्यरूप विभवकूं आत्मा धारै है॥ भावार्थ—यह द्रव्यपर्यायात्मक अनंतधर्मा वस्तूका स्वभाव है। सो जो पूर्वे अज्ञानी हैं, तिनिकै ज्ञानमें आश्चर्य उपजावै है। सो असंभवती वार्ता है। बहुरि ज्ञानिनिकै वस्तुस्वभावमें आश्चर्य नाही है। तौऊ अद्भुत परम आनंद ऐसा होय है, ऐसा कबहु पूर्वे न भया यह आश्चर्य भी उपजै है॥ फेरि इसही अर्थरूप काव्य है—

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।

जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥ ८१॥

सं० टी—विजयते—सर्वोत्कर्षेण वर्तते, कः ? स्वभावमहिमा—ज्ञानस्वरूपमाहात्म्य, कस्य ? आत्मनः चिद्रूपस्य, अद्भुतः-आश्चर्योद्रेककारी, कुतः ? अद्भुतात् आश्चर्यकारिजगत्पदार्थात् , तत्कथमित्याह. एकतः-एकस्मिन्नंशे, कषायकलि-रागद्वेषमोहकलहः स्खलति । एकतः-शुद्धनिश्चयनयावलंबनांशे, शांतिः परमसाम्य, अस्ति-विद्यते । एकतः-व्यवहारनयावलंबनांशे भवोपहतिः-भवस्य—द्रव्यादिपंचधासंसारस्य उपहतिः-प्राप्तिरस्ति, एकतः-शुद्धनयांशे, मुक्तिरपि—कर्ममलमोचनमपि स्पृशति-आश्रयति । आत्मान, एकतः-एकस्मिन्नंशे जगत्त्रय गच्छतीति जगंति गम्लृ गतौ, इत्यस्य धातो. द्युति. गमोर्द्वेचेति क्विप्प्रत्ययेनेति सिद्ध, जगतां त्रयं अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिक स्फुरति-चकास्ति, एकतः-एकांशे, चित्-ज्ञानं, चकास्ति द्योतते ॥ ८१ ॥ अथैकत्व तस्य जेगीयते—

अर्थ—आत्माका स्वभावका महिमा है सो अद्भुततैं अद्भुत विजयरूप प्रवर्तें है काहुकरि बाध्या न जाय है । कैसा है ? एकतरफ देखिये तौ कषायनिका कलेश दीखै है । बहुरि एकतरफ देखिये तौ कषायनिका उपशमरूप शांत भाव है । बहुरि एकतरफ देखिये तौ संसारसंबंधी पीडा दीखै है । बहुरि एकतरफ देखिये तौ संसारका अभावरूप मुक्ति भी स्पर्शै है । बहुरि एक तरफ देखिये तौ केवल एक चैतन्यमात्रही सोभै है । ऐसैं अद्भुततैं अद्भुत महिमा है ॥ भावार्थ—इहांभी पहले काव्यके भावार्थरूपही जानना । यह अन्यवादी सुणि बडा आश्चर्य करै हैं । तिनिकै चित्तमें विरुद्ध भासे, सो समाही सकै नाहीं । अर तिनिकै कदाचित् श्रद्धा आये तौ प्रथम अवस्थामें बडा अद्भुत दीखै, जो, हमने अनादिकाल यौंही खोया । यह जिनवचन बडे उपकारी है, वस्तुका स्वरूप यथाथ जनावै हैं । ऐसें आश्चयकरि श्रद्धान करै हैं ।८१। आगै टीकाकार इस सर्व विशुद्ध ज्ञानका अधिकार पूर्ण करै हैं ताके अंतमंगलकै अर्थी इस चिच्चमत्कारहीकूं सर्वोत्कृष्ट कहै हैं—

विशेष—संस्कृतटीकाकारने उपहतिका अर्थ प्राप्ति किया है । और भाषाटीकाकारने पीडा । यहां पीडा अर्थ उपयोगी जान पडता है ।

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकीस्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥८२॥

सं० टी०—एषः-प्रत्यक्षः चिच्चमत्कारः—चैतन्याश्चर्योद्रेकः, जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते कीदृक्षः ? सहजेत्यादि—सहजं-स्वाभाविकं तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः, तस्य, पुंजः-द्विकवारानंतशक्तिसमूहः तत्र मज्जंति मज्जनं कुर्वती, प्रतिभासमानेत्यर्थः सा चासौ त्रिलोकी च-त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी तया

स्खलंतः—चलंतः, अखिलविकल्पाः—तद्विषयरूपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः ईदृशोऽपि एक एव—अद्वितीय एव स्वरूपः—स्वस्य—आत्मनः रूपं—स्वरूपं यत्र सः, पुनः स्वेत्यादिः—स्वरसः—स्वभावः तस्य विसरः समूहः, तेन पूर्ण—संपूर्णं, तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखंडात्मतत्त्वं तस्योपलंभः—प्राप्तिर्यत्र सः, पुनः प्रसभेत्यादिः—प्रसभेन—बलात्कारेण, नियमितं—लोकालोकप्रकाशकत्वेन निश्चयीकृतं, अपरप्रकाश्यस्याभावादर्चिः तेजः, यस्य सः ॥ ८२ ॥ अथ कर्तृतागर्भितमात्मज्योतिर्जाज्वल्यते—

अर्थ—यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्कार है सो जयवंत प्रवर्तें है । काहूकरि वार्या न जाय ऐसैं सर्वोत्कृष्ट होय प्रवर्तें है कैसा है ? अपना स्वभावस्वरूप जो तेजः प्रकाशका पुञ्ज ताविषैं मग्न होते जे तीन लोकके पदार्थ तिनिकरि होते दीखते हैं अनेक विकल्प भेद जामैं ऐसा है तौऊ एकस्वरूप ही है । भावार्थ—केवलज्ञानमें सर्व पदार्थ झलकै हैं ते अनेक ज्ञेयाकाररूप दीखै हैं तौऊ चैतन्य रूप ज्ञानाकारकी दृष्टीमें एकही स्वरूप हैं । बहुरि कैसा है ? अपना निजरसकरि पूर्ण ऐसा नाही छिद्या है तत्त्वस्वरूपका पावना जाकै ॥ भावार्थ—प्रतिपक्षी कर्मका अभाव भया तातैं नाही पाया स्वभावका अभाव जाकै ऐसा है ॥ बहुरि कैसा है ? प्रसभ कहिये प्रकट बलात्कारि नियमरूप है दीप्ति जाकी । अपना अनंतवीर्य तौ निष्कंप तिष्ठै है ऐसा चिच्चमत्कार जयवंत है । यहां जयवंत कहनेमें सर्वोत्कर्षकरि वर्तना कह्या, जो यहही मंगल है ॥८२॥ आगैं टीकाकार अपना नामकूं प्रकट करते पूर्वोक्त आत्माहीकूं आशीर्वाद करै हैं—

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्मन्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहं ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंताज्ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावं ॥८३॥

सं० टी०—समंतात्—सामस्त्येन ज्वलतु द्योततां, किं ? एतत्—प्रसिद्धं, अमृतेत्यादिः—न म्रियते यत्र इत्यमृतं—मोक्षः, तदेव चन्द्रः चन्द्रयति—आह्लादयति इति चन्द्रः, तस्य ज्योतिः—ज्ञानतेजः इत्यर्थः अथवा अमृतचन्द्रसूरेर्वाग्ज्योतिः, कीदृक्षं मोक्षज्ञानं ? आत्मना ज्ञानेन कृत्वा आत्मनि—स्वस्वरूपे, आत्मानं—स्वस्वरूपं धारयत्, दधत् कीदृक्षे ? अविचलितेत्यादिः—अविचलितः—शाश्वतः, स चासौ चित्—चेतना च स एवात्मा—स्वरूपं यस्य तस्मिन् तद्वाग्ज्योतिरपि स्वस्वरूपे स्वरूपं धारयितुं क्षमं । कीदृक्षं पुनः ? आत्मनि अनवरतनिमग्नं—निरंतरं तदंतःपातितं पुनः ध्वस्तमोहं ध्वस्तः—विनष्टः मोहो यत्र यस्मात्प्राणिनां वा तत् उदितं—उदयं प्राप्तं वाग्ज्योतिरपि भव्यप्रतिबोधनायोदयं गतं । पुनः विमलपूर्णं विगतो मलोऽज्ञानादिरसत्यादिर्वा यस्मात्तत् पूर्णं ज्ञानादिगुणसंपूर्णं विविधार्थसंपूर्णं च विमलं च तत् पूर्णं च तत् । निरित्यादिः—निर्गताः सपत्नाः—कर्मवैरिणः—एकांतमतवादवैरिणश्च यस्मात्तत् तदेव स्वभावो यस्य तत् ॥ ८३ ॥ अथात्मकर्मणोर्द्वैतेऽपि ज्ञानोद्योतं नरीनृत्यते ।

अर्थ—यह अमृतचंद्रज्योति कहिये जामैं मरण नाही तथा जाकरि अन्यकैं मरण नाही सो अमृत, तथा अत्यंत स्वादरूप मिष्ट होय ताकूं लोक रूढिकरि अमृत कहै हैं । ऐसा अमृतमयी जो चंद्रमासारिखा ज्योति प्रकाशस्वरूप ज्ञान, प्रकाशरूप आत्मा, सो उदयकूं प्राप्त भया ।

सो यह समंतात् कहिये सर्व तरफ सर्वक्षेत्रकालमें, ज्वलतु कहिये दैदीप्यमान प्रकाशरूप रहो। कैसा है? अविचलित कहिये निश्चल जो चित् कहिये चेतना सो है स्वरूप जाका ऐसा जो अपना आत्मा, ताविषैं आपहीकरि आत्माकूं निरंतर मग्न हुवा धारता संता है, पाया स्वभाव कूं कबहूं नाही छोडता है। बहुरि कैसा है? ध्वस्त कहिये नाशकूं प्राप्त भया है मोह जाका अज्ञान अन्धकारकूं दूरि कीया है। बहुरि निस्सपत्न कहिये प्रतिपक्षी कर्मकरि रहित ऐसा है स्वभाव जाका। बहुरि कैसा? निर्मल है अर पूर्ण है॥ भावार्थ—इहां आत्माकूं अमृतचंद्रज्योति कह्या सो यह लुप्तोपमा अलंकारकरि कह्या जानना। जातैं, अमृतचन्द्रवत् ज्योति ऐसा समासविषैं वत् शब्दका लोप होय है तब अमृतचन्द्रज्योति कहिये। तथा वत् शब्द न करिये तब अमृतचन्द्ररूपज्योति ऐसा कहिये। तब भेदरूपक अलंकार है। तथा अमृतचन्द्रज्योति ऐसा ही आत्माका नाम कहिये तब अभेदरूप अलंकार हो है। अर याके विशेषण है तिनिकरि चन्द्रमातैं व्यतिरेक भी है। जातैं ध्वस्तमोह विशेषण तौ अज्ञान अन्धकार दूरि होना जणावे है। अर निर्मल पूर्ण विशेषण लांछनरहितपणा पूर्णपणा जणावै है। अर निःसपत्नस्वभाव विशेषण राहूबिंबतैं तथा बादला आदिकरि आच्छादित न होना जणावै है। समंतात् ज्वलन है जो सर्वक्षेत्र सर्वकालमें प्रकाश करना जणावे है। चन्द्रमा ऐसा नाही। बहुरि अमृतचन्द्र ऐसा टीकाकार अपना नामभी जणाया है बहुरि याका समास पलटिकरि अर्थ कीजिये तब अनेक अथ होय हैं सो यथासंभव जानने॥

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रांतरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ॥ ८४॥

सं० टी०—तत्-कर्म, विज्ञानघनौघमग्न-ज्ञाननिरंतरसमूहांतः पतितं सत् अधुना-इदानीं, ग्रन्थोक्तस्वार्थानुभावे जाते सति किंचित्-किमपि कर्म किलेति-निश्चित, न किंचित्-न किमप्यर्थक्रियाकारि अकिंचित्करत्वात् तत्किं? यस्मात्-कर्मणः पुरा-पूर्वं, द्वैतं-आत्माकर्मेति द्वैविध्यं जात, पुनः अत्र-जगति यतः-यस्मात्कर्मणः स्वपरयोः-आत्मकर्मणोः-सिद्धस्वात्मनोर्वा, अतरं—भेदः-भूतः-समुत्पन्नः, क सति? -रागेत्यादिः-रागद्वेषयोः परिग्रहे अंगीकारे जाते सति। पुनः यतः कर्मणः सकाशात् क्रियाकारकैः आत्मनः क्रियाः कर्मफलानुभवनरूपगमनागमनरूपाश्च कारकाणि—आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्वकरणत्वादीनि तैः जातं उत्पन्नं कर्मांतरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्, च-पुनः, यतः यस्मात्कर्मणः, अनुभूतिः-कर्मफलानुभवनं खिन्ना-खेदं गता, कीदृक्षा सा क्रियायाः-गमनागमनरूपाया जुहोतिपचतीत्यादिरूपायाश्च, अखिलं समस्तं फलं भुंजाना मया गत मयाऽऽगत मया हुत मया पक्वं ममेदं कृतमित्यादिरूपफलं भुंजाना॥ ८४॥

अथात्मगुप्तस्य स्वतत्त्वसंसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृतविशुद्धबुद्धचित्स्वरूपभूरेरमृतचन्द्रसूरेः कृतकृत्यत्वं कीर्त्यते—

अथ—यस्मात् कहिये जिस परसंयोगरूप बंधपर्याय जनित अज्ञानतैं प्रथम तो अपना अर परका द्वैतरूप एकभाव भया, बहुरि जिस द्वैतपणातैं अपने स्वरूपविषैं अंतर भया, बंधपर्यायहीकूं आपा जान्या, बहुरि तिस अंतर पडनेतै रागद्वेषका परिग्रह भया, तिसके होतैं क्रिया अर कर्ता कर्म आदि कारकनिकरि भेद पड्या, बहुरि तिस क्रिया कारकमें भेदकरि आत्माकी अनुभूति है, सो क्रियाका समस्तफलकूं भोगती संती खेदखिन्न भई सो ऐसा अज्ञान है, सो अब ज्ञान भया। तब तिस विज्ञानघनके समूहविषैं मग्न होय गया सो अब याकूं देखिये तो किछू भी नाहीं है। यह प्रगट अनुभवमें आवै है। भावार्थ—अज्ञान है सो परसंयोगतैं ज्ञानही अज्ञानरूप परिणया था। कछू दूजा तौ वस्तु था नाहीं। सो अब ज्ञानरूप परिणम्या तब किछूभी न रह्या। तब इस अज्ञानके निमित्ततैं राग, द्वेष, कर्ता, कर्म, सुख, दुःख आदि भाव होंय थे, ते भी विलाय गये। एक ज्ञान ही ज्ञान रहि गया। तीन कालवर्ती अपना परका सर्व भावनिकूं आत्मा ज्ञाता द्रष्टा हुआ देखबो करौ ॥८४॥ आगैं अमृतचंद्र आचार्य इस ग्रंथ करनेका अभिमानरूप कषायकूं दूर करता संता यथार्थ कहै हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥८५॥

सं० टी०—येन-अमृतचन्द्रसूरिणा इत्याध्याहार्यं इयं व्याख्या-व्याख्यानं, कृता-निर्मापिता, कस्य? समयस्य सं—सम्यग् अयति-गच्छति प्राप्नोति स्वगुणपर्यायानिति समयः-पदार्थः तस्य, कैः? शब्दैः-अर्थप्रकाशकशब्दैः, कीदृशैस्तैः? स्वेत्यादिः-स्वस्य शक्तिः-अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तया सं-सम्यक्, सूचितं प्रकाशितं, वस्तूनां-पदार्थानां तत्त्वं-स्वरूपं यैस्तैः, तस्य अमृतचन्द्रसूरेः-अमृतचन्द्राख्याचार्यस्य, किंचित् किमपि, कर्तव्यं—करणीयं, एव-निश्चयेन, नास्ति समस्तवस्तुकृत्येन पूर्णस्य कीदृक्षस्य तस्य? स्वरूपेत्यादि-स्वस्य शुद्धचिद्रूपस्य रूपं-स्वरूपं तत्र गुप्तस्य एकतां प्राप्तस्य ॥ ८५ ॥

इति श्रीमन्नाटकसमयसारस्थपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां नवमोऽङ्कः ॥९॥

अर्थ—यह समय कहिये आत्मवस्तु तथा समय कहिये समयप्राभृत नामा शास्त्र, ताकी व्याख्या तथा यह आत्मख्याति नाम टीका, सो शब्दनिकरि करी है। कैसे हैं शब्द? अपनी शक्तिहीकर संसूचित कहिये भलैप्रकार कह्या है वस्तूका तत्त्व कहिये यथार्थ स्वरूप जाकरि, अर मैं तो निज आत्मरूप अमूर्तिक ज्ञानमात्र, तिसविषैं गुप्त होय प्रवेशकरि रह्या हौं। भावार्थ—शब्द है सो तौ पुद्गल है सो पुरुषके निमित्ततैं वर्णपदवाक्यरूप परिणमै है सो इनिमें वस्तूका स्वरूपके कहनेकी शक्ति स्वयमेव है जातैं शब्दका अर अर्थ का वाच्यवाचक संबंध है; सो द्रव्यश्रुत की रचना

शब्दहीकै करना संभवै है। अर आत्मा है। सो अमूर्तिक है, अर ज्ञानस्वरूप है, तातैं मूर्तिक पुद्गलकी रचना कैसैं करै ? तातैं आचार्यनें ऐसा कह्या है,सो यह समयप्राभृतकी टीका शब्दनिकरि करी है। मैं मेरा स्वरूपमें लीन हौं। मेरा कर्तव्य यामैं नाहीं है। ऐसैं कहनेतैं उद्धतपणाका परिहार भी आवै है। अर निमित्तनैमित्तिकव्यवहारकरि ऐसा कहियेहीं,जो विवक्षितकार्य फलानें पुरुषनें किया इस न्यायकरि अमृतचंद्र आचार्यकृत यह टीका है ही। इसही न्यायकरि पढने सुननेवालेनिकूं तिनका उपकार भी मानना युक्त है। जातैं याकै पढने सुननेकरि परमार्थ आत्माका स्वरूप जान्या जाय है। तिसका श्रद्धान आचरण भये मिथ्याज्ञान श्रद्धान आचरण दूरि होय है। परंपरा मोक्षकी प्राप्ति होय है। याका निरंतर अभ्यास करना योग्य है।

इस प्रकार परमाध्यात्मतरंगिणीकी वचनिकाविषै नवमा अधिकार पूर्ण भया ॥९॥

भाषाटीकाकारका वक्तव्य।

कुन्दकुन्दमुनि कीयो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं।
सुधाचंद्रसूरि करी संस्कृतटीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य मन भावनूं ॥
देशकी वचनिकामें लिखी जयचन्द पढै संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूं पावनूं।
पढो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानंद दरसावनूं ॥

दोहा—समयसार अविकारका वर्णन कर्ण सुनंत ॥
द्रव्यभावनोकर्म तजि आतमतत्त्व लखंत ॥

ऐसैं समयसारप्राभृतनामा ग्रन्थकी आत्मख्याति नामा संस्कृतटीकाके पद्यनिकी देश भाषामय वचनिका लिखी है। सो यह ताका संक्षेप भावार्थरूपसा अर्थ लिख्या है। संस्कृतटीकामें न्यायतैं सिद्ध भये प्रयोग है। तिनिका विस्तार करिये तब अनुमानप्रमाणके प्रयोग प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमरूप हैं, तिनिका स्पष्टकरि व्याख्यान लिखिये तौ ग्रन्थ वहुत वधै। तथा आयु बुद्धि बल स्थिरता अल्प, तातैं जेता बण्या तेता संक्षेपकरि प्रयोजन मात्र लिख्या है। ताकूं वांचिकरि भव्यजीव पदार्थ समझियो। अर किछू अर्थमें हीनाधिक होय सो बुद्धिमान् मूलग्रन्थतै जैसैं होय,तैसैं समझियो, कालदोषतै इन ग्रन्थनिकी गुरुसम्प्रदायका व्युच्छेद होय गया है। तातैं जेता बणैं तेता अभ्यास होय है। जैनमत स्याद्वादरूप है, सो जे जिनमतकी आज्ञा मानै हैं तिनिकै विपरीत श्रद्धान न होय है। कहूं अर्थका अन्यथा समझना भी होय तौ विशेष बुद्धिमानका निमित्त मिलै यथार्थ होय है। जिनमतके श्रद्धानी हठग्राही नाहीं होय हैं ऐसैं जानना ॥ अंतमंगलके अर्थ परमेष्ठीकूं नमस्कारकरि ग्रन्थ समाप्त करिये हैं ॥

छप्पय—मंगल श्रीअरहंत घातियाकर्म निवारे। मंगल सिद्ध महंत कर्म आठूं परजारे।
आचारिज उवज्झाय मुनी मंगलमय सारे। दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे।
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अणगार हैं। मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मंगल हेतु करार हैं
जैपुरनगरमांहिं तेरापथशैली बडी बडे बडे गुनी जहां पढ़ै ग्रन्थ सार हैं।
जयचन्द्र नाम मैं हूं तिनिमैं अभ्यास किछू किया बुद्धिसारू धर्मरागतैं विचार है ॥
समयसारग्रंथ ताकी देशके वचनरूप भाषा करि पढो सुनो करो निरधार है।
आपापर भेद जानि, हेय त्यागि, उपादेय गहि शुद्ध आतमकूं यही बात सार है ॥ २ ॥
दोहा-संवत्सर विक्रम तणूं अष्टादश शत और। चौसठि कातिक वदि दशैं पूरण ग्रंथ सुठौर

संस्कृतटीकाकारकी प्रशस्ति।

जयतु जितविपक्षः पालिताशेषशिष्यो विदितनिजस्वतत्त्वश्चोद्भूतानेकसत्त्वः।
अमृतविधुयतीशः कुन्दकुन्दो गणेशः श्रुतसुजिनविवादः स्याद्विवादाधिवादः ॥ १ ॥
सम्यक्संसारवल्लीवलयविदलने मत्तमार्तंगमानी पापातापेभकुंभोद्गमनकराकुंठकंठीरवारिः (?)
त्रिद्धद्विद्याविनोदाकलितमतिरहो मोहतामस्य सार्या (?)
चिद्रूपोद्भासिचेता विदितशुभयतिज्ञानभूपस्तु भूयात् ॥
विजयकीर्तियतिर्जगतां गुरुर्विधृतधमधुरोद्धृतिधारकः।
जयतु शासनभासनभास्तमयमतिर्दलितापरवादिकः ॥
शिष्यस्तस्य विशिष्टशास्त्रविशदः संसारभीताशयो भावाभावविवेकवारिधितरस्स्याद्वादविद्यानिधिः
टीकां नाटकपद्यजां वरगुणाध्यात्मादिस्रोतस्विनीं श्रीमच्छ्रीशुभचंद्र एष विधिवत्संचकरीति स्म वै
त्रिभुवनवरकीर्त्तेर्जातरूपात्तमूर्त्तेः शमदमयममूर्तराग्रहान्नाटकस्य।
विशदविभववृत्तो वृत्तिमाविश्चकार गतनयशुभचन्द्रो ध्यानसिद्ध्यर्थमेव ॥ ५ ॥
विक्रमवरभूपालात्पंचत्रिशते त्रिसप्तति व्यधिके। वर्षेऽप्याश्विनमासे शुक्ले पक्षेऽथ पंचमीदिवसे।
रचितेयं वरटीका नाटकपद्यस्य पद्ययुक्तस्य। शुभचंद्रेण सुजयताद्विद्यासवलं न पद्मांकात् ॥७॥
......पातनिकाभिश्च भिन्नभिन्नाभिः। जीयादाचंद्रार्कस्वाध्यायान्मतरंगिणी टीका ॥८॥
इति कुमतद्रुममूलोन्मूलनमहानिर्झरणी श्रीमदध्यात्मतरंगिणी टीका समाप्ता।

॥ समाप्तश्चायं ग्रंथः ॥